मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र

(MONEY AND BANKING)

प्रोफेसर केदारनाथ प्रसाद

मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र
(MONEY AND BANKING)

मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र

[MONEY AND BANKING]

लेखक

केदारनाथ प्रसाद, एम० ए०,

["आधुनिक अर्थशास्त्र" (सैद्धान्तिक पक्ष), "नागरिकशास्त्र" (नागरिक और राज्य), व्यावसायिक संगठन, सार्वजनिक राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वैदेशिक विनिमय, आदि ग्रन्थों के रचयिता]

अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कॉलेज,

पटना विश्वविद्यालय

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

पटना और लहेरियासराय

समर्पण

विहार प्रादेशिक काँग्रेस कमिटी के भूतपूर्व अध्यक्ष
श्रद्धेय पं० श्री प्रजापति मिश्र जी के
कर-कमलों में सादर
समर्पित

भूमिका

प्रश्न (लेखक से)—क्या आप यह बतलाने का कष्ट कर सकते हैं कि आपने इस पुस्तक की रचना क्योंकर की ?

उत्तर (लेखक का)—इसका उत्तर स्पष्ट है। मैंने "आधुनिक अर्थशास्त्र" के ऊपर आज से तीन साल पहले जो पुस्तक लिखी वह दो भागों में प्रकाशित नहीं की जा सकती थी, क्योंकि उसका आकार-प्रकार बड़ा बृहत हो चुका था। इसलिए मैंने आधुनिक अर्थशास्त्र के विशुद्ध सिद्धान्तों को अपनी पहली पुस्तक—"आधुनिक अर्थशात्र" (सैद्धान्तिक पक्ष)—में प्रस्तुत किया और उसके प्रयुज्य पक्ष को चार खंडों में जिनमें से प्रत्येक खंड एक पृथक ग्रन्थ के रूप में भी आपके सामने रख गया है। इस तरह यह पुस्तक ("मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र") मेरी चौथी रचना है और आधुनिक अर्थशास्त्र (प्रयुज्य पक्ष) का द्वितीय खंड। आधुनिक अर्थशास्त्र के सभी पहलुओं के ऊपर आदमी समान पहुँच एवं पांडित्य के साथ नहीं लिख सकता है। लेकिन अर्थशास्त्र के अध्येता होने के नाते वह उन सभी की विशेषताओं से परिचित हो सकता है और उनका विश्लेषण कर सकता है। यह तो आपको ही विचारना है कि मेरी यह पुस्तक अपने विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने में कहाँ तक सफल हो सकी है।

हिन्दी में बहुत पहले आचार्य श्रीकेलाजी और आचार्य श्री दूबेजी ने अर्थ-शास्त्र के प्रयुज्य पक्ष पर अपनी ललित रचनाएँ की हैं। राजेन्द्र कॉलेज के प्रो० श्री हृषीकेश नारायणजी और भागलपुर मारवाड़ी कॉमर्स कॉलेज के प्रो० श्री राय चौधरी जी ने हिन्दी में इसी विषय पर अच्छा प्रयास किया है। आप इन व्यक्तियों की किताबों को भी देख लें और मेरी इस किताब पर भी विचार कर लें। मैं आपसे किसी बात का दावा नहीं करने जा रहा हूँ। लेकिन आप से आशा तो जरूर रखूँगा कि आप अपने निष्कर्ष से मुझे अवश्य अवगत करायेंगे। मैं पहले आपसे कह देना चाहता हूँ कि द्वितीय

संस्करण में मैं कुछ ऐसे नूतन पहलुओं का भी विवेचन करूँगा जो मैं कई वजहों से इस संस्करण में नहीं दे सका हूँ।

आप शायद नहीं जानते होंगे कि प्रो० मार्शल के "Principles" के प्रथम संस्करण में "प्रतिनिधि फर्म" के संबंध में एक पंक्ति भी लिखित नहीं मिलती है। लेकिन बाद के संस्करणों में हमें इसकी भी पूरी झलक मिलती है जिसको लक्ष्य करके प्रो० रॉबिन्स ने लिखा है—"यह अनोत्पन्नों के लोक से आया हुआ रुग्ण अतिथि की तरह है जो एक कोने में बैठा हुआ 'पार्टी' में आए हुए व्यक्तियों की नजर को खिंचने की उधेड़-बुन में है। लेकिन जैसा कि प्रेतों की गति है यह जल्दी मरता नहीं और यद्यपि अपने शान्त रहता है, तथापि वह कुछ ऐसी सन्तानों को पैदा करता है जो लोगों को तबाह करते रहते हैं"। उसी प्रकार संभव है कुछ अभिनव भावनाएँ इस विषय के चिन्तन के सिलसिले में उत्पन्न हो जायँ और जो बाद के संस्करणों में स्थान पा लें।

मुद्रागत तथा बैंकगत सिद्धान्तों पर प्रति वर्ष हमें अंगरेजी में लिखी नई-नई पुस्तकें पढ़ने को मिलती हैं। उनको लेकर इंगलैंड और अमेरिका, स्वेडन और आस्ट्रिया में प्रचुर अन्वेषण-कार्य भी हो रहे हैं। अर्थशास्त्रियों का ध्यान केवल नीति-विषय तथ्यों तक ही सीमित नहीं रह गया है। वे अधिकाधिक सांख्यिक तत्वों का भी चिन्तन एवं प्रकाशन कर रहे हैं। आज आपको कई ऐसे शिक्षक मिलेंगे जो क्राउथर की पुस्तक "An Outline of Money"—तथा शेयर्स की पुस्तक—"Modern Banking" की अपेक्षा हैंनसेन, हाम और चैन्डलर की पुस्तकों—Monetary Theories—को पढ़ने की राय देंगे। लार्ड केन्स ने डा० रॉबर्टसन की परम्परा को आगे बढ़ाकर मौद्रिक और बैंकगत सिद्धान्तों में अपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात किया। प्रो० फिशर के विनिमय—समीकरण की गर्दन टिप दी गई, प्रो० हॉट्रे द्वारा बैंक-दर की क्षमता का जो अतिरंजित वर्णन किया गया था उसको झकझोर दिया गया। स्वर्ण एवं रजत मुद्राओं की जगह अब पत्र-मुद्रा के नए-निराले रूपों का युग है। तथाकथित स्वर्ण-प्रमाप को कब्र में दफना दिया गया और प्रबन्धित पत्र-मुद्रा

प्रमाप को अपनाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप की समाधि पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि की प्रतिष्ठा हुई है। तब अधिकांश केन्द्रीय बैंक स्वतंत्र थे, अब वे सार्वजनिक संस्थाएँ बन गए हैं। तब बैंक-दर और खुले बाजार के कार्य-क्रम का जादू बोलता था, अब और नए और सबल साधन केन्द्रीय बैंक के तरकस में सशक्त बाणों के रूप में आ गए हैं। 'न्यूडील' के बाद 'मार्शलएड' आया और उसके बाद आया है 'फेयर डील'। एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक भी स्थापित हो चुका है। इन सबसे एक युगान्तर ही मुद्रा और बैंक के क्षेत्र में उपस्थित हो गया है। सरकारों की आर्थिक नीति मौद्रिक नीति के बहुत निकट चली आई है, दोनों का गंगा-यमुना संयोग हो गया है। ऐसी हालत में कुछ बोलने की तबीयत होती है, कुछ कहने को जो बेचैन हो जाता है। छात्रों के पास इतना समय नहीं और न इतना धैर्य ही है कि वे सभी विचारधाराओं का अध्ययन और मनन कर स्वाभाविक कुहेलिका से बचे रहें। "छव अर्थशास्त्री सात मत"—जब सुविख्यात् अर्थशास्त्रवेत्री बर्बरा ऊटन इतना घबड़ा उठती हैं और अर्थशास्त्र के लिए अफसोस करती हैं तब तो हमारे छात्रों की व्यग्रता बेमतलब की नहीं। लेकिन स्त्रियाँ बहुत जल्दी घबड़ा जाती हैं, पुरुष जरा देरी से। अतएव इसी व्यग्रता को कम करने का मैंने इस ग्रन्थ में प्रयास किया है और उसीके फलस्वरूप ही यह आपके सम्मुख है। विषयों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है, लेकिन जानकर ही अत्यधिक विस्तार नहीं किया गया है।

प्रश्न—यह तो ठीक है लेकिन आपकी दृष्टि में मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र का अर्थशास्त्र के व्यापक क्षेत्र में क्या और कितना महत्व है?

उत्तर—आपने तो एक अत्यन्त जटिल प्रश्न उठा दिया। खैर, अर्थशास्त्र की जान मुद्रा-शास्त्र और तदर्थ बैंक-शास्त्र में बसती है। आज दुनिया में जो हाहाकर मचा हुआ है, आर्थिक समस्याओं का जो घात-प्रतिघात चल रहा है वह मुद्रा को ही लेकर तो! मुद्रा का तात्विक अर्थ क्रय-शक्ति है। चाहे रॉबिन्सीअन्स जो कुछ कहें जिसके पास मुद्रा का पर्याप्त कोष है वही

सुखी हैं। मुद्रा का कोष जितना ही बड़ा होगा सुख की मात्रा उतनी ही बड़ी होगी। सुख यहाँ भौतिक सुख है। दुनिया में ऐसे विरल लोग हैं जो मुद्रा के अभाव का ख्याल नहीं करके अभौतिक सुख भोगते हैं। लेकिन समूचे समाज के लिए मुद्रा के कोष का आवश्यकता से अधिक या कम होना बुरा है। अगर अधिक हुआ तो अधिस्फीति से समाज संतप्त हो उठेगा और अगर कम हुआ तो अपस्फीति से वह उत्पीड़ित हो उठेगा। इसीलिए युग-युग से अर्थशास्त्रवेत्ता इस बात की खोज में लगे रहे हैं कि किस समाज में मुद्रा का कितना कोष रहना चाहिए। मुद्रा स्वत: उपयोगी नहीं। यह उसकी अप्रत्यक्ष उपयोगिता है जो हमारे बड़े काम की चोज है। अदमस्मीथ ने बहुत पहले [सन् १७७६ में] मुद्रा की उपमा राज-पथ से दी थी। राज-पथ से होकर कितने धन-धान्य, अन्न-बसन गुजरते हैं लेकिन राज-पथ स्वयं एक छोटी सी लतिका भी नहीं उपजा सकता। मुद्रा मनुष्य का एक आश्यर्यजनक अनुसंधान है, लेकिन वह मनुष्य की नादानी को समझदारी में रूपान्तरित नहीं कर सकती। जब तक मनुष्य उसे दास के रूप अपने वश में रखता है तब तक सब कुछ ठीक रहता है, परन्तु जभी वह उसे अपनी मलकिनी बन जाने का मौका देता है तभी अनेकानेक सामाजिक कलह और द्वेष, विग्रह और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। आज प्रत्येक सजग देश के सामने सवाल है— वितरण (क्रय-शक्ति के या प्रत्यक्ष वस्तुओं और सेवाओं की) की पद्धति को न्याय-सम्मत बनाना। मानवता का सच्चा कल्याण तभी हो सकता है। योजनाकरण करते समय मुद्रा का भी योजनाकरण करना एक प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है। हमने प्रथम अध्याय में ही इस विषय के ऊपर थोड़ा प्रकाश डाला है। "जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित है अति सुख से"। यह 'अति' मुद्रा-क्रय-शक्ति के वितरण की आत्यंतिक विषमताओं की ओर इंगित करती है।

मुद्रा की सृष्टि तो अब बैंक करते हैं। इसलिए बैंक आज किसी देश की सर्व प्रधान संस्थाएँ हैं। बैंकिङ्ग प्रणाली देश की नाड़ी है। केन्द्रीय बैंक और राज्य के बीच आज हम वैसा ही संबंध पा रहे हैं जो मध्ययुग में

चर्च और राज्य के मध्य था। और यह जो संबंध है, यह जो प्रवृत्ति है, वह अच्छी है, परन्तु बुरी भी हो जा सकती है। लेकिन संतोष का विषय है कि जनमत के कान बराबर खड़े रहते हैं और इससे हिम्मत बँधती है कि अतीत में ऐसे संबंध से जो अनाचार हुए थे वे पुनः घटित नहीं होने पायेंगे। बैंकिङ्ग प्रणाली नात्सी और फासिस्ट सरकारों के हाथ में पड़कर या तो बंदूकों की अधिकाधिक सृष्टि में सहयोग देगी या गुलाबों वा कमलों की उत्तरोत्तर वृद्धि में एक सफल शास्त्र का काम देगी, प्रजातंत्रात्मक देशों में वह मक्खन या गेहूँ की अधिक उत्पत्ति में मदद पहुँचाएगी। सरकार रूपी 'अर्जुन' को कालदेव ने केन्द्रीय बैंक रूपी 'गांडीव' प्रदान किया है। उससे पाप और अत्याचार का अन्त हो, लेकिन 'महाभारत' न होने पावे, यही शुभ-कामना है। इस पुस्तक में वाणिज्य-बैंकों और केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की समस्या के ऊपर पृथक-पृथक विशद वर्णन किया गया है।

प्रश्न—पुस्तक में आये पारिभाषिक शब्दों के बारे में आपकी क्या सम्मति है?

उत्तर—मैंने हिन्दी में दिए पारिभाषिक शब्दों के साथ यथासंभव अंग्रेजी पर्यायों को भी दे दिया है, जिससे इस ग्रन्थ को पढ़ने में कोई कठिनाई न हो। लेकिन इस पुस्तक को लिखते समय कुछ कठिनाई हुई है। अंग्रेजी के कुछ ऐसे शब्द-समूह चल पड़े हैं, जिनके पूर्णरूपेण उपयुक्त हिन्दी पर्याय देना बड़ा कठिन है। कुछ ही को लीजिये—Inflationary Gap, Fundamental Disequilibrium, Consumers' (or Time) Horizon, Price (or wage) Potentials. Gollopping Inflation, Grim Backism, आदि। Infla tion को कुछ लोग मुद्रा-स्फीति कहते हैं, कुछ मुद्रा-प्रसारण, कुछ अधि-स्फीति। Deflation को कुछ लोग मुद्रा-संकोचन कहते हैं, कुछ अपस्फीति, Budget को हिन्दी में आय-व्यय पत्रक कहते हैं और क्रोड़पत्र भी। Cir-culation के लिए चलन या भ्रमण को रख सकते हैं। To Hold का अर्थ अवधारण या संचय हो सकता है। Over-valuation की जगह अधिमूल्यन। Undearvaluation की जगह अवमूल्यन, Oveadraft

के बदले अधिविकर्ष और Reflation के बदले संस्फीति, Quotas के लिए अभ्यंश, Arbitrage के स्थान में अंतरपणन, Forward के लिए अग्र, तथा Stability के लिए स्थिरता या दृढ़ता, Security के लिए पूँजीपत्र, सुरक्षित पत्र या प्रतिभूति का प्रयोग होता है और हुआ है। Window-Dressing के बदले कुछ लोग अभिविन्यसन और Weighting के लिए गुरूकरण रखते हैं लेकिन मुझे ये शब्द ठीक नहीं जचते। लेखक की इन कठिनाइयों के रहते हुए भी मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक पढ़ने और समझने में आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। कई स्थलों में अँग्रेजी के उद्धरण रख दिए गये हैं। उन्हें विद्यार्थी अपने उत्तरों में उद्धृत कर सकते हैं और उनसे परीक्षाओं के लिए तैयारी करने में सुविधा होगी, यह मेरा अपना मत है।

प्रश्न—पुस्तक के अध्ययन में क्या किसी बात को ध्यान में रखना होगा ?

उत्तर—हाँ, एक बात ऐसी है जिसको ध्यान में रखना होगा। पुस्तक दो भागों में बँटी है। पहले भाग में मुद्रा-शास्त्र का दस अध्यायों में वर्णन हुआ है। दूसरे भाग में बैंक शास्त्र का ग्यारह अध्यायों में जिक्र हुआ है। मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) के जो परिष्करण अपने-अपने ढंग से लार्ड केन्स और कैम्ब्रीज स्कूल ने किये हैं उन्हें विंशति अध्याय में दिया गया है। उस अध्यायको छात्रगण पंचम अध्याय के बाद पढ़ें तो अच्छा हो। उसे अंत में इसलिये रक्खा गया है कि बी० ए० पास कोर्स के विद्यार्थियों के लिए वह उतना आवश्यक नहीं है जितना ऑनर्स कोर्स के विद्यार्थियों के लिए। इस बात का ख्याल करके कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक के अध्यायों का क्रमशः अध्ययन कर सकता है। अन्त में उपयोगी पुस्तकों की एक सूची दे दी गई है। यदि पाठकों की अभिरूचि इस विषय में हो या बढ़ जाय तो वे उनका भी अध्ययन समय मिलने पर करें तो इस पुस्तक से विशेष फायदा वे उठा सकते हैं। छपाई में जो थोड़ी भूलें रह गई हैं वे मामूली हैं और विश्वास है, पाठक उनका ख्याल नहीं करेंगे।

अन्त में आपके बिना प्रश्न किये ही मैं कहना चाहूँगा कि इस पुस्तक की छपाई स्थानीय भारत-भूषण प्रेस ने बड़ी ही मुस्तैदी के साथ की है। इसके लिए मैं श्री परमानन्द राय जी, एम० ए० को धन्यवाद देना चाहता हूँ। पुस्तक-भंडार के श्री यमुना प्रसाद गुप्त ने भी शुरू में काफी उत्साह दिखाया जिससे इस पुस्तक को जल्दी से बाजार में लाने में सुविधा हुई। इसके लिए वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। इधर बीच में जब मैं और मेरा अनुज (श्री तारकेश्वर नाथ गुप्त) बीमार पड़ गया था तब पुस्तक-भंडार के श्री रामनन्दन सिंह जी ने बड़ी परेशानी उठाई। तदर्थ मैं उनसे बहुत उपकृत हुआ हूँ। कवर पर कलाकार श्री सूर्य (पुस्तक-भंडार) ने सुन्दर चित्र बनाया है।

यह पुस्तक श्रद्धेय पंडित श्री प्रजापति मिश्र जी (चम्पारण के वयोवृद्ध नेता) को समर्पित है। मेरे जीवन में कुछ ऐसे क्षण कभी आये थे जिन्हें आदरणीय मिश्र जी ने अपने स्नेह से मेरे लिए चिरस्मरणीय बना दिया है। तपस्या और त्याग, सादा जीवन एवं उच्च विचार से ओत-प्रोत उनका जीवन आदर्शमय है। मुझे विश्वास है मिश्र जी एक "चम्पारणी" अध्यापक की यह छोटी भेंट स्वीकार करेंगे। जय हिन्द,

ग्राम—गहिरी—
डाकघर—विक्टोरिया मिशन
(चम्पारण)
अगस्त का महत्वपूर्ण महीना [१९५१]

विनीत लेखक
केदारनाथ प्रसाद,
अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय।

विषय-सूची

प्रथम भाग

मुद्रा-शास्त्र

(MONEY)

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ट अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

द्वितीय भाग

बैंक-शास्त्र

(BANKING)

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

त्रयोदश अध्याय

चतुर्दश अध्याय

प्रथम भाग
(*PART ONE*)

मुद्रा-शास्त्र
(MONEY)

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय

मुद्रा
(Money)

भूमिका

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था का विश्व श्रम-विभाग के विधान पर आश्रित है। अटल किसानों को छोड़कर शायद ही कोई भी व्यक्ति स्वयं अपनी जिन्दगी की कुल जरूरी चीजों का उत्पादन करता है। उत्पादनकर्त्ता भी अपनी उत्पादित वस्तुओं को अन्यान्य वस्तुओं के बदले बेचता है। इस प्रकार वस्तु-विनियम का एक ताँता बँधा हुआ है। अब यह प्रश्न उठता है कि वस्तु-विनिमय की विभिन्न कड़ियों की कोई बिचली लड़ी है कि नहीं जो उन्हें परस्पर सम्बद्ध करती है? हमारे जानते तो मुद्रा (money) ही वह मध्यस्थ लड़ी है जो अगणित कार्यों को सम्पन्न करती है और साथ ही साथ आधुनिक विशाल समाज का परिपोषण भी पूरा करती है। गत अध्यायों में हमने मुद्रा की स्थिति को यों ही मान लिया है और कई बार लिखा है कि मुद्रा के शब्दों में जब किसी चीज के मूल्य को प्रकट करते हैं, तब वह प्रकटीकरण ही दाम होता है। अब हमें यह जानना है कि मुद्रा क्या वस्तु है?

मुद्रा की परिभाषा
(Definition of Money)

परिभाषा करना चित्त को ऊबानेवाला है। आखिर परिभाषा है ही क्या चीज? परिभाषा वह चीज है जिससे जिस वस्तु की परिभाषा

की जाती है, उसकी रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है, जिसके उच्चारण करने से उस वस्तु का एक मानसिक चित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। मुद्रा के बारे में हमारी कठिनाई यहाँ है कि उसकी कोई ऐसी ठोस परिभाषा नहीं जो उसे हमारे सामने एक मानस-चित्र प्रस्तुत कर दे। शब्दकोष में मुद्रा की परिभाषा यों की गई है, "कोई भी वस्तु जिसका विनिमय के साधक या मूल्य के प्रकाशक या मापक जैसा प्रयोग किया जाय उसे मुद्रा कहते हैं।" यद्यपि यह परिभाषा संकुचित और अर्द्ध प्रकाशक हैं तथापि मन को सहारा देने के लिये यह यथेष्ट है। कुछ लोग यही कहते हैं कि मुद्रा वही है जो उसका कार्य है (money is what money does)। कोई भी चीज जो मुद्रा का काम करती है, मुद्रा कही जा सकती है। यह व्यापक परिभाषा है। इसे अपनाने से विनिमय के सभी साधक सोना, चाँदी, ताँबा, पत्र-मुद्रा, चेक, हुँडियाँ मुद्रा के नाम से सुशोभित होंगी। इस तरह जिस चीज की सामान्य स्वीकृति हो जो दैनिक कर्मों में व्यवहृत हो, उसे मुद्रा कहते हैं। अतएव यहाँ भी हम यह प्रश्न पूछते है कि "मुद्रा क्या काम करती है" ?

मुद्रा की व्यापक और संकुचित दो तरहों की परिभाषा होती है। व्यापक अर्थ में इससे उस वस्तु का बोध होता है जो कतिपय कार्यों को सम्पन्न करने में व्यवहृत होती है और जिसे ऋण को लेने-देने में निःशंक ग्रहण किया जाता है। इस तरह मुद्रा के जितने रूप हमारे सामने आज विद्यमान हैं, वे सभी "मुद्रा" के नाम से पुकारे जा सकते हैं। संकुचित अर्थ में मुद्रा में वे ही चीजें आती हैं जो ऋणदाता द्वारा स्वीकार किये जाते हैं और उनमें सिक्काएँ, तथा कोष-प्रवेश-पत्र-मुद्राएँ सन्निहित हैं। बैंक का चेक प्रत्येक व्यक्ति नहीं स्वीकार कर सकता और इसलिये चेक को मुद्रा नहीं कह सकते; क्योंकि उसकी सामान्य स्वीकृति नहीं। भारतवर्ष में मुद्रा से धातविक मुद्रा, स्वर्ण, रजत, ताँबा और निकेल के सिक्का और सरकार द्वारा चलाये नोटों का भाव समझा जाता है।

मुद्रा की परिभाषा को जानने के लिये उसके कार्यों की तालिका जान लेना जरूरी है। मुद्रा द्वारा चार कार्य सम्पन्न किये जाते हैं—(१) वह विनिमय का साधक है (२) वह मूल्य का मापक है (३) वह मूल्य धारक है तथा (४) वह चिरकालीन व्यवहार का साधक होती है। इन कार्यों में से विनिमय साधक का कार्य सर्वोत्तम और सबसे अधिक जरूरी है। अतः मुद्रा होने के लिये किसी चीज को इन सभी कार्यों को पूरा करने के लायक होना चाहिये। इस दृष्टि से "मुद्रा" की हम जो परिभाषा करते हैं, वह यह है कि "कोई भी चीज" जो विनिमय के साधक के रूप में "सामान्यतः गृहीत" होती है और जो साथ ही साथ मूल्य के मापक तथा धारक का काम भी पूरा करती है उसे मुद्रा कह सकते हैं। इस परिभाषा में "कोई भी चीज" तथा "सामान्यतः गृहीत" ये दो पद-समूह अर्थगर्भित हैं। मुद्रा होने के लिये किसी भी चीज को सभी लोगों के द्वारा गृहीत होना चाहिये। बहुत-सी चीजें खास-खास काम के लिये प्रयुक्त होती हैं; परन्तु उन्हें मुद्रा नहीं कह सकते, क्योंकि वे किसी भी चीज का दाम चुकाने के लिये अपनाई नहीं जातीं। कुछ विधान-प्रिय लोगों ने उन्हीं चीजों तक मुद्रा की परिभाषा को परिमित रखा है जो विधान द्वारा मुद्रा मानी जाती हैं। पर यह मानना जरा कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये बैंक की धरोहरों (Bank Deposits) का उपयोग तथा प्रभाव बैंक के नोटों-सा होता है। फिर आम जनता की दृष्टि में ऋणों की लेन-देन में साधारणतः व्यवहृत चीज मुद्रा कही ही जायगी; भले ही कानूनी व्यक्ति—वकील आदि—उसे ऐसा न मानें। यदि उपरोक्त दो चीजों में हमें कोई अंतर दिखाई पड़ता है तो वह यही है कि विधान-स्वीकृत बैंक-नोट को करेंसी या मुद्रा कह सकते हैं। इसके विपरीत विधान स्वीकृत बैंक कीधरोहर को हम बैंकवाली मुद्रा कह सकते हैं। फिर भी दोनों ही स्वीकृत द्रव्य या मुद्राएँ हैं।

अतः सबसे जरूरी बात किसी चीज का सामान्यतः स्वीकृत होना है। मुद्रा स्वयं मूल्यवती नहीं है। वह अपने कृत कार्यों के

कारण मूल्यवान है। इसे सापेक्षतः कम होना चाहिये। यदि मुद्रा काफी तायदाद में मिल सकती है तो वह अपनी परिभाषा से च्युत हो जायगी। तुच्छ से तुच्छ पदार्थ भी मुद्रा बन सकता है यदि उसमें सापेक्षिकता का धर्म है और यदि वह अपेक्षित कार्यों को सम्पादित कर सकता है।

वस्तु-विनिमय की प्रणाली की कठिनाइयाँ

(Inconveniences of Barter Economy)

मुद्रा के प्रयोग की आवश्यकता क्योंकर उत्पन्न हुई इसको जानने के लिये उस प्रणाली का पूर्वज्ञान जरूरी है, जिसमें मुद्रा का अस्तित्व था ही नहीं। उस समय वस्तु-विनिमय वाली प्रणाली फैली हुई थी। इसमें एक चीज दूसरी चीज के बदले में दी या ली जाती थी। चीजों का आपसी विनिमय होता था। इस तरह की प्रणाली के कारण बहुत-सी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती थीं, वे निम्न-लिखित हैं।

(१) इच्छाओं के द्वैध संयोग का अभाव

(Lack of coincidence of wants)

क्रेता और विक्रेता का संयोग कठिन होता था। इस प्रणाली में यदि किसी आदमी के पास एक चीज थी और वह दूसरी चीज को चाहता था, तब वह अपनी चीज को उस दूसरे आदमी को देकर, जिसके पास वह चीज है, जिसे वह चाहता है, ले लेगा क्योंकि वह दूसरा आदमी भी उसकी चीज को चाहता है। पर ऐसा आदमी प्रत्येक दशा में मिल जाय ऐसा नहीं कहा जा सकता। मान लीजिये राम को अनाज है और वह वस्त्र चाहता है। श्याम को वस्त्र तो है किंतु उसे अनाज नहीं चाहिये। मोहनको अनाजतो चाहिये परंतु उसके पास वस्त्र नहीं। छोटे से समाजमें इसतरहकी कठिनाइयोंको दूरकिया जा सकता है। परन्तु वाणिज्य के विकास, श्रम-विभाजन की प्रगति,

व्यापार में शामिल होने वाली चीजों की संख्या में क्रमिक वृद्धि, आदि वजहों से "वार्टर" का काम अधिक ही अधिक कठिन होता जाता है। मुद्रा इस कठिनाई को दूर करती है। लेखा की इकाई विनिमय का साधक भी बन जाती है। अनाज को वस्त्र के बदले नहीं आदान-प्रदान करते, बल्कि अनाज को रुपये के बदले बेच देते हैं और मिले रुपये से मनरचाहा वस्त्र खरीदते हैं। प्रत्येक विनिमय में माध्यम का काम मुद्रा ही करती है। वह दलाल बन जाती है। वार्टर के बाद सबसे पहला दलाल मुद्रा ही है।

(२) सहविभाजन के साधन का अभाव

(Lack of Divisibility)

मान लीजिये दो आदमी ऐसे मिल भी गये जो अपनी चीजों को आपस में अदल-बदल सकते हैं, फिर भी चीजें ऐसी भी हो सकती हैं जो समान मूल्य की नहीं होंगी। इस हालत में एक चीज का कितना भाग दूसरी चीज के कितने भाग के बराबर होगा, नहीं कहा जा सकता। मान लीजिये राम के पास दस मन धान है और श्याम के पास एक गौ-वत्स। श्याम के गौ-वत्स के दाम के बराबर धान चाहिये, वह किस प्रकार अपनी इच्छा पूरा करे ? वह गौ-वत्स का समखंडन किस प्रकार करे ? वार्टर की यही एक और कठिनाई है।

(३) मूल्यमापक का अभाव

(Lack of standard of measurement)

वार्टर में इस प्रकार का अभाव बहुत ही खटकता है। यदि दो-चार चीजें हों तो उनका परस्पर मूल्य निश्चित किया जा सकता है। बहुत दिनों के अनुभव के कारण एक गाय का मूल्य १० मन धान के बराबर हो सकता है। आधुनिकसमाज में इतनी अधिक चीजों की अदला-बदली होती है कि उनके वाणिज्य-संबंधी प्रश्नों को हल करना मुश्किल है। असंख्य विनिमयगत अनुपातों के बीच कोई

उभयनिष्ठता मापक नहीं है। उभयनिष्ठता मापक का होना बहुत ही जरूरी है। इसके अभाव से आवश्यकता की तीव्रता पर ही मूल्य निर्धारित होगा अर्थात् एक ही चीज का दाम कभी अधिक कभी कम हो सकता है और उसके बदले में जो चीज दी जाती है उसका दाम उसीके अनुसार कभी कम और कभी अधिक होगा। पूर्ति तथा माँग केबीच संतोष-जनक संतुलन नहीं हो सकता। क्रेता तथा विक्रेता में कोईघाटे में, कोई नफा में रहेगा। कहना नहीं होगा कि मुद्रा ही इस प्रकार के अभाव का निराकरण करके विनिमय के मार्ग को सुगम और निरापद बनाती है।

मुद्रा के कार्य

(Functions of Money)

इसके अलावे वार्टर में मूल्यधारक का भी अभाव था क्योंकि मूल्य धारक के साधन नाशवान थे। परन्तु मुद्रा चिरकाल तक सुरक्षित रह सकती है। फलतः मुद्रा से वार्टर की यह कठिनाई भी दूर हुई है।

मुद्रा के संबंध में निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत किया जा सकता है।

मुद्रा वस्तु है जो चार कर्मों का अटल संवाहक।
माध्यम है यह, मापक भी, साधक है और है बड़ा धारक॥

अर्थात् मुद्रा चार कार्यों को सम्पन्न करती है। यह विनियम का माध्यम है अर्थात् इसके द्वारा लोग आसानी से चीजों का आदान-प्रदान करते है। यह चीजों के मूल्य का मापक है अर्थात् मुद्रा की अददों में हम चीजों की कीमतें अलग-अलग बता सकते हैं। मुद्रा चिरकालीन व्यवहार की भी साधिका है। अन्ततः मुद्रा चीजों के मूल्य का धारक इस अर्थ में है कि हम मुद्राओं में चीजों को चिरकाल तक संरक्षित रख सकते हैं।

विनिमय का माध्यम
(Medium of Exchange)

मुद्रा के द्वारा किसी चीज का दाम चुकाते और मूल्यांकन करते हैं। यह विनिमय का स्पष्ट माध्यम है। इसके अस्तित्व के कारण चीजों से चीजें नहीं बदली जातीं। चीज मुद्रा के बदले बेची या खरीदी जाती हैं। मुद्रा के बिना विनिमय बार्टर के द्वारा होता है। मुद्रा के साम्राज्य में "इच्छाओं के द्वैत संयोग" का अभाव मिट जाता है। एक कहानी कही जाती है कि कोई अफ्रिका का यात्री एक नाव खरीदना चाहता था। नाववाला नाव देना चाहता तो था परन्तु वह उसके बदले में हस्ति-दन्त चाहता था। या के पास हस्ति-दन्त नहीं था। इसलिए उसने ऐसे आदमी को खोजा जिसके पास हस्ति-दन्त था, परंतु जो वस्त्र चाहता था। यात्री के पास तो कोई वस्त्र नहीं था। संयोग से उसके पास हार था। उसने एक तीसरे आदमी को खोजा, जिसने हार के बदले वस्त्र दिया। अब उसने वस्त्र के बदले हस्ति-दन्त लिया और हस्ति-दन्त देकर अन्ततः नाव। इस कहानी का मतलब यह है कि बार्टर की हालत में व्यापार संकुचित रहता है, लोग अधिकतर बाजारवाले मूल्यों को नहीं स्वीकार करते, विनिमय में बहुत समय लग जाता है। मुद्रा के आविष्कार होने से ये कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। अब किसी चीज का उत्पादक मुद्रा के बदले में अपनी चीजें बेचता है और मिले रुपये से मनचाही चीजें मोल लेता है। इस तरह वह सर्वाधिक संतोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह सम-सीमान्त उपयोगितावाले नियम का अमल कर सकता है। इस तरह उत्पादक को भी लाभ पहुँचता है और भोक्ता को भी। मुद्रा के कारण प्रत्येक व्यक्ति की क्रय-शक्ति का सामान्यीकरण होता है। वह मुद्रा के द्वारा जो वस्तु चाहे खरीद सकता है। इस तरह मुद्रा जादू-भरी चीज है; जिसके द्वारा सभी काम किया जाता है। यह मानी हुई बात है कि मुद्र की सामान्य क्रय-शक्ति होती है। श्रम-विभाजन की

पराकाष्ठा होने से विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा की अनिवार्य आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, मुद्राएँ छोटी या बड़ी होती हैं। छोटे-छोटे सिक्कों से चीजों का अल्प परिमाण खरीदा जा सकता है। मुद्रा की विभाजनशीलता का ही यह गुण है। विनिमय का यह माध्यम प्रकृतिप्रदत्त चीजों से प्राप्तकर्ता द्वारा उठाये गये लाभ को मापता है। इस तरह यह उपयुक्तता का निर्धारक है। इन लाभों के अतिरिक्त यह लाभ भी होता है कि उत्पादक अपने ही काम पर अपना ध्यान केन्द्रीभूत करता है जिससे समाज की सम्पत्ति का पूरा विकास होता है। विकास के साथ ही साथ उत्पादक का कार्य भी संश्लिष्ट होता जाता है। इसलिए उसे खूब सचेत रहना पड़ता है और माँग में होने वाले परिवर्तनों का पूरा ख्याल रखना पड़ता है। अतः मुद्रा के जन्म से उत्पादक का उत्तरदायित्व भी बढ़ ही गया है। यहाँ यह जान लेना बहुत जरुरी है कि सामान्य स्वीकृति विनिमय के माध्यम का जरूरी गुण है। मुद्रा अप्रत्यक्ष विनिमय का साधक है, बार्टर प्रत्यक्ष विनिमय है। मुद्रा ही पहला दलाल है।

मूल्य का मापक
(Standard of Value)

मुद्रा मूल्य का मापक है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा में स्पष्ट किया जा सकता है। इस तरह यह आम मूल्य-प्रकाशक है। मूल्य-मापक होने से विनिमय का काम और भी जल्दी पूरा होता है। प्रत्येक विनिमय के मूल्य को आँकने का मापदंड मुद्रा है। मुद्रा वह गणितसंबंधी यंत्र है जिसके उच्चारण करने के साथ ही मस्तिष्क के सामने एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत हो जाता है। लेखा की इकाई मुद्रा ही है। मुद्रा मूल्यगत विचारों का वाहन है। समूचा अर्थशास्त्र ही मुद्रा पर अवलम्बित है। बार्टर में मूल्य का कोई मापक नहीं होता मुद्रा के जन्म से हमें एक मापक भी प्राप्त हो जाता है। इसके सहारे वस्तुओं और कार्यों के क्रमिक मूल्यों की आपस में तुलना कर

करते हैं। माप का आदर्श मापदंड वह है जो सभी समय के लिये एक समान रहे। जिस तरह एक फूट खास दूरी का, एक पौंड खास वजन का सूचक है, उसी प्रकार मुद्रा की एक इकाई मूल्य की खास रकम का द्योतक है। यह जानकर जरूर कुछ खेद होता है कि मुद्रा की किसी इकाई का मूल्य सभी समय एक ही नहीं रहता, बल्कि यह कम-वेश होता रहता है। मुद्रा का मूल्य उन वस्तुओं तथा कार्यों की मात्र का द्योतक है, जो मुद्रा के बदले में पाई जाती है। इस तरह मुद्रा का मूल्य दामों के विपरीत होता हैं। मुद्रा की एक इकाई किसी समय अधिक और किसी समय कम रकम अपने बदले में पाती है। फिर भी अन्य चीजों की अपेक्षा मुद्रा का मूल्य धीरे-धीरे घटता या बढ़ता है। इसलिये यह किसी दूर चीज की अपेक्षा अधिक आकर्षक होती है।

चिरकालीन व्यापार साधक

(Standard of Deferred Payments)

मुद्रा के द्वारा चिरकालीन लेन-देन करने में सुविधा होती है। लेन-देन की प्रणाली किसी भी समाज के लिये अनिवार्य है। जब कोई आदमी रकम उधार देता है तो वह निश्चित अवधि के बाद उतनी ही रकम लेने की आशा रखता है। उधार दी हुई रकम पर तय किया हुआ सूद तो मिलता ही है। यदि उधार देने के समय जो रकम दी जाती है और वह उधार वापस लेने के समय नहीं मिले तो शायद ही कोई उधार देना मंजूर करे। मूल्य की जो रकम उधार ली जाय वह लौटाई भी जाय। यही उचितहै। इस कथन का संबंध मुद्रासे है। यदि मुद्रा का मूल्य ऋण की मध्यगत अवधि में कम हो जाय तो उधार ली हुई रकम का मूल्य भी जरूर ही न्यून हो जायगा। मुद्रा के लिये यह गौरव की बात है कि लेन-देन के किसी और साधन की अपेक्षा अधिक योग्य साधन है। चिरकाल तक जिस वस्तु का मूल्य अचल रहे वही चुनने के लायक है। यद्यपि गहरी दृष्टि से

विचार करने पर मुद्रा में इसका लेशमात्र अभाव प्रतीत होता है तथापि मुद्रा की उचित धातु चुन लेने पर उसका मूल्य बहुत कुछ अचल रहता है। मुद्रा चाहे वह सोने की हो या चाँदी की या पत्र की ही हो, उसकी क्रयशक्ति (मूल्य) समय के व्यतीत होने पर घटते-बढ़ने के योग्य होती है। फिर भी यदि मुद्रा की वस्तु को उचित ढंग से चुना और प्रबंध किया जाय तो यह गंभीरतापूर्वक कहा जा सकता है कि किसी दूसरी चीज को अपेक्षा उसका मूल्य अधिक समय तक अटल रखा जा सकता है। चिरकालीन व्यवहार का साधक होने से मुद्रा लेन-देन के काम को कम खतरावाला बनाती है। यह उधार-पट्टा पर आश्रित सभी आर्थिक कामों को उत्तेजना प्रदान करती है।

मूल्य की धारक
(Store of Value)

मुद्रा का एक कार्य यह भी कि यह मूल्य का धारक भी है। बार्टर की व्यवस्था में वही व्यक्ति अधिक धनाढ्य समझा जाता है जिसके पास उन चीजों का कोष है, जिन्हें वह चाहता है। उसे अन्न उपजाने के लिये क्षेत्र चाहिये, शिकार-मृगया के लिए जंगल, पशुओं के लिए चारागाह, खेती-बारी करने के लिये दास और खलिहान चाहिये बचे अन्न को संचित करने के लिये। पर इन सभी चीजों को आजकल के जमाने में रखना न तो संभव ही है और न जरूरी ही, इन्हें रखने का उद्योग करना व्यर्थ का बोझ है। मुद्रा के लिये स्वर्ण, रजत, पत्र का व्यवहार होता है, ये बहुत दिनों तक नष्ट नहीं हो सकते। अन्न को संचित करना भयप्रद है, क्योंकि अन्न तो अधिकतर नष्ट होते हैं। इसलिए जब मुद्रा का आविर्भाव नहीं हुआ था, अन्न को जमाकर रखने में अत्यधिक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। मुद्रा के जन्म से हमारी यह कठिनाई मिट गई है। सम्पत्ति को अधिकृत करना आज बहुत ही सहज हो गया है। यदि बकरियाँ ही मुद्रा रहें

तो भी किन्हीं और चीजों को रखने की अपेक्षा इन्हें ही रखना उत्तम होगा क्योंकि ये ही सारे कार्यों को सम्पन्न कर सकती है, पर बकरियों के साथ भी बहुत कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण उन्हें मूल्यधारक का पद नहीं प्राप्त हो सकता। जहाँ ऐसी चीजों का मूल्य स्थिर नहीं रहता वहाँ स्वर्ण, रजत आदि का मूल्य स्थिर रहता है। इसलिये मुद्रा का व्यवहार अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इसलिये मुद्रा को संचित करके हम क्रय-शक्ति को बहुत काल के लिये संचित कर सकते हैं। भावी मूल्य के साथ वर्तमानकालीन मूल्य को जोड़ने वाला मुद्रा ही है। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि बेकार पड़ा हुआ द्रव्य किसी काम का नहीं। मुद्रा को किसी उद्योग में लगा देना कहीं अच्छा है। कहने का आशय यह है कि मुद्रा का चलन, उसकी गति जितनी ही अधिक होगी, वह हमारे काम में उतनी ही अधिक मदद पहुँचाएगी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मुद्रा का मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। इसलिये उसे गाड़कर रखना कतई अच्छा नहीं है। हाँ, मन्दी के समय में भले ही यह कुछ अंशों में अच्छा हो, फिर भी हम अन्य समय की दृष्टि से इसका समथन नहीं कर सकते।

मुद्रा के सहारे हम अपनी पूँजी के कुछ भाग को हमेशा प्रवहनशील या लिक्वीड रखते हैं। पूँजी के प्रवहनशील रहने से मनुष्य चीजों को मन के अनुसार खरीद सकता है। प्रवहनशील पूँजी को किसी समय प्रयुक्त किया जा सकता है। मुद्रा का जन्म इसे संभव बनाता है।

इन्हीं सब कारणों से जब कोई आदमी कुछ बचाना चाहता है तो वह मुद्रा में ही उसे बचाता है। मुद्रा के कुछ दूसरे कार्य निम्न-लिखित हैं।

(१) मुद्रा के द्वारा मूल्य को एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित किया जाता है। इतना ही नहीं मूल्य को एक समय से

दूसरे समय में परिवर्तित किया जा सकता है। पटना में पढ़नेवाला लड़का अपने बम्बईस्थ पिता से रुपया मँगा सकता है। (२) मुद्रा के द्वारा सम्पत्ति-वितरण में बड़ी सुविधा होती है। इससे यह लाभ होता है कि सभी व्यक्ति अपनी इच्छाओं को तृप्त कर सकते हैं। (३) उधारवाली प्रणाली का आधार ही मुद्रा है। मुद्रा का एक कोष पृथक रखा जाता है और जब जरूरत पड़ती है, उधार को मुद्रा में परिणत किया जा सकता है। (४) मुद्रा पूँजी को अधिक गतिशील बना देती है। प्रवहनशील मुद्रा के कारण जरूरत पड़ने पर आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं। (५) मुद्रा के द्वारा मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके सर्वाधिक संतोष उपलब्ध .कर सकता है। लोग अपनी आमदनी को इस प्रकार खर्च करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो।

मुद्रा के कार्य पर कुछ विशेष विचार
(Some Reflections on the Functions of Money)

इस तरह हम देखते हैं कि मुद्रा क्रय-शक्ति का साधारणीकरण करके भोक्ता का बड़ा काम करती है। वह समाज से वे ही वस्तुएँ और सेवायें मोल लेता है जो उसे सबसे अधिक भाती हैं। वह फिजूलखर्ची करने से बच जाता है। अपने सीमित साधनों से वह अधिकतम उपयोगिता प्राप्त कर पाता है।

दूसरी ओर उत्पादक अपना सारा ध्यान अपने ही कार्य पर केन्द्रित रखता है और समाज की वस्तुओं और कार्यों की सम्पूर्ण गति में निपुणता के साथ योगदान करता है। इससे समाज की वास्तविक आमदनी बढ़ती है।

मुद्रा बड़ी गतिशील वस्तु है। यह जादू-सा विचित्र काम करती है। एक रुपया नाचता और थिरकता हुआ सहस्रों रुपये के बराबर मूल्य का काम पूरा करता पाया जाता है। यही मुद्रा की विनिमयगत गति (Exchange Mobility) है। मुद्रा जब सिर्फ वस्तुओं और

आर्थिक कार्यों के क्रय-विक्रय में प्रयुक्त होती है, तब उसे आय-विषयक गति (Income Mobility) कहते हैं।

मुद्रा की माँग सम्मिलित (Composite) माँग है। इसे कई उपयोगों में लाया जा सकता है। इसलिये विविध कार्यों के लिये जो माँगें होती हैं, उनकी समष्टि को मुद्रा के लिये सम्मिलित माँग कहते हैं।

महाशय हाम का कहना है कि सामाजिक प्रणाली बराबर मौद्रिक प्रणाली बनी रहेगी। लेकिन हम एक ऐसी सामाजिक प्रणाली की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें उच्च कोटि के योजनाकरण के द्वारा मुद्रा से कोई काम नहीं लिया जाता। सोवियत रूस में जहाँ दुनिया में सबसे बड़ा योजनाकरण प्रचलित है, वहाँ भी मुद्रा का सहारा लिया जाता है।

विनिमय के साधन के रूप में मुद्रा वस्तु-विनिमय (बार्टर) के जटिल कार्यों को क्रय-विक्रय में विभाजित कर देती है और क्रय और विक्रय एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। मुद्रा कई तरह से खर्च की जा सकती है। जिस सामाजिक प्रणाली में मुद्रा का अस्तित्व न हो वह बेढंगा (Irraional) होगा। इसमें उपभोग या खपत को पूरी स्वतंत्रता नहीं रहेगी। सरकार को उसके ऊपर पूरा नियंत्रण रखना होगा।

महाशय चैनडलर का कहना है कि मुद्रा इसलिये उपयोगी है कि आर्थिक इकाइयाँ आत्म-पूर्ण नहीं होकर अन्योन्याश्रित होती हैं। मुद्रा खुद बाँझ है लेकिन इसकी परोक्ष उत्पादनशीलता बहुत ज्यादा है। यह गतिशील चक्र है। यह वाणिज्य का बड़ा शस्त्र है।

महाशय कोलबर्न के अनुसार मुद्रा के दो स्थूल भेद हैं—प्राचीन और विकसित। प्राचीन मुद्रायें (जैसे स्वर्ण मुद्रायें, पशु, आदि) स्वयं उपयोगी थीं और उनकी माँग उनके उपयोग के लिये भी होती थी। लेकिन विकसित भेद की मुद्रा (जैसे, पत्र-मुद्रा) की माँग उसके

उपयोग करने के लिये नहीं होकर दूसरी उपयोगी चीजों के उपयोग के लिये होती है।

मुद्रा की सम्मिलित माँग के ऊपर विचार करते समय प्रो० केनन ने पाँच प्रयोजनों के लिये उसकी माँग बतलाई है। लोग इनकी सिद्धि के लिये अपने पास मुद्रा रखते हैं। सरकार भी इनके लिये मुद्रा अपने कोष में रख सकती है। इसे "मुद्रा - निधि" (Money Pool) कहा गया है। वे प्रयोजन ये हैं-- (१) बैंक में जमा करके मुद्रा रखना (२) करेन्सी के रूप में दैनिक क्रय-विक्रय के लिये पास में मुद्रा रखना। (३) किसी अप्रत्याशित (Emergency) घटना का सामना करने के लिये मुद्रा रखना (४) धातवीय मुद्राओं को गैरमौद्रिक प्रयोगों के निमित्त रखना--आभूषण या औषध बनाने के लिये। (५) किसी साख बाजार के विकास के लिये मुद्रा रखना।

यहाँ साख-बाजार (Credit Market) के ऊपर थोड़ा सा प्रकाश डालना अच्छा होगा। इसके दो स्थूल रूप होते हैं—मुद्रा-बाजार (Money Market) और पूँजी-बाजार (Capital Market)। मुद्रा - बाजार अल्पकालीन और पूँजी बाजार दीर्घकालीन होता है। पहले का संबंध उधार देने वाली मुद्रा से होता है और दूसरे का बचत के रूप में स्थिर पूँजी से। भोक्ता-विषयक वस्तुओं के लिये प्रतिदिन माँग होती है, लेकिन उत्पादक-विषयक वस्तुओं के लिये जिस पूँजी की माँग होती है, वह एक बार लगाई जाने पर बहुत काल तक उसमें लगी रहती है।

लेकिन साख-बाजार का यह भेद स्पष्ट है। काल की एक अबाध धारा होती है। अल्पकाल और दीर्घकाल ऊपरी भेद हैं। फलस्वरूप मुद्रा-बाजार और पूँजी-बाजार अन्तर्बद्ध हैं। अगर मुद्रा की विनिमय गति बढ़ जाय तो इसका अर्थ है उधार देने लायक मुद्रा की कुल रकम मुद्रा-बाजार में कम हो जायगी। इसका प्रभाव पूँजी-बाजार पर भी

पड़ेगा। फिर सूद की दर भी दोनों बाजारों को जोड़ती है। अल्प-कालीन सूद की दर दीर्घकालीन सूद की दर में परिणत हो जाती है। किसी घटना का प्रभाव सबसे पहले मुद्रा-बाजार पर पड़ता है। इसके बाद पूँजी-बाजार भी प्रभावित हो उठता है।

सरकार को मुद्रा की जरूरत सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये होती है। सरकार को पूर्ण रोजी की व्यवस्था करनी पड़ती है। उसे लोगों के रहन-सहन के पैमाने को उन्नत बनाने के लिये, कीमतों के स्तर को ठीक रखने तथा समाज की आर्थिक क्रियाओं को दुरुस्त रखने के लिये रुपये की जरूरत पड़ती है। राज्य भी एक बहुत बड़ा भोक्ता है। वह धीरे-धीरे एक बड़ा उत्पादक भी होता जा रहा है। समाजवादी प्रवृत्तियों की बढ़ती के साथ सरकार को अधि-काधिक मुद्रा की जरूरत पड़ रही है।

मुद्रा की माँग इसलिये कई कामों के लिये होती है। अतएव मुद्रा की माँग एक असंख्यक जाति (numerous genus) की नाईं है और प्रत्येक काम के लिये उसकी माँग एक सदस्य (species) की भाँति। यह महाशय कोलबर्न और लार्ड केन्स का मन्तव्य है।

मुद्रा की माँग के आखिरी छोर पर प्रवहनता—लिक्वीडीटी—के लिये मुद्रा की माँग है। लार्ड केन्स ने बतलाया है कि लोग दो प्रयोजनों से वशीभूत होकर मुद्रा अपने पास रखना चाहते हैं—आय-प्रयोजन तथा व्यवसाय-प्रयोजन। इन्हें भी तीन खंडों में बाँटा गया है—विनिमय-प्रयोजन जो वैयक्तिक और व्यावसायिक दोनों होता है, पूर्व-सुरक्षा (Precaution) का प्रयोजन जिससे भविष्य में कोई कठिनाई नहीं महसूस हो तथा सट्टेबाजी करने का प्रयोजन जिससे आदमी मुनाफा कमाना चाहता है। केन्द्रीय बैंक को हरा पनीर —Green cheese—अर्थात् करेंसी (चल मुद्रा) का कारखाना कहा गया है और जब लोग अपने पास अधिक मुद्रा रखना चाहते हैं, तब केन्द्रीय बैंक को अधिक करेंसी को छापना पड़ता है।

मुद्रा के कार्यों के दो पक्ष हैं—दृश्य (Physical) और अदृश्य (Abstract)। विनिमय के माध्यम का कार्य दृश्यपक्षीय कार्य है। मुद्रा का मूल्य मापन-कार्य अदृश्यपक्षीय कार्य है। जैसा कि हम कह आये हैं, मुद्रा भी एक वस्तु है और उसका मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्यों के ऊपर निर्भर करता है। जब ये बदल जाते हैं, तब वह भी बदल जाता है।

मूल्य-मापन के कार्य को सम्पन्न करने के लिये कोई जरूरी नहीं कि मुद्रा का भीतरी मूल्य हो। मुद्रा के मूल्य घटने से लोग भले ही उसे कम चाहने लगें तथापि इसका तनिक भी बुरा असर मूल्य-मापन-कार्य को पूरा करने की क्षमता पर नहीं पड़ता।

मूल्य-मापक का काम मुद्रा से लेने के लिये संबर्द्धित दिमाग की जरूरत है। और मुद्रा का आविष्कार मनुष्य की विकसित तर्क-बुद्धि का सूचक है। हाम का मत है कि श्रम-विभाजन के प्रसार से मूल्य-करण के एक माध्यम की नितान्त आवश्यकता आ पड़ी और इसीसे मुद्रा मूल्य-मापक का काम भी अदा करने लगी।

हाम और क्रौथर दोनों का विचार है कि यह अनिवार्य नहीं कि एक ही वस्तु विनिमय का माध्यम और मूल्य का मापक दोनों हो। लेकिन अगर वह दोनों कार्य पूरा करे तब यह अधिक किफायतशार और सुविधा-जनक होगा। लेकिन एक बात जरूर है। पहले कार्य के लिये मुद्रा का दृश्य होना अनिवार्य है। दूसरा काम अदृश्य ढंग से भी हो सकता है।

पुराने अर्थशास्त्र-वेत्ताओं का मत था कि मौद्रिक प्रणाली में थोड़े समय के लिये कभी गड़बड़ी होती है लेकिन अब के अर्थशास्त्र-वेत्ताओं का मत है कि मौद्रिक प्रणाली बराबर अव्यवस्थित रहती है। पुराने अर्थशास्त्री कहते थे कि अन्ततोगत्वा (In the long run) सब कुछ ठीक हो जाता है। लेकिन लार्ड केन्स ने इस उक्ति की खिल्ली उड़ाते कहा है कि अन्ततोगत्वा तो हम सभी मानव

मर मिटेंगे। हमारे जीवन में अल्प-कालीन प्रवृत्तियों और घटनाओं का बड़ा महत्व है। अतएव मौद्रिक प्रणाली की अल्प-कालीन गड़बड़ी को हम भूला नहीं सकते।

अगर हम मुद्रा के इन दो कार्यों के ऊपर विचार करें तब हमें मालूम होगा कि दूसरा कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। योजनाकरण में तो पत्र-मुद्रा के बदले हम सिगरेट या दियासलाई के डिब्बे को भी विनिमय का माध्यम बना सकते हैं, परन्तु मूल्य-निर्धारण का सवाल उस हालत में बड़ा कठिन हो जायगा। अगर मुद्रा को एकदम उठा दें, तब फिर वस्तु-विनिमय की ओर वापस लौट जाना होगा।

मुद्रा का प्रथम कार्य आदर्शवादी दृष्टिकोण की माँग करता है। समाज के अंदर धन और आय का वितरण बड़ा असमान हुआ है। इसमें गरीब बहुत पीड़ित हैं। अतएव मौद्रिक प्रणाली में ऐसा परिवर्तन करना चाहिये जिससे यह विषमता दूर हो सके।

मुद्रा का विकास
(Evolution of Money)

मुद्रा, सच पूछिए तो, मानव के प्रधानतम आविष्कारों में सबसे विचित्र आविष्कार है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र का अपना-अपना आविष्कार है। मशीन-शास्त्र में चक्र, विज्ञान में आग, राजनीतिशास्त्र में वोट प्रधान आविष्कार हैं। तद्नुसार अर्थशास्त्र में मुद्रा ही वह अनुसंधान है जिस पर मानव-जीवन का प्रत्येक सूत्र आधारित है।

मुद्रा के नवजात शिशु ने किसी वस्तु के लेखा की इकाई के रूप में अपने नेत्र खोले। मुद्रा विकास के प्रथम चरण में बकरी ही मापक (goat-standard) थी तथा विनियम की शर्तें उसी माप-दंडीय वस्तु बकरी की दृष्टि से निश्चित की जाती थी। यद्यपि लेखा की विशिष्ट इकाई का आविर्भाव हुआ तथापि बार्टर की प्रथा द्वारा उत्पन्न सभी बाधाएँ मिट नहीं सकीं, फिर भी समयांतर में लेखा की विशिष्ट

इकाई ही विनिमय का माध्यम बन गई। मुद्रा ही दलाल का काम पूरा करने लगी।

यह कहना की बकरीवाली मुद्रा का प्रसंग कपोल-कल्पित है ठीक नहीं है। क्योंकि पुरातन कृषि-प्रधान जातियों के घरेलू पशु ही सम्पत्ति के प्रधान साधन थे। उनका उपयोग मुद्रा की तरह होता था। पर यदि स्कूल की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो पशु पर आधारित मुद्रा की अनेकों असुविधाएँ हैं। बात यह है कि उदाहरणार्थ, बकरी की जितनी इकाइयाँ हैं वे सभी एक रूप की नहीं है। यदि किसी आदमी को अपनी किसी चीज के बदले पाँच क्षीण और दुबल बकरियाँ मिल जायँ तो वह तो ठग जायगा। दूसरी बात यह है कि किसी रोग के फैलाने से बकरियाँ इतनी संख्या में न मर जायँगी कि उनके अधिपति की सम्पत्ति ही न्यून हो जाएगी। जिस मौसिम में उनकी पैदाइश होती है उस मौसिम में उनकी तादाद बहुतही बढ़ जाती है। इतना ही नहीं, बकरियाँ भाग भी जा सकती हैं, उनको खूंखार जंतु खा जा सकते हैं। इसलिये उनकी रक्षा के लिये पूरा सतर्क रहना पड़ेगा।

घरेलू पशुओं के अलावे कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनसे बहुत ही लाभ होता है। बहुत ही जमाने से धातुओं ने मुद्राओं का काम किया है। बात यह है कि उन्हें आसानी से यत्र-तत्र लाया-जाया जा सकता है, उनके परिमाण को भी सुगमता से नापा जाता है। वे घिसते भी कम है, उन्हें संचित करने के लिये थोड़ी जगह चाहिये, उनको संरक्षता के लिये कम चैतंय भी जरूरी है। धातुओं की वार्षिक पैदावार (उत्पादन) भी उनके प्राप्य कुल परिमाण का एक अंश मात्र ही है। फलतः उनकी वार्षिक पूर्ति बहुत अधिक नहीं बदलती। अतएव सभ्यता के दूसरे चरण में मुद्रा के रूप में उन्हीं का बोलबाला रहा।

बहुमूल्य धातुओं में स्वर्ण, रजत, आदि ही मुद्रा के धातु स्वीकृत किये गये। दूसरे-दूसरे धातुओं का भी प्रयोग भी हुआ है। फिर भी

पाश्चात्य सभ्यता में सोना तथा चाँदी ने दूसरे प्रतियोगी धातुओं को अपदस्थ कर दिया। जब हम बहुमूल्य धातुओं और मुद्रा के पारस्परिक संबंध पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें जान पड़ता है कि ज्योंही मुद्रा का आविष्कार हुआ, वह मानवीय लालसा का केन्द्र बन गई। चूँकि वह किसी भी चीज को मोल ले सकती है; इसलिये लोग उसे चाहने लगे। कृपण व्यक्ति सोना या मुद्रा को अपने गले से लगाता है, वह उसे ही जीवन का सर्वस्व मान बैठता है। फिर भी आम जनता की आँखों को वह अजीब जीव जान पड़ता है। पर यह समझना गलत है कि साधारण मनुष्य मुद्रा को हेय दृष्टि से देखता है। वास्तव में मुद्रा को स्वयं मूल्यवान समझकर उसे देखता है। कोई जाति भी मुद्रा का चयन उसे मूल्यवान जानकर ही करती है। बात भी ठीक ही है। जितने बहुमूल्य धातु हैं, मुद्रा के रूप में उनकी बहुत-सी विशेताएँ हैं।

लोगों की यह धारणा चिरकाल से रही है कि चूँकि मुद्रा समस्त सम्पत्ति की कुंजी है, इसलिये उसका बहुमूल्य धातु का होना जरूरी है। इसलिये उनकी मनोवृत्ति से स्वर्ण ही सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है। पर यह विश्वास कि धातु के बहुमूल्य होने से ही मुद्रा के प्रति लोगों का इतना आकर्षण होता है, मिथ्या है; क्योंकि यदि यह बात सत्य होती तो सभी जातियाँ सबसे मूल्यवान पदार्थ को ही मुद्रा बनातीं, परन्तु शायद ही कोई जाति हीरा, जवाहरात, प्रभृति धातुओं की मुद्रा चलाती है। चाँदी सोने से कम सस्ता है, फिर भी बहुत-सी जातियों में उसकी मुद्रा ही प्रचलित रही है। सोना बहुत ही मूल्यवान है और उसके छोटे टुकड़ों का भी मूल्य इतना अधिक होता है कि उनसे कम दाम के काम पूरा नहीं हो सकते और उनके खो जाने की आशंका रहती है। सोना की कमी भी बहुत दिनों से महसूस की गई है। मुद्रा को इतना कम नहीं होना चाहिये की लेन-देन में कठिनाई हो और उसे इतना अधिक भी नहीं होना चाहिये कि उसकी लेन-देन काफी मात्रा में होने से बाधा हो। इसलिये मुद्रा की वस्तु न ज्यादा कम होनी

चाहिये न बहुत ही बहुमूल्य। उसे साधारणत: कम मूल्यवान होना चाहिये। अत: किसी मुद्रा-वस्तु के मूल्य की उपेक्षा उसका अभाव ही उसके चुने जाने का कारण है। पर आज यह बात लागू नहीं होती। पर मुद्रा के रूप में हमने ऐसी मुद्रा-वस्तु का आविष्कार किया है जो स्वत: मूल्यवान न होने पर भी अभावपूर्ण है। जाल-साजी के भय से लोग नोट नहीं बना सकते।

सोना तथा चाँदी—ये दोनों इसलिये चुने गये कि वे मुद्रा-स्फीति के लिये उपयुक्त थे। वे सुगमतापूर्वक हस्तान्तरित किये जा सकती हैं और उन्हें संचित भी किया जा सकता है। वे शीघ्र नष्ट नहीं होते। उनके अभाव की मात्रा एकदम ठीक है। उनका भंडार बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ सकता है। पर शुरू-शुरू में बहुमूल्य धातुओं के दो अवगुण थे। एक तो, उनके गुण को निश्चित करना कठिन था। यह असंभव तो नहीं पर दिल ऊबानेवाला था। दूसरे, उनको सुविधाजनक इकाइयों में विभक्त करना भी दुष्कर था।

इन कठिनाइयों को मुद्रा के इतिहास के तीसरे चरण में दूर किया गया। यह सिक्का-निर्माण या मुद्रा-स्फीति का आविष्कार है। तत्कालीन राजाओं ने मुद्रा की धातु का सिक्का बनवाना आरंभ किया। प्रत्येक सिक्का निश्चित वजन और उत्कृष्टता का होता था और उसपर प्रत्येक राजा अपना चित्र अंकित करा देता था। सिक्के के जन्म की यही कहानी है। जब तक प्रजा को मुद्रा की सचाई में विश्वास होता था, वह उसे अंगीकार करती और जब उसे सन्देह होने लगता, वह उसका परित्याग करती। मध्ययुगीन देशों में यही प्रथा लागू थी। बहुत-से सिक्के घटिया होते थे। उनमें धातु की वजन कम होती थी। फिर भी मुद्रा में सिक्कों का ही विशेष प्रचार था। सोना और चाँदी ये दो धातु इसलिये मुद्रा के लिये चुनी गईं क्योंकि उनका बहुत अभाव भी था और उनके लिये लोगों की माँग अत्यधिक थी। इसके बाद जब मुद्रा के लिये भी उनकी माँग होने लगी तो उनका

मूल्य भी और बढ़ गया। सोने की माँग धातु और मुद्रा इन दो वस्तुओं के लिये होती है।

मुद्रा के इतिहास के चतुर्थ चरण में पत्र-मुद्रा का उद्भव हुआ। एक तरह से मुद्रा के जीवन का यह सर्वप्रधान प्रहर है। पत्र-मुद्रा का जन्म मानव के हित और अहित दोनों के लिये है, हम जिस रूप में चाहें उसे मोड़ सकते हैं। पत्र-मुद्रा की उत्पत्ति सहसा नहीं हुई, शनैः शनैः हुई। धातवीय मुद्रा यद्यपि आसानी से इधर-उधर लाई जा सकती है तथापि उसके चुरा लिये जाने का भय था। इसलिये सौदागर लोग उसे न ले जाकर लिखित कागज जो उसकी अधिकृति के सूचक थे, ले जाते थे। इनके खो जाने परभी कोई डर नहीं था। ये कागज सार्टिफिकेट थे और उनपर सौदागरों के परिचित व्यापारियों के हस्ताक्षर होते थे। वे इसके सूचक थे कि उन्होंने उनके साथ द्रव्य जमा किये हैं। पत्र-मुद्रा का यह प्रथम उपचरण था और इसमें यह कागज-मुद्रा का एवजी मात्र था। कालान्तर में यह कागज भी मुद्रा के रूप में व्यवहृत होने लगा और यह बैंक-नोट में बदल गया। फिर भी यह बैंकनोट कोष की धरोहर की रसीद था और उसे लोग मुद्रा नहीं समझते थे। यह दूसरा उपचरण था। धीरे-धीरे ये बैंक-नोट भी मुद्रा के समान समझे जाने लगे। बैंक-नोट केवल एक ही कार्य सम्पन्न करने के लिये नहीं प्रयुक्त होता था। यह एक आदमी से दूसरे आदमी में घूमने-फिरने लगा। न जाने इसने कितने काम किये होंगे। कुछ नोट ले उनके चलानेवाले के पास रुपयों में बदलने के लिये आते थे। चलानेवाला अनुभव के बल पर जानता था कि सम्पूर्ण नोटों के मूल्य का कितना भाग करेन्सी अर्थात् चलती मुद्रा में रखना चाहिये। इस तरह पास में पड़ी करेंसी के कई गुना मूल्य के नोट चलने लगे। यह पत्र-मुद्रा के विकास का तृतीय उपचरण था। अब ये नोट समाज की समूची मुद्रा की पूर्ति को बहुत ही बढ़ा देने लगे। ऐसा १७वीं और १८वीं सदी में हुआ। उस समय लोग बैंक-नोटों को सन्देह की नजर से देखते थे। लोगों को ऐसा लगा कि बैंकवाले मुद्रा

की सृष्टि करने लगे हैं। इसलिये बहुत से लोग इन बैंकपतियों को रुपया देने के लिये प्रेरित करने लगे। इसके फलस्वरूप उनमें से बहुत नष्ट हो गये। उनके नष्ट होने का कारण यह था कि उन्होंने नोटों को करेंसी में बदलने के लिये इन्तजाम नहीं किया था। अतः जब तक चलाये गये नोटों में से कुछ को करेंसी में बदलने के योग्य बैंकर रहते थे, वे नष्ट नहीं हो सकते थे; क्योंकि लोगों का विश्वास नहीं हट सकता था। कैस से बहुत अधिक नोट नहीं चलाये जायँ, इसके लिये जगह-जगह थोड़े बहुत प्रतिबंध लगाये गये थे। लन्दन में आरंभ से ही बैंक-ऑफ-इगलैंड को सुविधा दी गई है। इसे नोट चलाने का एकाधिकार है। यद्यपि स्कॉटलैंड, आयरलैंड, मैनद्वीप के कुछ बैंक भी नोट चलाते हैं तौभी इङ्गलैंड और वेल्स में बैंक-ऑफ इङ्गलैंड को ही यह स्वतंत्रता है कि वह नोटों को चलावे। सन् १८३३ से ही उसके द्वारा चलाया हुआ नोट कोश-प्रवेश्य मुद्रा माना जाता है। केवल प्रथा के बल पर ही नहीं, बल्कि विधान के कारण भी यह नोट मुद्रा के ऐसा चलता है। आरंभ में तो इस बैंक के नोट भी स्वर्ण सिक्के में बदले जाते थे परन्तु १७९७-१८१६ और १९१४-१९२५ के बीच में इस प्रकार के नियम को स्थगित कर दिया गया। नोट में लोगों का विश्वास जम गया था; वे स्वर्ण सिक्के में बदलने के लिये आतुर नहीं रहते थे। अतः जब दो बार नोटों को स्वर्ण सिक्के में बदलने का नियम भंग कर दिया गया, तब भी लोग घबड़ा नहीं सके, क्योंकि सरकार ने अस्वाभाविक दशाओं में ऐसा किया था। इन हालतों में भी लोगों को यह सुविधा दी गई थी कि वे १७०० पौंड देकर सोना ले सकते थे।

पत्र-मुद्रा के चतुर्थ उपचरण ने एक नई क्रान्ति देखी। पहले यह समझा जाता था कि नोट सोने के सिक्कों में परिणत हो सकते थे। फिर पीछे नोटों को उनके लिए ही अंगीकार किया जाने लगा। ऐसा सन् १८३३ से होने लगा जब नोटों को कोश-प्रवेश्य-मुद्रा बना दिया गया। सन् १९३१ में 'स्वर्ण स्टैंडर्ड' को विघटित कर

दिया गया। उस समय से बैंक-ऑफ इङ्गलैंड के नोटों को नहीं बदला जा सकता। उन पर "Promise to pay" लिखा रहना कृत्रिम बात थी, क्योंकि वह कार्यान्वित नहीं होता। इस समय से धातुओं ने जो एक दैवी अधिकार जमा लिया था, मिट गया। अब जिन कुछ देशों में धातवीय मुद्राएँ चलती भी हैं वे सहकारी के स्वरूप में ही।

नोटों की अपरिवर्तनशीलता (Incovertibility) अस्थिरता का पर्याय रही है। जब तक नोटों को धातवीय मुद्राओं में बदलने का विधान था, मुद्रा की पूर्ति में दृढ़ता थी। इसके हट जाने से अधिकाधिक नोटों के चलाने का डर बना रहता है। इसका सुलझाव इसीमें है कि नोटों का चलाना परिमित कर दिया जाय। उन्हें धातवीयमुद्रा में बदलना कानूनी या नियमवद्ध कर देना अच्छा उपाय नहीं है। जब नोटों की संख्या को परिमित कर दिया जायगा तो पत्र-मुद्रा भी मुद्रा की तरह ही संतोषपूर्ण होगी। ऐसा १६३१ के बाद के इङ्गलैंड का अनुभव है।

आधुनिक संसार में मुद्रा का एक नया रूप "चेक" चला है। यह भी बैंक-नोट जैसा ही है। बैंक-नोट ने जब मुद्रा का रूप धारण कर लिया तब उसके खो जाने का डर हो गया क्योंकि वह स्वर्ण-मुद्रा की तरह ही बहुमूल्य था। चेक से यह डर भी जाता रहा। यह बैंक के ऋण का चिह्न है। 'मुझे आपको इतना देना है' (I O U) यह इसीका निदर्शन है। अतः बैंक का ऋणत्व ही चेक द्वारा चलता है। जिस प्रकार बैंक का नोट उसके ऋणत्व का बोधक है, उसी प्रकार उसके द्वारा चलाया हुआ चेक भी उसके ऋणत्व का सूचक-मात्र है। फिर भी बैंक-नोट से चेक भिन्न है। नोट दोनों दलों के साथ अन्तिम कर्जदार का भी निदर्शक है। नोट किसी खास रकम के बराबर होता है। एक काम करने के बाद इसकी जीवन-लीला समाप्त नहीं हो जाती है। चेक किसी काम को करनेवाला नहीं है। यह

बैंक में जमा हुए द्रव्य को स्थानन्तरित करने का साधन मात्र है। चेक के पीछे कोई धरोहर नहीं भी रह सकती है। व्यापारी उसे लेना भी नामंजूर कर सकते हैं। पर वे बैंक-नोट लेने से अस्वीकार नहीं कर सकते। धरोहर (Deposit) ही मुद्रा का नाम पाने लायक है। बैंक नोट और बैंक धरोहर में यही अन्तर है कि पहले के साथ बैंक का ऋणत्व चलायमान रहता है, दूसरे के साथ बैंक का ऋणत्व रजिस्टरों में लिखा रहता है। यह ऋणत्व ऋणदाता के द्वारा दिये आर्डर पर स्थानान्तरित होता है। दोनों साधनों से मनुष्य समाज का उपकार हुआ है और आधुनिक जगत् में उन दोनों का प्रयोग होता है। चेक की उत्पत्ति के ये कारण हैं :—

(१) केवल सुविधा के कारण।

(२) बैंक-नोटों की संख्या सीमित होने के कारण।

सन् १८४४ के "बैंक-नोट कानून" पास होने पर बैंक-ऑफ-इङ्गलैंड और दूसरे बैंकों द्वारा चलाये जानेवाले नोटों की संख्या को परिमित कर दिया गया। परन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाले समाज को अधिकाधिक मुद्रा की जरूरत थी। बैंकों ने भी चेकों को चलाना अच्छा ही समझा। इङ्गलैंड में तो इनका चलन काफी है। बैंक की धरोहरें अभी अपनी उन्नति के तृतीय चरण में हैं। वे कोश-प्रवेश्य नहीं। इन्हें बैंक-नोटों या धातवीय मुद्रा में बदला भी जा सकता है। अब यदि बैंक की धरोहरें भी नोटों के चतुर्थ चरण में चली जाय तो कोई बेजा बात नहीं होगी।

मुद्रा की उत्पत्ति के दो सिद्धान्त

(The two theories of the origin of Money)

मुद्रा की उत्पत्ति के संबंध में हमें बहुत ही थोड़ा लिखना है। हमें उपर्युक्त मुद्रा के क्रमिक विकास का ही सहारा लेना है। मुद्रा की परिभाषा लेन-देन के तथा मूल्यांकन के साधन के रूप में की गई

है। आरंभिक लेन-देन के विवरण प्राचीनता की नीहारिका में छिपे हैं। मुद्रा की उत्पत्ति के बारे में जो विचार प्रचलित हैं वे दो वर्गों में विभाजित हैं। वे ये हैं : (१) "लेखा की इकाई वाला विचार" (The Unit of Account View) तथा (२) "विनिमय के साधनवाला विचार" (The Medium of Exchange View)।

१. लेखा की इकाई वाला विचार
(Unit of Account theory)

कुछ पुस्तककारों का कथन है कि बार्टर के जमाने में विनिमय की शर्तों में रद्दो-बदल बहुत ही कम होते थे। मूल्य के लगाव बहुत ही कठोर थे। उदाहरण के लिए सदैव एक गाय ही अनाज के दस मन के बराबर हो सकती थी या ४ भेड़ों के बराबर। यदि लोगों के दिमाग में यह बात घूमती रहती होगी कि शरत् ऋतु में उन्हें काफी अनाज होगा तो वे लोग अपनी सभी चीजों को अनाज के रूपों में सोचना आरंभ करेंगे। फलतः गाय १० मन अनाज के बराबर, भेड़ें ढाई मन अनाज के बराबर हुईं। प्राचीन समाज में उलट-फेर कम होती थी। लोग यह भूल गए होंगे कि एक गाय कितने बोरों के बराबर थी और घोड़े के बदले कितना देना चाहिए। यदि लोग अपनी चीजों को केवल अन्न के हिसाब में सोचते रहे होंगे तो वे आपस में सभी चीजों का मूल्य हिसाब से लगा लेते होंगे।

लेखा की इकाई वाले विचार पर ज्यादा जोर देना व्यर्थ है। किसी आदमी के मरने पर उसकी दौलत का बँटवारा भी अन्न के रूप में होता था। पर लेखा की इकाई के विकास से विनिमय में भी सुविधा बढ़ी। इससे काम-धंधों में लोग विशेषता हासिल कर सके। कुछ लेखकों के अनुसार पुरानी जातियाँ जो आज भी विद्यमान हैं, आज भी किसी एक ही चीज को ही मूल्यांकन का मापक मानती हैं। उदाहरण के लिए money-cow यही काम करती है।। इधर कोई ऐसा विवरण नहीं मिलता जिससे हम मुद्रा की उत्पत्ति को

बतलाने वाले "लेखा की इकाई वाले" विचार को असत्य सिद्ध कर सकें। इस विचार की पुष्टि करने वाले कुछ कारण हैं, एक कारण तो यह है कि साधारण आदमी के लिये एक चीज के रूप में सोचना एकदम स्वाभाविक और आसान है, क्योंकि अन्ततः यह तरीका ही मुद्रा के भावात्मक गुण अर्थात् लेखा की इकाई वाला विचार को धारण कर लेता है। दूसरा कारण यह है कि इस तरह के विचार का विकास बहुत-कुछ संभव है, क्योंकि इससे विनिमय में सहायता मिलती है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध कहा जाता है कि यह परम्परागत अनुपातों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। यह मानता है कि दाम या तो कभी नहीं बदलते थे या कश्चित् ही बदलते थे। जब अनाज खूब पैदा होता था या कम पैदा होता था तब इस प्रकार के हिसाब में परिवर्त्तन होना आवश्यक ही था।

(२) "विनिमय के माध्यमवाला विचार"
(Meduim of Exchange theory)

इस सिद्धान्त के माननेवाले अधिक हैं। इनके अनुसार कोई चीज धीरे-धीरे विनिमय का माध्यम बन गई। कोई चीज बिना हिचक के विनिमय में स्वीकार की जाने लगी क्योंकि लेने वाले को निश्चय हो जाता था कि उसे जरूर ही उसके बदले में अन्य चीजें मिल सकेंगी। धान ऐसा ही एक उदाहरण है। जिन देशों में धान लोगों का प्रधान भोजनान्न हैं वहाँ के लोगों को तो उसे ग्रहण करने में कोई हिचक नहीं हो सकती थी। सभी लोग उसे लेने के लिये सदा तैयार रहते थे। अतः सार्वजनिक स्वीकृति से ही धान-विनिमय का दृढ़ माध्यम बन गया।

सच पूछिये तो इन दोनों सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं हैं। दोनों प्रकार से मुद्रा की उत्पत्ति हुई है। यह सोचना व्यर्थ है कि किस

तरह से मुद्रा की उत्पत्ति पहले हुई। दोनों क्रियाएँ साथ ही साथ उद्भूत हुईं।

उत्तम मुद्रा के लक्षण
(Features of Good Money)

बार्टर (वस्तु-विनिमय) की प्रथा के अवगुणों के कारण मुद्रा की उत्पत्ति हुई। कितने ही प्रकार के पदार्थ मुद्रा के काम करते रहे। पत्र-मुद्रा के पूर्व सोना और चाँदी मुद्रा के लिये चुने गये थे। उनके चुने जाने का कारण यह था कि ये अच्छी मुद्रा के निर्माता थे। इनकी विशेषताएँ ये थीं :—

(१) सामान्य स्वीकृति
(Universal or General Acceptibility)

जो चीज सार्वजनिक रूप से मुद्रा के लिये नहीं चुनी जाती वह मुद्रा का काम भली-भाँति नहीं कर सकती। किसी चीज को इसलिये चुना जाता है कि उसे सभी लोग लेने को तैयार रहते हैं और उससे नाना प्रकार के काम किये जा सकते हैं। चेक तथा हुँडियाँ सभी लोगों के द्वारा नहीं स्वीकार की जातीं। इसलिये उन्हें मुद्रा की संज्ञा नहीं दे सकते। गेहूँ को लोग एक परिमाण से अधिक नहीं स्वीकार कर सकते। यह मुद्रा के लिए उपयुक्त वस्तु भी नहीं। चाँदी और सोना इसलिये सब लोगों के द्वारा चुने जाते हैं, क्योंकि उनसे कितने काम हो सकते हैं। अतः मुद्रा बनाये जाने के अतिरिक्त उनके दूसरे उपयोग भी हो सकते हैं, जिससे उनका मूल्य देना पड़ता है। करेंसी नोट इसलिए स्वीकृत होते हैं, क्योंकि उनसे लोग चीजें खरीद सकते हैं। सामान्य स्वीकृति प्रयुक्त धातुओं के अटल मूल्य पर भी निर्भर करती है।

(२) यातायात की सुविधा
(Portability)

चाँदी और सोना थोड़ा होने पर भी काफी दाम वाले होते हैं। उनका मूल्य सभी जगहों में एक ही होता है, क्योंकि उनके ढोने का भाड़ा बहुत ही कम होता है। जब एक देश में उनका अभाव होगा और दूसरे देश में अधिक्य तो दूसरे देश से पहले देश में वे लाये जायेंगे। इस तरह माँग और पूर्ति के समतोलन से दाम सभी जगह बराबर ही होगा। यही कारण है कि चाँदी और सोना मुद्रा के लिये चुने गये हैं। कोयला मुद्रा का काम नहीं दे सकता, क्योंकि उसका मूल्य वजन के हिसाब से बहुत ही कम होता है।

३. टिकाऊपन
(Durability)

उत्तम मुद्रा बहुत ही टिकाऊ होती है। वह घिसावट से नष्ट नहीं होती। सोना बहुत ही टिकाऊ होता है। इसलिये उसका मूल्य बहुत ही कम घटता है। वह घिसता भी कम है। इसका प्रयोग आभूषणों के लिये खूब होता है। उसे संचित कर बहुत वर्षों तक रखा जा सकता है। जो चीजें शीघ्र नष्ट होने वाली हैं, वे मुद्रा का काम नहीं दे सकतीं। पशु भी ऐसे ही हैं। टिकाऊपन इसलिये भी जरूरी है कि अन्न की भाँति सोना या चाँदी की एक बार ही खपत नहीं हो सकती। ये बहुत दिनों तक बने रहते हैं। इनका परिणाम प्रत्येक वर्ष के उत्पादन से बढ़ रहा है। दुनिया की सोने की पूर्ति स्टाक है, अनाज की तरह नहीं।

४. लय और एकत्व
(Homogeneity and uniformity)

उत्तम मुद्रा की वस्तु को एक रूप का और लयात्मक होना चाहिये। यदि उसका गुण एक-सा नहीं रहे तो एक ही वजन के धातु-खंड का

मूल्य एक नहीं होगा। जितने सिक्के हों सभी एक तरह के हों। इससे चुनने का व्यर्थ काम नहीं करना होगा। सोना-चाँदी के गुणों का न तो नमूना ही रखना पड़ता है, न वर्गीकरण ही करना पड़ता है। सभी विशुद्ध सोना एक ही है।

५. विभाजनशीलता और मिलावटता
(Divisibility and malleability)

सोना और चाँदी-जैसे धातुओं को कई टुकड़ों में बाँटा जा सकता है। सभी टुकड़े एक रुप हो सकते हैं। वजन के अनुसार उनका मूल्य भी निर्धारित किया जा सकता है। इसी तरह उन टुकड़ों को अलग कर फिर एक में मिला सकते हैं। उन्हें पिघलाकर उन पर सम्राट का चित्र अंकित किया जा सकता है।

६. पहचान
(Easy Recognition)

उत्तम मुद्रा की धातु शीघ्र पहचानी जा सकती है। उसे देखकर, उसकी आवाज पहचाकर, उसे कसौटी पर कसकर, हम उसकी उत्तमता का निर्णय कर सकते हैं। इस तरह कोई आदमी धोखा नहीं खा सकता। सोना और चाँदी को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसलिये उनका काफी प्रयोग मुद्रास्फीति में होता है। पत्र-मुद्राएँ भी शीघ्र ही पहचानी जा सकती हैं। धातवीय सिक्काओं का आकार-प्रकार भी ठीक किया हुआ रहता है। फलत: उनमें कोई खराबी नहीं आती।

७. मूल्य की अटलता
(Fixity of Value)

मुद्रा के धातु का मूल्य बहुत दिनों तक एक समान रहना चाहिये, क्योंकि इसको तो दूसरे मूल्यों के मापक का काम करना है। सोना,

चाँदी, आदि का मूल्य बहुत काल तक एक समान रहता है। इनका वार्षिक उत्पादन इतना कम होता है कि उनकी कुल पूर्ति नहीं बदल सकती और इसलिये मूल्य बहुत कम प्रभावित होता है। हमें (Philosopher's Stone) पारस-पत्थर प्राप्त नहीं है कि हम उसके स्पर्शमात्र से लोहे को भी स्वर्ण में बदल सकें। यदि ऐसा होने लगे तो अवश्यमेव सोने का मूल्य प्रभावित होगा। इसलिये जो पत्र-मुद्रा पूर्णतया शासित होती है, वह सबसे अच्छी होती है। फिर भी पत्र-मुद्रा की बाढ़ होने का भय बना रहता है। हाँ, कोशिश करने पर यह भय दूर हो सकता है। ऐसा हुआ भी है।

(८) मुद्रा को अभावपूर्ण (Scarcity) होना चाहिये। तभी उसकी मान्यता अधिक होगी। अगर कम वजन में होते हुये भी मुद्रा का मूल्य ज्यादा लगे तब उसकी वहनीयता बढ़ जाती है और दुनिया के सभी भागों में उसका आयात-निर्यात हो सकता है इससे उसका मूल्य सर्वत्र बराबर होगा।

मुद्रा का वर्गीकरण

(Classification of Money)

स्थूल रीति से मुद्रा दो वर्गों में बाँटी जा सकती है—यथा (अ) धातविय मुद्रा और (ब) पत्र-मुद्रा। धातविय मुद्रा को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (१) धातविक करेंसी या धातवकि चलती मुद्रा और (२) धातव य मान। धातवीय करेंसी या सिक्कों के भी दो भेद हैं (१) पूर्ण वजनदार (full bodied) और (२) चिह्नमूलक (Token)। इन दोनों में से प्रत्येक सीमित कोश-प्रवेश्य असीमित कोश-प्रवेश्य हो सकते हैं।

धातविक प्रमापStandard भी दो तरह का होता है; (१) एक धातवीय मुदाप्रमाप और (२) द्विधातवीय मुद्राप्रमाप।

पत्र-मुद्रा को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (१)

पत्र-करेंसी या नोट और (२) पत्र-प्रमाप या विधि। पत्र-करेंसी परिवर्तन शील अथवा अपरिवर्तनशील होती है।

इनके अलावे साख-संबंधी दूसरी क्रय-शक्तियाँ भी हैं जैसे चेक, ड्राफ्ट, हुँडी। इन्हें बैंक-मुद्रा भी कहते हैं।

यथार्थ मुद्रा
(Real Money)

यह वह मुद्रा है जो वस्तुओं को खरीदने और ऋण अदा करने में व्यवहृत होती है। पौंड, शिलिङ्ग, पेन्स या रुपया, यथार्थ मुद्रा हैं।

आधार मुद्रा
(Account Money)

यह वह मुद्रा है जिसमें लेखा-बही रखी जाती है और जिसमें ऋण और वस्तुओं के दाम प्रकट किये जाते हैं। यह विनिमय के साधक का काम नहीं भी कर सकती है। रुपया हमलोगों का आधार मुद्रा है। स्टरलिंग, डॉलर, फ्रांक और मार्क ये क्रमशः ग्रेटब्रिटेन, संयुक्तराष्ट्र, फ्रान्स और जर्मनी की आधार मुद्राएँ हैं। इन राष्ट्रों की ये चलती हुई मुद्राएँ भी हैं। पर ऐसा हमेशा नहीं होता। बात यह है कि आधार मुद्रा यथार्थ मुद्रा से भिन्न हो सकती है। इंगलैंड में कुछ बही-खाते अभी भी गिन्नियों में रखे जाते हैं। बिक्री भी गिन्नी के हिसाब से होती है। लेकिन प्रचलन में गिन्नियाँ नहीं पाई जातीं। इसे "स्टैंडर्ड मुद्रा" भी कहते हैं।

धातवीय मुद्रा
(Metallic Money)

पूर्ण वजनदार मुद्रा को ही द्रव्य-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा धातुओं की बनी होती है। मुख-मूल्य के बराबर ही उसकी भीतरी

धातु का मूल्य होता है। द्रव्य-मुद्रा विनिमय का माध्यम और मूल्य का धारक होती है।

प्रतिनिधि मुद्रा
(Representative Money)

मुद्रा के कुछ ऐसे भी भेद हैं जो विनिमय के माध्यम तो हैं, परंतु मूल्य के धारक नहीं। उन्हें द्रव्य-मुद्रा में बदला जा सकता है। नोट प्रतिनिधि मुद्रा ही है। सरकार के नोट और बैंक के नोट रात-दिन देखे जाते हैं। प्रतिनिधि मुद्रा दो तरह की होती है—रूपान्तरशील और अरूपान्तरशील। परिवर्त्तनशील प्रतिनिधि-मुद्रा को बैंक में देकर द्रव्य-मुद्रा ले सकते हैं, परन्तु अपरिवर्त्यशील प्रतिनिधि-मुद्रा के बदले में द्रव्य-मुद्रा नहीं मिल सकती है।

कोष-प्रवेश्य-मुद्रा
(Legal Tender)

कानून द्वारा जिस मुद्रा को स्वीकार करना पड़ता है, उसे कोष-प्रवेश्य या प्रामाणिक मुद्रा कहते हैं। कर्ज देनेवाला इसे लेगा ही। इस प्रकार की मुद्रा के दो भेद होते हैं—सीमित और असीमित। असीमित कोष-प्रवेश्य मुद्रा को किसी हद तक लिया जा सकता है। रुपया असीमित कोश-प्रवेश्य मुद्रा है। शिलिंग २ पौंड तक लिया जा सकता है। इसलिये यह सीमित-कोश-प्रवेश्य मुद्रा है। पौंड इसके विपरीत असीमित-कोश-प्रवेश्य मुद्रा है।

अभीप्सित मुद्रा
(Passable Money)

वह है जो कोश-प्रवेश्य न होने पर भी कर्ज वापस करते समय या दूसरे काम के समय स्वीकार कर ली जाती है। चेक या बैंक नोट भी ऐसी हो अभीप्सित मुद्रा हैं।

सहकारी मुद्रा :

(Subsidiary Money)

इसे छोटे-छोटे कामों में प्रयुक्त किया जाता है। अट्ठन्नी, चौअन्नी दुअन्नी, एकन्नी, पैसा आदि हमारे देश की छोटी सहकारी मुद्राएँ हैं। ये साधारण धातु की बनी होती हैं। ये सीमित-कोश-प्रवेश्य हैं।

सांकेतिक मुद्रा :

(Token Money)

टोकेन सिक्का का मौखिक मूल्य अन्तरिक मूल्य से अधिक होता है। इसकी वजन कम होती है, पर मूल्य ज्यादा। इसके चलाए जाने के कारण हैं। यह सस्ता पड़ता है। इसको गलाये जाने का डर नहीं रहता है।

कल्पित मुद्रा :

(Fiat)

इस प्रकार की मुद्रा के चलने का कारण यह है कि देशाधिपति यह आज्ञा देता है कि इसे कोश-प्रवेश्य होना चाहिये। नोट ही अधिकतर कल्पित मुद्रा होता है। जब कोई देश स्वर्ण प्रमाप अपनाता है तब कल्पित-मुद्रा प्रतिनिधि-मुद्रा के रूप में परिणत हो जाती है।

मुद्रा और मुद्रा की सृष्टि

(Money and Creation of Money)

पहले जब मूल्यवान धातुओं का प्रयोग मुद्रा की तरह होने लगा, तब प्रत्येक विनिमय के समय भार-मुद्रा प्रणाली काम में लाई जाती थी। धातु को तौल कर काम किया जाता था। परन्तु इस प्रणाली के कतिपय अवगुण थे। शीघ्र मुद्रास्फीति आरंभ हुई। इसके कारण सिक्के एक रूप, एक वजन के और उत्तम होने लगे। इन दिनों सिक्कों के किनारे कटे रहते हैं जिससे वे कम घिसते हैं। उनपर नक्काशी भी की जाती है, जिससे जालसाजी का भय कम रहता है।

पहले मुद्रा की सृष्टि मुक्त और कृपान्वित होती थी। मुक्त इसलिए कि कोई भी आदमी धातु को सिक्कों में बदल सकता था और कृपान्वित इसलिये कि ढलाई के लिये कोई चार्ज नहीं लगता था।

व्ययानुकूल मुद्रास्फीति में धातु को सिक्कों में बदलने का व्यय लगता है। लाभानुकूल मुद्रास्फीति में धातु को सिक्कों में बदलने का जितना खर्च लगता है,उससे अधिक खर्च काटा जाता है। लाभानुकूल मुद्रास्फीति दो तरह से होती है। सिक्कों में थोड़ी-सी दूसरी धातु मिला दी जाती है या अधिक खर्च काटा जाता है।

सोने का स्फीति-दाम वह दर, है जिस पर स्वर्णमुद्रा टकसालघर के द्वारा स्वर्णबुलियन के बदले में दी जाती है।

ग्रेशम का नियम
(Gresham's Law)

मुद्रा के गमनागमन के संबंध में ग्रेशम का नियम महत्वपूर्ण है। महारानी एलिजावेथ के समय में मुद्रास्फीति की प्रणाली का सुधार करने के लिए प्रयत्न किया गया था। ट्यूडर वंश के राजाओं ने बहुत-सी घिसी और निकृष्ट मुद्राएँ चलाई थीं। एलिजावेथ ने नवीन और उत्कृष्ट मुद्राओं का प्रचार करके उनको हटाने का प्रयास किया। इसका नतीजा उलटा हुआ। ज्योंही नई मुद्राएँ चलाई जाती थीं, वे प्रचलन से निकल जाती थीं और पहले की निकृष्ट मुद्राएँ रह जाती थीं। यह देखकर रानी अवाक् रह गई। उसने ग्रेशम की सम्मति ली। ग्रेशम इङ्गलैंड का कोषाध्यक्ष था। उसने इस घटना को देखकर एक सूत्र बनाया जो "ग्रेशम का नियम" कहलाता है। इस नियम का कथन है कि "निकृष्ट मुद्रा उत्कृष्ट मुद्रा को राष्ट्रीय व्यवहार तथा प्रचार से पृथक कर देती है। ऐसा उस समय होता है जब दोनों ही पूर्ण कोश-प्रवेश्य होती हैं।" यह निकृष्ट मुद्रा का तात्पर्य कुरूप हलके सिक्के से नहीं है। इसका तात्पर्य उस

मुद्रा से है जो भीतरी मूल्य की दृष्टि से निकृष्ट या सस्ती होती है। इस नियम को यों रखा जा सकता है, "जो मुद्रा विनिमय या आन्तरिक मूल्य में निकृष्ट होती है, वह आम तौर से इस मूल्य में श्रेष्ठ मुद्रा की अपेक्षा अधिक चलायमान होती है।" उदाहरण के लिये जब स्वर्ण मुद्राएँ चलती हैं तो जो घिस्सी, पुरानी मुद्राएँ होती हैं, वे निकृष्ट होती हैं। जब एक ही साथ धातवीय मुद्रा और पत्र-मुद्रा चलती है तब पत्र-मुद्रा ही निकृष्ट मुद्रा होती है। चलन से उत्कृष्ट मुद्रा के लुप्त हो जाने का आखिर क्या कारण है ?

(१) ढलाई :—जब अच्छी और बुरी मुद्राएँ साथ ही साथ चलती हैं तो लोग अच्छी मुद्रा को ही पिघलाते हैं और उससे आभूषण बनाते हैं। अच्छी और नई मुद्राएँ कम घिसी रहती हैं।

(२) विदेशी लेन-देन :—विदेशों में सोना और चाँदी भेजते समय भी व्यापारियों का ध्यान उत्कृष्ट और नई मुद्राओं की ओर ही रहता है। इसलिये वे इन्हें ही अपनाते हैं।

(३) गाड़कर रखने से :—जब कोई आदमी मुद्राओं को जमीन में गाड़कर रखना चाहता है तब वह उत्कृष्ट सिक्काओं को ही अधिक पसन्द करता है।

साधारण जीवन में लोग निकृष्ट मुद्राओं का ख्याल नहीं करते हैं क्योंकि वे जल्दीबाजी में रहते हैं। फिर भी कुछ खास प्रयोगों में इसका जरूर ख्याल किया जाता है।

वर्तमान सरकारें पहले पुरानी मुद्राओं को चलन से हटा लेती हैं तब नई मुद्राएँ चलाती हैं अथवा दोनों काम इस प्रकार एक ही साथ करती हैं कि नई मुद्राओं को लोग छिपाकर न रख लें। कभी-कभी द्विधातवीय मुद्रा-प्रणाली में भी ग्रेशम का नियम सक्रिय पाया जाता है। इस प्रणाली के अनुसार स्वर्ण और रजत मुद्रायें स्वतंत्र रूप से स्फीत होती हैं और वे असीम-कोष-प्रवेश्य होती है। इन दोनों में कोई धातु का अधिक मूल्य लगता है। अतः अति मूल्य वाली धातु

कम मूल्य वाली धातु को चलन से निकाल बाहर कर देता है। जब सोना तथा चाँदी का बाजार-अनुपात मिन्ट-अनुपात से भिन्न होता है तब दोनों में से कोई एक धातु प्रचलन से बाहर हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पहले ऐसा ही उदाहरण भारतवर्ष में उपस्थित हो गया था। उस समय स्वर्ण-मुद्रा और टोकेन रुपए दोनों ही उपस्थित कोश-प्रवेश्य मुद्रायें थीं। फलतः सभी स्वर्ण-मुद्राएँ चलन से विलुप्त हो गईं। सरकार ने समझा कि भारतवर्ष स्वर्ण प्रमाप के विरुद्ध था। परन्तु सोने की मुद्राओं के छिप जाने का कारण ग्रेशम-नियम का कार्य था। ऐसी स्थिति बहुत बार उठ खड़ी होती है।

ग्रेशम का नियम इन सभी स्थितियों के होने पर भी कुछ कारणों से काम नहीं कर सकता। यदि उत्कृष्ट और निकृष्ट मुद्राओं का पूरा भंडार समाज की आवश्यकता के बराबर न हो और लोगों को उनकी कमी नजर आए तो निकृष्ट मुद्राओं को छोड़कर उत्कृष्ट मुद्राएँ चलन से नहीं हट सकती। यह नियम फिर उस समय नहीं लागू होगा जब समूचा समाज निकृष्ट मुद्रा को लेने और चलाने से अस्वीकार कर दे। यदि माँग, घरेलू मुद्रा की कीमत धातु की बाजार कीमत से ऊपर जाने की ओर झुके तो परराष्ट्र से उत्कृष्ट मुद्रायें देश में आ जायँगी और उत्कृष्ट मुद्रा की कीमत को चढ़ने से रोक देंगी।

द्वितीय अध्याय

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन

(Changes in the Value of Money)

अर्थशास्त्र में किसी चीज का मूल्य मुद्रा की वह रकम है जिसके बराबर वह होती है। किसी चीज के मूल्य को मुद्रा में प्रकट करते हैं। इसी तरह मुद्रा का मूल्य सभी चीज में प्रकट किया जाता है। मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति ही है। मुद्रा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसे हम मुद्रा के लिये मुद्रा नहीं चाहते। अन्य चीजों को हम केवल उनके लिये ही चाहते हैं। मुद्रा की माँग हम इसलिये करते हैं कि उसके द्वारा हम उन चीजों को खरीद सकते हैं जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इस तरह मुद्रा विनिमय का एक साधन, माध्यम या उपाय है। मुद्रा यथार्थ मूल्य की चीजें और कार्यों को खरीदने के लिये व्यवहृत होती है। मुद्रा का मूल्य विनिमय में स्वीकृत होने से उद्भूत होता है। लोग अपनी आमदनी को नाना प्रकार की चीजों को खरीदने में खर्च करते हैं। इन चीजों के बदले जो दाम देने पड़ते हैं, यदि उनकी औसत निकाली जाय तो हम मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा मूल्य को जान सकते हैं। मुद्रा के मूल्य का विचार बहुत ही प्रधान है और साथ ही साथ बहुत मायावी भी है। यह कह देना बड़ा सरल है कि मुद्रा का मूल्य वही है जो यह खरीद सकती है। यदि चीजों की कीमतें अधिक हों तो मुद्रा का मूल्य कम होगा।

मुद्रा के मूल्य के साथ कोई विशेषण लगना जरूरी है। मुद्रा के प्रयोगों के अनुसार इसके अनेकों मूल्य हो सकते हैं। इसलिये हमें

कुछ माप-दंडों का निर्माण कर लेना जरूरी है। अधिकतर मुद्रा के मूल्य के तीन मान निश्चित किये गये हैं। एक मुद्रा का थोक मूल्य—Wholesale value—होता है। इसमें कच्चा माल आते हैं, जिन्हें प्रचुर परिमाण में खरीदा जाता है। दूसरा, मुद्रा का खुदरा मूल्य—Retail value—होता है। साधारण परिवारों के द्वारा उपभुक्त चीजों का हिसाब करने से इस प्रकार के मूल्य को निकाला जाता है। पर इस मूल्य को निर्धारित करने में पहली बाधा तो यह कि हम किसी साधारण परिवार की औसतन खपत का किस प्रकार पता लगा सकें। इसके लिए काफी जाँच-पड़ताल की जरूरत है। दूसरी बाधा यह है कि यदि हम चीजों की एक सूची तैयार कर लें तो उनके मूल्यों को किस तरह निर्धारित किया जा सके? इस प्रकार की कीमतों का एक मान तो होता ही नहीं, समय-समय पर, स्थान-स्थान में कीमतों में फर्क पड़ता है। इस प्रकार के मूल्य को जीवन का व्यय—Cost of Living—कहते हैं। मुद्रा का तीसरा मूल्य श्रम-मूल्य—Labour value of Money—है जिसका निर्धारण किसी दिन के काम करने पर मजदूरी की जो दर मिलती है, उससे होता है। फिर भी, यहाँ भी परिभाषा की कठिनाई है और श्रम के भेदों का निर्णय भी कठिन हैं। मुद्रा के मूल्य की परिभाषा में अतः कट्टरता है और कोई एक मत नहीं है। इस तरह निरपेक्ष रूप से हम मुद्रा के मूल्य को नहीं माप सकते। केवल काल सापेक्ष मूल्य को ही नापा जाता है। अतएव हम केवल मुद्रा के मूल्य में हुये परिवतनों को ही माप सकते हैं।

चीजों तथा कार्यों की कीमतों के औसत को कीमत की सतह—Price level—कहते हैं। कीमत-सतहों के यूथ को मूल्य-सूची या देशनांक—Index Number—कहते हैं। मूल्य-सूची किसी टेबुल में एकत्र किये गये कीमत-तलों का खाका है जिसका काम वस्तुओं के दामों में हुए परिवर्तनों को बतलाना है। वह अंक-संबंधी लेखा है। जब कीमतों का तल ऊँचा चढ़ जाता है तो मुद्रा का मूल्य घट जाता

है। मुद्रा से हम कम चीजों को खरीद सकते हैं। इसी तरह जब कीमतों का तल कम होता है तब मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। इस तरह मुद्रा की क्रय-शक्ति अर्थात् मूल्य कीमत-तल की विमुख दिशा में घटती या बढ़ती है।

मूल्य की सूची आंकिक साधन हैं। फिर भी यह बहुत ही उलझित होती है। जब बहुत काल तक के दाम में होनेवाले परिवर्तनों को देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यदि कुछ चीजों की कीमत बढ़ रही हैं तो कुछ चीजों की कीमत घट रही हैं। जिन चीजों की कीमतें बढ़ या घट रही हैं वे सभी समान गति से नहीं, कोई कीमत अधिक तेजी से बढ़ रही है तो कोई कीमत कम तेजी से। इसी प्रकार कोई कीमत बड़ी तेजी से घट रही है तो कोई कीमत कम तेजी से। फिर भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यद्यपि कीमतों के बढ़ने-घटने की गतियाँ असमान हैं तथापि उन सबके बीच कोई एक केन्द्रीय झुकाव है। कीमतें या तो बढ़ रहीं हैं या घट रही हैं। दूसरे शब्दों में, कीमत-तल या तो बढ़ रहा है या घट रहा है। केन्द्रीय झुकाव के बढ़ने से सामान्यतः चीजों की कीमतें बढ़ती हैं, उसके घटने से वे भी घटती हैं। मूल्य-सूची का काम इसी केन्द्रीय झुकाव का दिग्दर्शन कराता है।

आधार-वर्ष

(Base year)

मूल्य-सूची तैयार करने के लिये हमें एक ऐसे काल को चुनना पड़ता है जो आधार अर्थात् Base का काम दे। किसी काल के लिये एक वर्ष काम दे सकता है। वर्ष भूतकाल में होना चाहिये। उस वर्ष की कीमतों के साथ, दूसरे वर्षों की कीमतों की तुलना की जाती है। जिस तरह नक्शा बनाने के लिये डेटम रेखा की जरूरत होती है, उसी तरह मूल्य-सूची तैयार करने के लिये किसी वर्ष की जरूरत पड़ती है। मूल्य-सूची की उत्तमता के लिये आधार वर्ष का चयन बड़ी

सतर्कता से होना चाहिये। आधार वर्ष स्वाभाविक होना चाहिये। इसे महँगी, दुर्भिक्ष, या सुखाड़ में नहीं पड़ना चाहिये। कुछ लोग निष्ठा के लिये कुछ वर्षों की औसत को ही आधारवर्ष मानते हैं। सन् १६२६ आधार वर्ष माना जाता है; क्योंकि यह विश्वव्यापी मन्दी के शुरू होने का वर्ष है। सन् १६१३ इसलिये आधार वर्ष माना जाता है क्योंकि यह गत वर्ष के पूर्व का वर्ष है। सन् १६३६ गत महायुद्ध के बाद का आधार वर्ष माना जाता है। आधार वर्ष की कीमतों को १०० माना जाता है, दूसरे वर्षों की कीमतों को उसी के अनुसार प्रकट किया जाता है। इससे जान पड़ता है किचीजों का दाम-तल लगभग तीगुना हो गया है।

मूल्य-सूची का एक नमूना

		सन् १६३६ में	सन् १६४२ में
प्रतिमन	चावल का दाम	५ रु० = १००	२५ रु० = ५००
,,	अरहर ,,	७ रु० = १००	१०½ रु० = १५०
,,	आटा ,,	६ रु० = १००	३६ रु० = ६००
,,	चीनी ,,	१२ रु० = १००	५४ रु० = ४५०
,,	चाय ,,	१०० रु० = १००	७५ रु० = ७५
औसत		५००÷५ = १००	१७७५÷५ = ३५५

वस्तुओं का निर्वाचन

(Selection or choice of Articles)

हमें कुछ ऐसी चीजों का चुनाव करना है जो मुद्रा की क्रय-शक्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हों। इन चीजों को बराबर मिलते रहना चाहिये। उनका गुण नहीं बदलना चाहिये। गुण बदलने से मूल्य-सूची सर्वदा सत्य नहीं होगी। मूल्य-सूची कच्चे मालों को इसलिये अपनाती है क्योंकि इसका दाम आसानी से जाना जाता है। वस्तुओं का चुनाव इस दृष्टि से होना चाहिये कि समाज के जिस वर्ग की

मूल्य-सूची तैयार की जाय उस वर्ग द्वारा उपभुक्त वे चीजें होनी चाहिये। यदि हम श्रम-वर्ग की मूल्य-सूची तैयार करना चाहते हैं तो श्रमिकों द्वारा व्यवहृत चीजों का प्रवेश होना चाहिये। यदि हम किसी समाज की मूल्य-सूची तैयार करना चाहते हैं तब हमें उसके कुल वर्गों के द्वारा उपभुक्त चीजों का उल्लेख करना होगा। तभी मूल्य-सूची ठीक उतर सकती है।

वस्तुओं की संख्या
(Number of Articles)

मूल्य-सूची में कितनी चीजों का प्रवेश होना चाहिये? फिशर महोदय का कथन है कि २० चीजों के रहने पर मूल्य-सूची पूरा काम दे सकती है। फिर भी यदि ५० चीजों को शामिल कर लिया जाय तो वह और भी अच्छी होगी। संख्या जितनी ही अधिक होगी, मूल्य-सूची उतनी ही अधिक ठीक होगी। बहुधा मूल्य-सूची ४० और ५० के भीतर चीजों को ग्रहण करती है। ऐसा करने से सभी प्रधान चीजें प्रविष्ट हो जाती हैं। गलती होने का भय जाता रहता है।

दामों को एकत्र करना
(Collection of Prices)

मूल्य-सूची में शामिल की गई चीजों की कीमतों को प्रदर्शित करने में पूरा ध्यान रखना चाहिये। भोक्तागण खुदरा दाम से अधिक संबंधित रहते हैं। परन्तु खुदरा दामों को एकत्र करना मुश्किल और भ्रामक है। बात यह है कि जगह-जगह, समय-समय खुदरा दाम भिन्न-भिन्न होते हैं। थोक दामों को इकट्ठा करना सहज है। यही कारण है कि ज्यादा मूल्य-सूचियाँ थोक दामों पर आधारित होती हैं। हमें केवल दामों का लिस्ट ही नहीं तैयार करना है, बल्कि परिमाणों का भी। परन्तु परिमाणों का लिस्ट तैयार करना और भी कठिन है। दूसरी कठिनाई यह है कि चीजों के दामों को प्रकाशित

करने की प्रथा सर्वथा नूतन है। इधर भारतवर्ष में भी गत महायुद्ध के समय से चीजों की कीमतों की सूचियाँ प्रकाशित होती रही हैं। इनसे मूल्य-सूची का निर्माण कर जीवन-निर्वाह के व्यय में हुए परिवर्तनों को पता लगाना सहज हो गया है।

मध्यमा निकालना
(To strike out the Mean)

मध्यमा निकालने की विधियाँ नाना प्रकार की हैं। प्रो० फिशर ने अपनी पुस्तक में १३४ उपाय बतलाए हैं। इनमें आंकिक, ज्यामितिक, तथा संवादिक मुख्य हैं। किसी भी तरीका को अपनाया जाय, नतीजा में ज्यादा फर्क नहीं पड़ सकता। एक प्रतिशत अन्तर कोई अन्तर नहीं है। आंकिक मध्यमा सबसे सरल है। २ तथा ८ की आंकिक मध्यमा $\frac{२+८}{२} = \frac{१०}{२} = ५$ होगी। २ तथा ८ की ज्यामितिक मध्यमा $\sqrt{२ \times ८} = ४$ हुई। २ तथा ८ की संवादित मध्यमा

$\frac{१}{\frac{\frac{१}{२}+\frac{१}{८}}{२}} = ३\frac{१}{५}$ होगी।

महत्वांकित मूल्य-सूची
(Weighted Index Number)

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे तो यही पता लगता है कि जितनी चीजें हैं, सभी का प्राधान्य एक-सा है। पर वास्तव में सभी चीजें एक ही तरह प्रधान नहीं हैं। तम्बाकू के दाम बढ़ने से जो प्रभाव पड़ेगा, वह चावल के दाम बढ़ने पर पड़े प्रभाव से कम होगा। इन प्रभावों के अन्तर को विषम मूल्य-सूची के द्वारा प्रकट किया जाता है। अब वजन करने की कई विधियाँ हैं। सबसे सरल उपाय सूची में प्रधान चीजों के कुछ (३ या ४) भेदों की कीमतों को अंतर्हित

करता है। गेहूँ को यदि Weight देना है तो हमें भारतीय गेहूं, अमेरिकन गेहूं, आस्ट्रेलियन गेहूँ, अँगरेजी गेहूं, की कीमतों की मध्यमा निकालकर तब गेहूं का दाम लिखना चाहिये। दूसरा तरीका गुणन का है। यह हठवादी तरीका है। मान लीजिये कि गेहूं की प्रधानता तम्बाकू की प्रधानता से चौगुनी है। यदि गेहूं का दाम ५० प्रतिशत से बढ़कर १५० हो जाय और तम्बाकू का दाम १०० से घटकर ५० हो जाय तो यदि हम Weighting नहीं निकालें तो मूल्य-सूची में कोई परिवर्तन न होगा। जब हम प्रधानता का ख्याल करेंगे तो (६००+५०)÷५अर्थात् १३० होगा। इससे जान पड़ता है कि दाम ३० प्रतिशत बढ़ गया है।

दो वर्षों के बीच में बदलनेवाली चीजों का ख्याल करना
(Chain Index Number)

यदि दो वर्षों में उपभुक्त चीजों के चरित्र में अन्तर हो तो प्रो० मार्शल के द्वारा बतलाये शृंखलित मूल्य-सूची का सहारा लेना पड़ेगा। पहले एक वर्ष (१६३६) की मूल्य-सूची तैयार की जाएगी। दूसरे वर्ष (१६४०) में जो नई चीजें आई हैं, उन्हें अलग कर देंगे। फिर १६४० की मूल्य-सूची १६३६ को ध्यान में रखकर निकालेंगे। १६४० की नई चीजों की मूल्य-सूची को १६४१ को ध्यानस्थ कर तैयार करना पड़ेगा। हाँ, १६४१ में लाई नई चीजों को हम छोड़ देंगे। इस तरह हम यह तरीका दुहराते जायेंगे। इससे मुद्रा की क्रय-शक्ति में होनेवाले परिवर्तन का पता चल जायगा।

दाम के परिवर्तन के बारे में यह लिखना जरूरी है कि चीजों के दामों में काफी उलट-फेर होता रहता है। यह जरूरी नहीं है कि एक ही समय सभी दाम बदलें। कुछ दाम ऊपर उठते, कुछ नीचे गिरते हैं। फिर भी एक बात यह दामों का परिवर्तन इस लय के साथ होता है कि हम कह सकते हैं कि एक केन्द्रीय झुकाव जरूर वर्तमान रहता है। दाम वस्तुओं के बीच का अनुपात है।

यह कहा गया है कि मुद्रा मध्यस्थ मात्र है। पर यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि यह मध्यस्थ दूसरों के द्वारा ही परिचलित नहीं बल्कि वह स्वयं अपना जीवन परिचालित करता है। साधन होने के साथ यह साधक भी है। यह चीजों की कीमतों पर अपना असर डालता है। ऐसा जान पड़ता है कि वह ऐसा गज है जो अपनी लम्बाई के साथ चाल चलता है। मुद्रा निर्जीव और निरीह नहीं है। यह स्वयं भाग लेती है। इसका मूल्य पदार्थगत है, घटनाजन्य नहीं। इसी कार्यशीलता के कारण अर्थशास्त्र के कितने प्रश्न उठ खड़े होते हैं। चीजों की अपनी Volition होती है जिसके द्वारा उनकी कीमतें बदलती रहती हैं। कच्चे मालों की कीमतें द्रुतगति से बदलती हैं। तैयार चीजों, शिल्पों का दाम कम तेजी से घटता हैं। शिल्पकृत चीजों के व्ययों का नियंत्रण होता रहता है। उत्पादनकर्त्ता अपने मन के अनुसार उन्हें बेच सकते हैं या नहीं बेच सकते हैं। इन्हीं कारणों से खुदरा दाम थोक दाम से कम तेजी से बदलता है।

मजदूरी कीमतों की अपेक्षा कम वेग से घटती या बढ़ती है। वेतन तो मजदूरी से भी कम बदलता है।

मूल्य-सूची का उद्देश्य

(Purposes of Index-Number)

मूल्य-सूची मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति माप ले सकती है। इसके लिये सभी श्रेणियों के भी कामों द्वारा उपभुक्त चीजों को सम्मिलित करना होगा। मूल्य-सूची श्रमजीवियों के जीवन-निर्वाह का व्यय माप सकती है। इससे मजदूरों की प्रति घंटे मजदूरी का हिसाब उपार्जन के माप-दंड द्वारा निकाला जा सकता है। इसको बनाने का आधार थोक मापदंड भी हो सकता है। जब हमारा उद्देश्य कीमतों की दृढ़ता हो सकती है तब थोक दामों के आधार पर टेबुलर स्टैन्डर्ड का निर्माण किया जा सकता है।

मुद्रा मूल्योत्थान और मूल्य-ह्रास
(Appreciation and Depreciation of Money)

Appreciation का अर्थ मुद्रा के मूल्य में बढ़ती होना है। मुद्रा का मूल्योत्थान उस समय होता है जब मुद्रा की एक अदद चीजों की बहुत मात्रा को खरीद सकती है। उस समय सामान्य कीमत-तल निम्नमुखी होता है।

Depreciation का अर्थ मुद्रा की क्रय-शक्ति का गिरना है। जब मुद्रा की एक अदद चीजों की कम अददों की खरीदती है और क़ीमत-तल बढ़ जाता है तब मुद्रा का मूल्य-पतन होता है।

Inflation का मानी दामों का बढ़ना है, क्योंकि उस समय मुद्रा का कोष अधिक हो जाता है। जब करेंसी की पूर्ति बढ़ जाती है और उसके लिये लोगों की माँग कम रहती है, उस समय दाम के तल का बढ़ना अवश्यंभावी है। इसलिये Inflation का पर्याय मुद्रा का मूल्य-ह्रास है। पर यहाँ यह जान लेना चाहिये कि कीमत-तल का बढ़ना करेंसी की अधिक पूर्ति के कारण नहीं बल्कि उत्पादन-व्यय के कारण भी हो सकता है। कभी उत्पादन-व्यय के घटने पर भी दाम के न घटने से जो Inflation होता है उसे मुनाफे का इनफलेशन कह सकते हैं। युद्धकाल में करेन्सी का इनफलेशन जरूरी हो जाता है। चीजों की कीमतें इसलिये बढ़ती हैं, क्योंकि सरकार सैनिकों के लिये उन्हें अधिक पैसा देकर खरीदती है। कीमतों के बढ़ने से मजदूरी भी बढ़ानी पड़ती है और इसके लिये करेन्सी का भंडार भी बढ़ाना ही पड़ता है। सेना का खर्च भी इसी तरह पूर्ण किया जाता है। जब करेन्सी की पूर्ति को कम कर दिया जाता है, तब डिफलेशन (Deflation) प्रारंभ होता है। इसका ध्येय मुद्रा के मूल्य को बढ़ाना है। डिफ्लेशन से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। इसके प्रतिफल कीमतों का तल कम हो जाता है। करेन्सी के लिये अत्यधिक माँग होने से भी दामों में बहुत कमी आ जाती है।

Reflation नियंत्रित इनफलेशन का साधारण रूप है। जब कीमतें बहुत ही गिर जाती हैं और आर्थिक काम-धन्धे लाभदायी नहीं रहते, तब करेन्सी के मालिक भ्रमण या व्यवहार में अधिक मुद्राएँ रखते हैं, जिसका ध्येय कीमतों को बढ़ाकर काम-धन्धों को उत्साहित करना है। मन्दी को दूर करने का यह एक तरीका है। जो लोग मुद्रा को मन्दी का कारण मानते हैं, वे इसे अपनाते हैं।

वस्तुओं की कीमतों में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव
(Effects of changes in the prices of goods)

केन्स महोदय ने A Tract on Monetary Reform में समाज को तीन भागों में विभाजित किया है यथा: (१) रुपया लगाने वाला वर्ग (२) व्यावसायिक वर्ग तथा (३) अर्जन करने वाला वर्ग। रुपया लगाने वाले या लगानपानेवाले वर्ग में वे लोग आते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविक दौलत को सदैव के लिये उद्योग में लगा दिया है।

यदि मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन से प्रत्येक आदमी एक ही तरह प्रभावित हो तो कोई असुविधा उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। बात यह है कि मूल्य परिवर्तन होने से समाज के उपयुक्त तीन वर्ग विभिन्न रूप से प्रभावित होते हैं। पहले हम सम्पत्ति-वितरण पर मूल्य-परिवर्तन के असर को देखेंगे।

जब वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं तो कर्जदारों की बन आती है। जब कीमतें बढ़ जाती हैं, तब मुद्रा कम चीजें खरीदती है। इसका नतीजा यह होता है कि यद्यपि कर्जदार बराबर ही रकम को लौटाते हैं, फिर भी उनको चीजों के रूप में कम लौटाना पड़ता है। इसके विपरीत जब कीमतें घट जाती हैं, तब कर्जदार घाटे में रहते हैं, क्योंकि यद्यपि वे कर्ज की एक ही रकम लौटाते हैं, तथापि उन्हें चीजों के रूप में बहुत देना पड़ता है। इस तरह दामों के बढ़ने पर कर्जदाताओं को हानि होती है और उनके घटने पर उन्हें लाभ होता

है। यही कारण है कि रुपया लगाने वाले वर्ग को और रुपया संचित करने वालों को, उन दिनों क्षति होती है, जब कीमतें बढ़ती हैं और उन दिनों लाभ होता है, जब वे घटती हैं। रुपया लगाने के लिये विश्वास की वृद्धि आवश्यक है और वातावरण उसको अभिवृद्ध करने वाला होने के लिये कीमतों का कम होना जरूरी है। बँधी आमदनी वाला आदमी भी ऐसी दशा में घटी उठाता है। दामों का बहुत तेजी से बढ़ना या घटना चिरकालीन दशा का बोझ बहुत बढ़ा देता है, बहुत-से दिवालिया होते हैं, समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। यही कारण है कि कीमतों का सामान्य झुकाव चिरकाल से बढ़ती की ओर रहा है। कर्जदाता के ऊपर गिरती कीमतों के लाभप्रद असर विचारते समय हमें इस बात का ख्याल रखना होगा।

बढ़ती हुई कीमतों के दिनों मजदूरी उसी गति से नहीं बढ़ती है, जिस गति से कीमतें बढ़ती हैं। मजदूरी स्टीकी होती हैं। फलतः मजदूरी की क्रय-शक्ति कम होती जाती है। मजदूरों को बहुत कष्ट पहुँचता है। जब चीजों की कीमतें कम होने लगती हैं, मजदूरों को बहुत ही नफा होता है, क्योंकि उस समय मजदूरी समान गति से नहीं घटती। फिर भी एक बात है। यद्यपि कीमतों के बढ़ते समय मजदूरी समान वेग से नहीं बढ़ती, तथापि मालिकों का मुनाफा बढ़ता ही जाता है और वे अधिकाधिक मजदूरों को नियुक्त कर सकते हैं। इसलिए व्यक्तिगत मजदूर की क्रयशक्ति घटने पर भी मजदूर-वर्ग को लाभ ही होता है। जब कीमतें गिरती जाती हैं, मालिकों को घाटा होता है और वे मजदूरों को कम बहाल करते हैं। फलतः मजदूर-वर्ग को कम लाभ होता है।

उद्योगपति जब चीजों की कीमतें बढ़ती हैं, लाभ उठाते हैं और जब वे घटती हैं, तब घाटा उठाते हैं। इसका पहला कारण यह है कि उनमें से बहुत कर्जदार होते हैं और कर्ज लेकर अपना उद्योग विकसित और प्रसारित करते हैं। कर्जदार लोग कीमतों की बढ़ती के समय लाभान्वित होते हैं। दूसरा कारण यह है कि वे पुराने और

कम दाम पर कच्चा माल और शेयर खरीदते हैं और दाम बढ़ने पर तैयार माल बेचते हैं। तीसरा कारण यह है कि उत्पादन के कितने व्यय स्थायी रहते हैं और दाम बढ़ने पर वे नहीं बढ़ते और बढ़ते भी हैं तो अपेक्षाकृत कम वेग से। ऐसे व्ययों में मजदूरों की भृति और मशीनों का दाय है। इसका नतीजा यह होता है कि उद्योगपति ज्यादा नफा उठाते हैं। जब दाम गिरने लगता है, उद्योगपति नफा के बदले हानि उठाते हैं। वे अपना उत्पादन कम कर देते हैं। बेकारी बढ़ जाती है।

अब हमें यह देखना है कि दाम में उलट-फेर होने का उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उत्पादन का विकास उसी समय होता हैं जब वातावरण स्थिर और निभृत होता है। दामों के परिवर्तन से व्यवसाय में खतराएँ और अनिश्चयताएँ बढ़ जाती हैं। समाज को इसके कारण अधिक रुपया उद्योगपतियों को देना पड़ता है जो उनके लिए तो नफा है, पर समाज का नुकसान। जब चीजों का दाम बढ़ता है, अधिक नफा उठाने के विचार से लोग उत्पादन बढ़ा देते हैं। उत्पादक की चीजें बहुत बनती हैं। अन्ततः उन्हें घटी होती है, बाजार में बहुत चीजें आती हैं और माँग अपेक्षाकृत कम होने से उनका दाम कम हो जाता है। इसके कारण उत्पादकों को घटी होती है। वे लोग उत्पादन कम कर देते हैं। दाम गिर जाता है, बेकारी बढ़ जाती है।

बढ़ती कीमतों के दिनों में कर देनेवालों को नफा होता है, क्योंकि उन्हें चीजें कम देनी पड़ती हैं और रुपया कुछ अधिक परन्तु रुपए का मूल्य तो घट गया रहता है। लगान देनेवाले भी इसी तरह नफा में रहते हैं। सार्वजनिक ऋण का भार घट जाता। घटती कीमतों के दिनों में, कर देनेवालों को, लगान देनेवालों को, सरकार को, क्षति होती है।

यदि यह पूछा जाय कि बढ़ती कीमतों और घटती कीमतों में अधिक अच्छी कौन हैं तो हम यही कह सकते हैं कि घटती कीमतें

ही अपेक्षाकृत अच्छी हैं। उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाले समाज के लिए वे बहुत जरूरी होती हैं, क्योंकि स्थिर आमदनियों का उपयोग किया जा सकता है।

अभी तक हमने आर्थिक दृष्टिकोण से ही दाम के परिवर्तनों के प्रभावों का निरुपण किया है, परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अस्थिर दामों के कारण सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त रहता है और लोगों को मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। जब महँगी आती है, मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए उत्कट रहते हैं, परंतु मिल-मालिक मजदूरी नहीं बढ़ाते। फलतः हड़तालें होने लगती हैं। इसी तरह जब चीजों की कीमतें गिरने लगती हैं, मिल-मालिक मजदूरों की मजदूरी घटाना चाहते हैं, परन्तु मजदूर इसका विरोध करते हैं। फलतः मिल-मालिक कारखाना बन्द कर देते हैं। दोनों हालतों में बेकारी फैल जाती है। परन्तु गिरती कीमतों की घड़ी में बेकारी अत्यधिक होती है। बढ़ती कीमतों की घड़ी में बेकारी कम होती है। "Falling prices, in fact, go with slumps and rising prices with booms."

कुछ लोगों का कथन है कि दाम के परिवर्तनों से ही रोजी में परिवर्तन होते हैं। दाम के उलट-फेर से उत्पादन में परिवर्तन होता है। सौदागर, आदि जब दाम गिरने लगते हैं, खरीदना बन्द कर देते हैं। इसलिए उत्पादकों को कम आर्डर मिलता है। दाम घटते-घटते निम्नतल छू लेते हैं। इसके बाद वे बढ़ने लगते हैं। इससे उत्पादन में सहसा वृद्धि होती है। जब लोगों को अधिक मुनाफा होता है, तब उत्पादन भी अधिक होता है।

किसान को मन्दी कम दामों के द्वारा पीड़ित करती है। किसान लोग मन्दी के दिनों में खरीद कम कर देते हैं। फलतः उद्योग-धंधों में पहले जितने मजदूर लगाए गए रहते हैं, उनमें से कुछ को हटा देना पड़ता है। इसका भी अप्रत्यक्ष प्रभाव किसानों पर पड़ता है।

उद्योगों में बेकारी होने से भोजन के लिए माँग न्यून हो जाती है और इससे किसानों का दाम और कम हो जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि कम दाम और स्वल्प रोजी एक दूसरे के कारण तथा कार्य हैं। यह कहना असंगत नहीं कि दाम और काम किसी तीसरी चीज के बोधक हैं, उसके कारण नहीं।

उपसंहार में यह निवेदन किया जा सकता है कि न बढ़ते दाम ही अच्छे हैं, न घटते दाम ही। इनफलेशन लगान पानेवालों और रुपया लगाने वालों तथा मजदूरों की यथार्थ आमदनी को घटा देता है। इससे उत्पादन-कार्य बहुत ही बढ़ जाते हैं, जिनसे अंत में सामाजिक संकट उत्पन्न होते हैं। डिफलेशन काम देनेवालों को तकलीफ देता है। इससे उत्पादन-कार्य का उत्स बुरी तरह प्रभावित होता है। इससे बेकारी बढ़ती, है जिसका सामाजिक और आर्थिक फल नाशकारी होते हैं। जब कीमतें स्थिर रहती हैं, तब ये खराबियाँ नहीं उत्पन्न होती हैं। शान्त गति से उद्योग, आदि का उत्थान होता है। व्यापारिक धूम और मन्दी दामों के उलट-फेर से ही होती है।

दामों की स्थिरता दो तरहों से हो सकती है। कुछ खास चीजों के दामों का नियंत्रण करके जिससे माँग और पूर्ति का संतुलन हो सके, यह पहला उपाय है। दूसरा उपाय मुद्रा की पूर्ति और माँग का संतुलन करना है। इससे दामों का नियमन किया जा सकता है। इस उपाय के लिए कुछ लोग स्वर्णप्रमाप और कुछ लोग नियंत्रित पत्र-मुद्रा का आश्रय लेना चाहते हैं।

वर्तमान संसार में कोई देश विच्छिन्न नहीं है। एक देश दूसरे देश से सूत्रबद्ध है। देश-देश के बीच अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय विद्यमान रहते हैं। देश-देश के दाम-तल परस्पर संबंधित रहते हैं। एक देश की करेन्सी का संबंध दूसरे देश की करेंसी से रहता है। इसका फल यह होता है कि दाम की स्थिरता का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, राष्ट्रीय नहीं रह गया है।

दामों की स्थिरता की अति भी उत्तम नहीं होती । दाम के उलट-फेर के कारण ही देश के साधन उन उद्योगों में प्रवृत्त किए जाते हैं जिनसे सर्वाधिक लाभ उपलब्ध हो । दाम के उलट-फेर से आर्थिक व्यवस्था के अवगुण जान पड़ते हैं, जिन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता है । प्रो गोरी और हाएक ने बतलाया है कि स्थिर दामों से रह-रहकर अव्यवस्थाएँ और विरोध उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसा सन् १९२३-१९२६ के बीच अमेरिका में हुआ है । यदि दाम-तल (Price level) को स्थिर रखा जाय तो भी वस्तुओं के व्यक्तिगत दामों के बदलने से भी आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जा सकता है । सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी, स्थिर दाम सर्वोच्च नहीं है । यथेष्ट उपज के समय दाम का कम होना न्यायपूर्ण है, परन्तु स्थिर दाम की भावना की परितुष्टि से ऐसा नहीं होने दिया जायगा । उपज के कम होने के समय, दाम का अधिक होना न्यायपूर्ण है, परंतु स्थिर दाम की दुहाई दी जाय तो ऐसा न होने पायेगा ।

तृतीय अध्याय

"मुद्रा-स्फीति का भारतीय स्थिति के दृष्टिकोण से विवेचन"

(Analysis of Inflation from Indian Standpoint)

सामने जो झोपड़ी है उसमें एक बुढ़िया रहती है। उसकी उम्र लगभग अस्सी की होगी। वह चटाइयाँ बुन-बेचकर अपना और अपने मातृ-पितृ-हीन पौत्र-पौत्री का भरण-पोषण करती है। पूछने पर वह कहती है, "इतनी बड़ी उम्र हो गई मेरी, बाबू साहब, परंतु इतनी बड़ी महँगी नहीं देखी थी। पहले चटाइयाँ बेचकर भरपेट अन्न और देहभर वस्त्र कर लेती थी। अब वह समय जाता रहा। पहले से पैसे तो अब अधिक मिलते हैं अवश्य किंतु उसपर अन्न-वस्त्र की कमी बनी ही रहती है।" बुढ़ियाँ के ये शब्द मुद्रा-स्फीति की एक तरह से परिभाषा ही हैं। मुद्रा की राशि (Volume of Money) इतनी अधिक है कि वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये हैं। आज सारा देश मुद्रा-स्फीति की विभीषिका से पीड़ित हो उठा है। मुद्रा की बाढ़ द्वितीय महायुद्ध की देन है। युद्ध के समय सरकार को अधिक कोष की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कर और चुंगी, तथा प्रजा से लिये ऋणों से नहीं हो पाती। बरबस सरकार को मुद्रा-स्फीति का सहारा लेना पड़ता है। यह सरकार का "अलक्ष्य कर" (Hidden Hand) है। यह सरकार की वह जादू भरी छड़ी है जिसको घुमा-फिराकर वह मुद्रा का निर्माण करती है। इस साधन का उपयोग प्रथम महायुद्ध में जर्मनी ने चरम सीमा तक करके अपना सर्वनाश ही कर लिया। जब द्वितीय विश्व-समर छिड़ा,

भारत की पिछली अँगरेज सरकार ने इस देश कीरक्षाके बहाने अपना स्वार्थ-सिद्ध करने के लिये पत्र-मुद्रा का अनावश्यक विस्तार करना आरम्भ कर दिया। रिजर्व बैंक को सरकार ने स्टरलिंग सुरक्षित पत्र (Sterling Security) के बल पर इस प्रकार की पत्र-मुद्रा-स्फीति करने का आदेश दिया। युद्ध के समय उत्पादन-राशि की समुचित वृद्धि नहीं हो सकी। फलतः मूल्य-स्तर दिनोंदिन उर्ध्वमुख होता गया। यह मुद्रा-स्फीति की स्पष्ट स्थिति थी परंतु सरकार यह मानने को तैयार नहीं होती थी कि भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति का प्रकोप छा चुका है। सन् १९४३-४४ साल का क्रोड़-पत्र (Budget) प्रस्तुत करते समय तत्कालीन अर्थ-सचिव सर जे० रेसमन ने बतलाया था कि "पत्र-मुद्रा का विस्तार लोगों द्वारा अधिक मुद्रा की माँग के फलस्वरूप है तथा मुद्रा-स्फीति की कोई आशंका भारतवर्ष को नहीं। पत्र-मुद्रा की जो भी वृद्धि हुई है वह स्टरलिंग सुरक्षित-पत्र के आधार पर हुई है। अतएव घबराहट की कोई विशेष वजह नहीं।" परंतु अर्थ-सचिव महोदय यथार्थता को बहुत दिनों तक नहीं छिपा सके। उन्हें १९४४-४५ साल के लिये पत्रक पेश करते समय यह स्वीकार करना पड़ा कि भारतवर्ष में भयङ्कर मुद्रा-स्फीति की उत्पत्ति हुई है जिसकी विभीषिका को रोकना वे अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते हैं।

अध्यापक पीगू ने युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के दो रूप बतलाये हैं। वे हैं, मजदूरी-प्रेरित (Wage-induced) तथा घाटा पत्रक-प्रेरित (Deficit Budget-induced) मुद्रा-स्फीति। भारतीय युद्ध-कालीन मुद्रा-स्फीति को देखते हुए कहना पड़ता है कि वह प्रधानतः घाटा पत्रक-प्रेरित था, मजदूरी-प्रेरित गौणतः था क्योंकि जीवन-परिव्यय (Cost of Living) में जितनी बढ़ती हुई थी उतनी बढ़ती मजदूरी में नहीं। अँगरेज सरकार ने मित्रराष्ट्रों की युद्धजनित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये देश में पत्र-मुद्रा की सृष्टि तो की परंतु उसके पीठबल स्टरलिंग सुरक्षित-पत्र को लंदन की तिजोरी

में बंद कर रख दिया गया। यदि सरकार भारतस्थ ब्रिटिश व्यवसायगत नियोगों (Commercicl Investments) को बेचकर रुपयों को अपने काम में लाती और पत्र-मुद्रा का विस्तार करती तो मुद्रा-स्फीति की यह अवस्था नहीं उत्पन्न होने पाती।

मुद्रा-स्फीति बहुतेरी हानियों की जननी है। युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का भूत प्रभूत प्रभाव देश पर छाया हुआ है। भारतवासी स्वतः दरिद्र हैं। वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने से दुःख-दारिद्रय और रोग-व्याधियाँ और भी बढ़ गई हैं। अधिकांश जनता क्षुधा से संतप्त है।

सन् १९४३ के दुर्भिक्ष में लाखों आदमियों ने तड़प-तड़प अपनी जानें गवाईं। मुद्रा-स्फीति से कुछ लोगों ने विशेष लाभ उठाया, अधिक लोगों को अधिक घाटा पड़ा। एस०-ई० टॉमस ने लिखा है, "मुद्रा-स्फीति मुनाफाखोरों और ठीकेदारों (सट्टेबाजों की एक श्रेणी) के लिये स्वर्ग ही है। वे दूसरों की मिहनत पर धनी होते हैं, स्थिर आयों वाले व्यक्तियों और मजदूरों की क्षति पर वे अत्य-धिक धनार्जन करते हैं। कीमतों की वृद्धि और मजदूरी की वृद्धि में गति की दृष्टि से वही अंतर है जो उत्तोलन-साधन (Lift) और सीढ़ी (Stairs) (Stairs) की गति में है।" मुद्रा की क्रय-शक्ति उसके कोष पर निर्भर करती है। यदि किसी समय हमारे पास एक हजार रुपये हों और उसी समय सरकार देश की मुद्रा-राशि को दुगुनी कर दे तब हम एक हजार रुपये से पहले समय की तुलना में आधी वस्तुएँ मोल ले सकते हैं। सरकार ने हमसे रुपया न लिया परंतु देश की मुद्रा-राशि को दुगुनी कर हमारी क्रय-शक्ति आधी कर डाली। मुद्रा-स्फीति के आधार पर सरकार जनता से अनजान में ही मानों वस्तुओं को स्वायत्त कर लेती है। प्रो० वकील ने मुद्रा-स्फीति की [तुलना डकैती से की है। दोनों ही अधिकारी व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति अपहृत कर लेती हैं। परंतु डकैती दृष्टिगत और क्षणिक है, मुद्रा-स्फीति अदृष्टिगत और अनवरत। डाकू अपना शिकार एक

आदमी को या कुछ व्यक्तियों को बनाते हैं परंतु मुद्रा-स्फीति का शिकार समस्त राष्ट्र होता है। डकैती अवैध है, परंतु मुद्रा-स्फीति विधि-सम्मत। डकैती सबके लिये बुरी है, किंतु मुद्रा-स्फीति में खासकर मुनाफाखोरों की बन आती है। उससे एक ओर दरिद्रता उग्रतर होती है तो दूसरी ओर देश के थोड़े व्यक्तियों की सम्पत्ति विपुलतर। युद्धकालीन भारतीय मुद्रा-स्फीति से मध्यवर्ती व्यवसायिओं की एक नई श्रेणी बन गई है, जिनकी जीविका ही चोरबाजारी और मुनाफाखोरी ठहरी। प्रो० पीगू ने मुद्रा-स्फीति की प्रकृति के ऊपर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि मुद्रा-स्फीति अपना खाद्य स्वयं है (Inflation feeds on itself)। कीमतें बढ़ती हैं, मुद्रा की राशि बढ़ती है। मजदूरी बढ़ती है, कीमतें बढ़ती हैं, मुद्रा की राशि बढ़ती है। मजदूरी बढ़ती है, कीमतें और मुद्रा की पूर्ति एक दूसरे को ऊपर की दिशा में पीछा करती जाती हैं। यदि इसको नहीं रोका गया, यदि इस प्रकार चक्कर बढ़ता हो गया तो अंततः मुद्रा-स्फीति अश्वारोही मुद्रा-स्फीति (Galloping Infiation) का रूप धारण कर लेती है और देश की मौद्रिक व्यवस्था आखिर में विश्रृंखलित हो उठती है। आर्थिक प्रणाली का सामूहिक अधःपतन हो जाता है।

भारतवर्ष में आज जो मुद्रा-स्फीति परिव्याप्त है, वह युद्धकालीन मुद्रास्फीति से विभिन्न है। वह युद्ध की देन है जरूर, परन्तु उसकी प्रकृति कुछ दूसरे ढंग की है। युद्धरोत्तरी मुद्रास्फीति युद्धकालीन आर्थिक और नियंत्रण-विषयक प्रबन्धों की प्रसूति है। वह प्रगतिशील अनियंत्रण की उत्पत्ति है। इसकी सृष्टि के तीन प्रधान कारण हैं। युद्धकालीन संग्रहीत मुद्रा-कोष, ह्रासमान उत्पादन और बढ़ती मुद्रा की पूर्ति। युद्धकालीन मुद्रा-स्फति नियंत्रित अर्थ-प्रणाली में आविर्भूत हुई थी, युद्धोत्तरी मुद्रा-स्फीति की अर्थ-प्रणाली क्रमिक नियंत्रण विघटन की प्रणाली थी। पत्रमुद्रा-राशि (Volume of Notes) की वृद्धि किस प्रकार हुई, वह निम्न आँकड़े से स्पष्ट होगा।

(करोड़ रुपए में) बढ़ती

अक्टूबर, १६४५—जून, १६४८ के बीच······१६२

युद्धकालीन स्तर पर १७% वृद्धि।

युद्धकाल में·······································६५२

युद्धपूर्व स्तर पर ४१६% वृद्धि।

सितम्बर, १६४५ में नोट की चलन ११४७ करोड़ रुपए की थी। जून, १६४८ में वह १३३० करोड़ रुपए की हो गई। बैंक की धरोहरों (Deposits) में उक्त अवधि में वह ८७८ करोड़ रुपए से ११०८ करोड़ रुपए अर्थात् २३० करोड़ रुपए के बराबर वृद्धि हुई। विनिमय के इस आधार के प्रचलन की गति में भी वृद्धि हुई है।

तालिकागत बैंकों के माँगवाली ऋणों में जो परिवर्तन हुआ है वह यों है—

अक्टूबर, १६४५ में—१२३ करोड़ रु०

जून, १६४८ में—५११ करोड़ रु०

समयवाली धरोहरों में अक्टूबर १६४५ और जून १६४८ के बीच ६६ करोड़ रु० की बढ़ती हुई। इसी बीच सरकार के ऋणों में ३५० करोड़ रुपए से कुछ कम बढ़ती हुई। १६४५-४६ साल और जून १६४८ के बीच मूल्य-सूची में अनुमानतः ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। ऊपर बताया गया है कि पत्रमुद्रा में इसी काल में युद्धकालीन स्तर पर केवल १७ प्रतिशत वृद्धि हुई है। पत्रमुद्रा की और मूल्य-सूची की विभिन्न प्रतिशत वृद्धियों को देखने और उनपर शांत चित्त से विचार करने पर जान पड़ता है कि नोट का निर्माण ही मुद्रा-स्फीति और मूल्यवृद्धि का एकान्त कारण नहीं। युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति तथा युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति में विभिन्नता है। पहले वस्तुओं के मूल्य नियंत्रित थे और उनमें जो वृद्धि होती थी वह मूल्य-सूची में नहीं विचारी गई है। युद्ध के अनन्तर कुछ नई बातें पैदा हो गई। युद्ध-

काल में ही सरकार के पास मुद्रा एकत्र हो गई थी। लोगों के पास भी पैसे जमा हो गए थे। दोनों के प्रतिफल उपभोग को प्रेरणा मिली। सिपाही, कुली और मजदूर, शरणार्थी—ये तीन वर्ग विशेषतया अधिक खपत के प्रोत्साहक थे। सरकार ने युद्धकालीन अवशिष्ट धन से भावी घाटों को पूरा किया और उससे अपने खर्च को भी बढ़ाया। युद्ध के बाद फिल्म-जैसी कम्पनियाँ और रोजगार आरम्भ हुए। मध्यवर्ती व्यक्तियों के द्वारा कतिपय व्यवसायों में पूँजी-विनियोग अधिक हुए। इससे मुद्रास्फीति की उग्रता बढ़ी। कुछ सेवा (Service) सम्बन्धी उद्योगों में बेकारी की समस्या उठ खड़ी हुई थी, जिसके कारण उत्पादन की गति मंद हो गई थी, परन्तु यह क्षणस्थायी अवस्था थी। फिर भी मुद्रा-स्फीति के सम्बर्द्धन में इसका हाथ भी था। उपभोग (Consumtion) के क्षेत्र में इस प्रकार की दशा थी जिसके कारण मुद्रा-स्फीति को बल मिलता था। चोर-बाजार और मुनाफाखोरी छुटनेवाली नहीं थी। अन्न-संकट सिर पर सवार रहा। मुद्रा की बाढ़ भी जारी रही। फलतः चीजों की कीमतों का बढ़ना अनिवार्य था। बस मुद्रा-स्फीति की तीव्र अनुभूति हम सबों को होने लगी।

उत्पादन (Production) का क्षेत्र भी मुद्रा-स्फीति की गंभीरता बढ़ानेवाला ही साबित हुआ। अगस्त १९४६ से ही उत्पादन का ह्रास दृष्टिगोचर होने लगा था। भारतवर्ष की जनसंख्या प्रतिवर्ष काफी बढ़ती जा रही है। कृषि प्रधान जीविका ठहरी ही, भूमि पर ही असह्य जनसंख्या का भार पड़ता है। प्रकृति की दया पर टिकने वाली कृषि-व्यवस्था युद्धकाल में छली गई। चोरबाजार और लुकाने-छिपाने की प्रणाली के फलस्वरूप अन्न की कमी पैदा हो गई जो अब भी है। वस्त्र, इस्पात, सीमेंट, चीनी, आदि-वस्तुओं के उत्पादन-परिमाणों में काफी कमी हुई है। इस तरह भोक्ताओं की सामग्रियों का अभाव आज गत पाँच-छै वर्षों से देश को व्यग्र कर रहा है। कच्चे मालों की कीमतें अधिक हैं, वस्तुओं का उत्पादन-मूल्य अधिक है। उत्पादक

कीमतों की अनिश्चयता के कारण कठिनाइयों में पड़ा रहता है। वह अपनी वस्तुओं के दाम बढ़ाना चाहता है। यदि वह इसमें विफल हुआ तो उत्पादन घटाने या स्थगित (यह तो बाजार की हालत और विपणिगत शक्तियों की प्रकृति के ऊपर अवलम्बित है) करने के अतिरिक्त कोई और चारा नहीं। इतना ही नहीं, उत्पादन की उधोगति के और भी कारण थे। श्रम-वर्ग के द्वारा की गई हड़तालें, उत्पादन की कम की गई अवधि, पूँजी-मालों और मशीनों की टेकनिकल दुर्बलता, तथा भावी मूल्यों की अनिश्चयता—ये प्रधान कारण है। पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के रूप में अखंड भारत का विभाजन तथा नागरिक असन्तोष और उपद्रव उत्पादन के पतन में कम बाधा डालने वाले न थे। लघु आधार-निर्मित उद्योगों में मजदूरी की बढ़ती बहुत अवरोधक हुई और उत्पादन-विशदीकरण की योजना उनमें असफल रही। आवागमन और यातायात की कठिनाइयाँ भी उत्पादन की बढ़ती में सदा वर्तमान रहीं हैं। अप्रैल, १९४८ में सरकार की जो घोषणा हुई उससे मुनाफा के लोभी और संकीर्ण हृदय कुछ उत्पादनकर्त्ताओं ने भावी राष्ट्रीयकरण की आशंक से उत्पादन को न्यून कर दिया। इसी प्रसङ्ग की चर्चा करते हुए प्रो० सी० एन० वकील ने लिखा है कि उच्चपदस्थ नेताओं के कथनों से जो मुनाफा-वितरण की सीमा और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में थे, उत्पादन के प्रधान प्रेरक तत्व—लाभ-वृत्ति—को आघात पहुँचा, जिससे उत्पादकों ने उत्पादन की मात्रा घटा दी।

वितरण (Distribution) के क्षेत्र में भी एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हुआ जिससे मुद्रा-स्फीति की संकुलता बढ़ी। हाँ, यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति पर इसका प्रत्यत्र प्रभाव न पड़कर परोक्ष प्रभाव पड़ा। नियंत्रणहीनता से उसे शक्ति उपलब्ध हुई। मजदूरी और वेतन में क्रमशः वृद्धि होती ही रही। इससे आमदनी के वितरण की जो विषमता पहले थी वह कम हुई। दरिद्र-वर्गों की उपभोग-शक्ति (Propensity to consume) बढ़ी और इससे

मुद्रा-स्फीति के चक्कर का विस्तार और गहराई अधिक हुई। वेतन एवं मजदूरी का बढ़ना एक प्रकार से समर्थनीय भी था। सामाजिक न्याय की दृष्टि से उनकी वृद्धि उचित थी, नहीं तो, गरीब मजदूर और काम करनेवाले बहुत-से कष्ट झेलते। आर्थिक आवश्यकता भी उनकी वृद्धि के पक्ष में थी नहीं तो एकमात्र धनी वर्गों द्वारा समस्त अभिवृद्धि सम्पदा पर अधिकार होता जिससे समाजगत आर्थिक विषमता और भी बढ़ती। इन बातों की परीक्षा करने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनियंत्रण-मूल्यों पर पाबन्दी का न रहना आय-वृद्धि की अपेक्षा अधिक कष्टदायी सिद्ध हुआ है। यहाँ यह जान लेना अच्छा होगा कि लोगों के पास जो धन संग्रहीत हो गया था उसमें से कुछ—और यह अंश थोड़ा नहीं था। व्ययित हो गया। बढ़ी कीमतों में, अधिक वेतन और मजदूरी में, घूसखोरी, भ्रष्टाचार तथा चोरबाजारी में इसकी समाप्ति हो गई है।

युद्धोत्तरी राजकीय अर्थ-नीति (State Finance) में कुछ ऐसी दशाएँ सम्भूत हो गईं जिनसे मुद्रा-स्फीति की उग्रता घटने के बजाय बढ़ी ही। सरकार ने शरणार्थियों के ऊपर काफी व्यय किया। हैदराबाद और काश्मीर में जो युद्ध हुए उनमें उसे बहुत रुपये खर्च करने पड़े। उसे विदेशों से गल्ला और अनाज मँगाने पड़े। पूँजी का बाजार संकोचशील हो गया है। सरकारी सुरक्षित-पत्रों का मान कम हो गया है। पूँजीपति उन्हें उत्साहपूर्वक नहीं खरीद रहे हैं। निदान सरकार को अपने खर्चों को चलाने के लिए रिजर्व बैंक से मुद्रा उधार लेनी पड़ती है। रिजर्व बैंक सरकार की सेक्यूरीटियों के आधार पर नोटों की सृष्टि करता जाता है। लोग पैसा एकत्र नहीं करते। अर्थ-संग्रह लाभदायी क्षेत्रों में किया जाता है जिससे सूद प्राप्त होता है। आज लोग अधिकांश में ऐसा न करके अपने धन को मंजूषा में बंद कर, धरती में गाड़ कर (Hoarding) रखते हैं। भला इससे राष्ट्र की आर्थिक शक्ति कैसे बढ़ सकती है ? इन्हीं कारणों से युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति ने युद्धोत्तरी मुद्रा-स्फीति का रूप

कारण कर लिया है जिसका कुफल समग्र देश भोग रहा है। अर्थ-शास्त्र के अध्येताओं को प्रो० फिशर का वह सूत्र स्मरण होगा जिसके माध्यम से उन्होंने मूल्य-स्तर का निगूढ़ और अनोखा विश्लेषण किया है। वह यह है—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$ जहाँ,

P = मूल्य-स्तर

T = बाजारगत-सम्पन्न समस्त वस्तुएँ और सेवाएँ जिनके दाम मौद्रिक बटखरों में व्यक्त किए जा सकते हैं।

M = धातवीय मुद्रा।

V = M की चलन गति।

M' = चल पत्र-मुद्राएँ (Credit Money)।

V' = M' की चलन गति।

मुद्रा-स्फीति की जटिल समस्या का समाधान हमें उक्त सूत्र में प्राप्त हो सकता है। हमारे सामने आज P को न्यून करने का प्रश्न है। इसके निमित्त हमें या तो T को बढ़ाना होगा अथवा V तथा V' के मान को कम करना पड़ेगा। M और M' को कम करना हमारे लिए लाभप्रद नहीं हो सकता। इसपर अन्यत्र विचार किया जायगा। फिशर महोदय का यह सूत्र एकान्त सत्य नहीं, इसकी आलोचनाएँ भी की गई हैं, परन्तु वर्तमान मुद्र-स्फीति की व्याख्या करने का वह एक सरल साधन है। बस।

जो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के ज्ञाता हैं वे भली-भाँति जानते हैं कि वर्त्तमान मुद्रा-स्फीति हमारे लिए एक विरोधाभास (Paradox) की तरह है। मुद्रा-स्फीति की अवस्था में वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है, उसी तरह उनकी कीमतें भी बढ़ती हैं। परन्तु क्या यही बात आज हमारे समक्ष उपस्थित है ? नहीं, आज तो एक ओर उत्पादन घटता जा रहा है तो दूसरी ओर भाव बढ़ते जा रहे हैं। फिर भी

इस स्थिति को "मुद्रास्फीति" की संज्ञा ही हम देते हैं। यही विरोधाभास है। पुनः मुद्रा-स्फीति की दशा में तो मौद्रिक बाजार में सरकार के सुरक्षित-पत्रों का मूल्य ऊँचा रहता है, पूँजीपतियों की आस्था उनमें अधिक होती है, परन्तु भारतीय मुद्रा-स्फीति के साथ यह लक्षण चरितार्थ नहीं होता जान पड़ता है। सरकार की सेक्यूरीटियों का बाजार ढीला पड़ा है। भारतीय मुद्रा-स्फीति की यह विशेषता है और है एक विरोधा भास। इतना ही नहीं,मुद्रा-स्फीति की उत्पत्ति उस समय होती है जब बचतें (SauingS) विनियोगों (Investments) से कम होती हैं। लेखक की तुच्छ सम्मति में भारतीय मुद्रस्फीति का विरोधाभास इस बात में सन्निहित है कि लोगों के पास (अधिकांशतः पूँजीपतियों और जमींदारों के पास) कितनी मुद्राएँ बेकार पड़ी हैं, उनका उपयोग नहीं होने पाता, उद्योग-धंधों की जितनी अभिवृद्धि होनी चाहिए उतनी नहीं हो सकी है फिर भी मुद्रा-स्फीति की काली घटाएँ मँडरा रही हैं। इस प्रकार के विरोधाभास का मूल क्या है, उद्गम क्या है ? मुद्रा-स्फीति की उत्पत्ति के कारण ऊपर दिए जा चुके हैं, विरोधाभास का अस्तित्व उनपर भी निर्भर करता है। साथ ही उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की उपज है जिनकी व्याख्या सहज नहीं। पिछली सरकार के कुकृत्यों का प्रायश्चित हमें आज करना पड़ रहा है। मुद्रा-स्फीति के निराकरण के लिए साधन निर्धारित करने के निमित्त हमारी राष्ट्रीय सरकार ने गत अगस्त में देशभर के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञों, उद्योगपतियों, श्रम-नेताओं, बैंकाधिपतियों, राजकीय अर्थशास्त्रज्ञों, समाजवादी नेताओं को आमंत्रित किया और उनकी सम्मतियों की एक विज्ञप्ति २ सितम्बर की रात्रि को प्रकाशित की जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

नव अर्थशास्त्रज्ञों ने इस प्रकार का विचार प्रकट किया:—एक सम्पूरक-पत्रक अक्टूबर में पेश किया जाय जिससे मुद्रास्फीति विरोधी साधनों का समावेश किया जा सके। केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को कोष-संबंधी सहायता न दे। अधिक मुनाफा पर लगे

कर से-जमा हुआ पैसा अभी वापस नहीं किया जाय। सरकार अपना खर्च जनता से कर्ज लेकर चलावे। कर से बचने की चाल रोकी जाय। व्यवसाय कर २५ प्रतिशत बढ़ा दिया जाय। मूल्य-कर लगाया जाय। छव माह और एक वर्ष अवधि वाले सरकारी बिल बेचे जाँय। छोटी-छोटी बचतों को सूद देकर संग्रहीत किया जाय। नियंत्रण पुनः लगाए जाएँ और बैंक धरोहरों में से कुछ भाग खत्म कर दिया जाय। उत्पादन-वृद्धि के लिए जोरदार आन्दोलन चले। उदार आयात नीति अपनाकर भोक्ताओं के लिए आवश्यक वस्तुएँ विदेशों से मँगाई जायँ। सरकार (केन्द्रीय और प्रान्तीय) अपना खर्च कम करें। कृषि के संवर्द्धन की भरपूर चेष्टा हो।

श्रम-नेताओं ने अग्रलिखित सुझाव रक्खे हैं: सुश्री मणिवेणकारा का कथन है कि जरुरियात वस्तुओं पर—उत्पादन और वितरण दोनों क्षेत्रों में—नियंत्रण लगाया जाय और भोक्तागण की वस्तुओं का आयात हो जिससे अभाव और एकाधिकार की स्थिति दूर हो। घूसखोरी और भ्रष्टाचार के विरुद्ध कड़ाई के साथ काम हो। लोगों की बचाई सम्पत्ति को सरकारी उद्योगधंधों में लगाया जाय। श्री खंडुभाई देसाई ने कुछ अवशिष्ट मुद्रा नोट को विनष्ट करने की सलाह दी है। उन्होंने सट्टा पेशा (Contract System) को रोकने की राय दी है। वे सरकारी खाद्य-दूकानों को खोलने के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि सरकार स्टरलिंग की छूट का उपयोग वर्त्तमान स्थिति को दूर करने में करे। दिनकर देसाई नियंत्रण लगाने के साथ जमीन-कर बढ़ाने के पक्ष में हैं। कुछ श्रम-नेता युद्धकालीन इंगलैंड में स्थापित U. K. C. C. (यूनाइटेड किंगडम कमरसियल कॉरपोरेशन) की स्थापना भारत में करना चाहते हैं।

बैंकाधिपति एक प्रकार के वाहक बिल चलाना चाहते हैं जो १० रु० से लेकर १० लाख रु० के हों और ५ वर्षों के बाद उनपर लिया रुपया लौटाया जाय और उनपर १ प्रतिशत प्रतिवर्ष बट्टा मिले। बैंकों को सरकार को उनपर लाइसेन्स के रूप में छुट्ट देना पड़ेगा। वे

उत्पादन की वृद्धि जनता की क्रय शक्ति संचित कर करना चाहते हैं। वे अधिक सूद देने के पक्ष में हैं। वे सरकार को अधिक उतावला नहीं होने देना चाहते हैं और साधारण उद्योग-धंधों को ही स्थापित करने की सम्मति देते हैं।

उद्योगपत्तियों ने मुद्रा-स्फीति के निराकरण के ये साधन बतलाए हैं:—पूँजीजन्य लाभ पर कर न लगाया जाय, मुनाफा, दाम और मजदूरी की चरम सीमा निर्धारित कर दी जाय, विलास-सामग्रियों और आवागमन के भाड़े पर कर लगाया जाय, सरकार का पत्रक संतुलित रहे, व्यर्थ खर्च कम कर दिए जायँ, आय-कर बढ़ाया जाय, आदि। वे भी सरकार द्वारा बिल चलाने के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि बैंक-साख पर पाबंदी लगाई जाय। वे जमींदारी उन्मूलन बिल को स्थगित करने की राय देते हैं।

सरकार के अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने सरकारी सुरक्षित पत्रों में धन लगाने और उत्पादन बढ़ाने का प्रस्ताव रक्खा है। दीर्घकालीन योजना में वे देश की समस्त आर्थिक प्रणाली का उत्थान करना चाहते हैं जिससे देश की शक्ति संवृद्ध हो सके। उनके दूसरे सुझावों में नए करों को लगाना तथा विदेशी पूँजी का विनियोग अधिक महत्व रखते हैं।

समाजवाद के अग्रगण्य नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने उत्पादन की सार्वांगीण अभिवृद्धि पर जोर दिया है। उनका विचार है कि आयात और निर्यात पर सरकार का पूरा अंकुश रहे। सरकार राष्ट्रीयकरण के विचार से विदेशी पूँजी की भी सहायता ले सकती है। बैंक की सूद-दर बढ़ाकर व्यक्तियों की बचतों को संगठित करना उचित है। विलास सामग्रियों पर कर लगाया जाय। उत्पादन की बढ़ती के लिए अंश-पद्धति (Quota System) अपनाई जाय, जो तय किया भाग न उत्पादित करें उन्हें दंड दिया जाय। श्री जयप्रकाश नारायण भी वाहक-बिल चलाने के समर्थक हैं। वे अधिकाधिक लाभ को निर्धारित कर देना चाहते हैं।

राष्ट्रीय सरकार ने इन सुझावों पर विचार किया और अपनी घोषणा गत चार अक्टूबर को प्रकाशित की। सरकार ने इन सिद्धान्तों को अपनाया है—व्यय को कम करना और राजस्व को बढ़ाना ; कीमतों की बढ़ती को रोकना ; उत्पादन की वृद्धि करना ; प्रभृति, क्रय-शक्ति की बचत का संगठन और उपयोग करना, प्रभृति केन्द्रीय सरकार ने प्रादेशिक सरकारों को आर्थिक सहायता देने से अपनी अनिच्छा प्रकट की है, क्योंकि ऐसा करने से उसके व्यय और राजस्व की खाई बढ़ती ही जायगी। सरकार दीर्घ-कालीन योजनाओं को अभी कार्यान्वित नहीं कर सकती। वह राज (Estate)—कर बिल को स्वीकृत करने और उसको कार्यान्वित करने का प्रयास करेगी। कृषि पर आय कर लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को पहले ही दिया गया है, उन्हें शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए। जमींदारी विघटन बिल तथा मद्य-निषेध की योजना को कार्यान्वित करने से मुद्रास्फीति उग्रतर होगी, अतएव प्रांतीय सरकारों को लाभा लाभ सोच-विचार कर उन्हें कार्यान्वित करना या न करना चाहिए। कॉंग्रेसी सरकार ने शासन-सूत्र ग्रहण करने के लिए जनता से मतदान-याचना करते समय जमींदारी उन्मूलन का आश्वासन दिया था परन्तु आज वह इसको मुद्रा-स्फीति के भय से प्रेरणा नहीं दे रही हैं। मद्य-पान-निषेध कॉंग्रेस का मूलमंत्र रहा है, परन्तु आज सरकार आय की कमी की आशंका से उस विचार को कार्य में परिणत करने से हिचक रही है। इन विचारों पर अर्थ-शास्त्रज्ञों तथा राजनीतियों में बहुत विरोध हो सकता है, कुछ इनका समर्थन करेंगे तथा कुछ इनका असमर्थन। एक बात तो साफ है कि यदि प्रांतीय सरकार इन विचारों को अपनी सामर्थ्यानुसार कार्यान्वित कर सकी, तो न केन्द्रीय सरकार को विरोध होना चाहिए और न किसी दूसरे को। सरकार ने कीमतों की बढ़ती को रोकने के लिए नियंत्रण को पुनः लगाना अनिवार्य समझा है। खाद्यान्नों, वस्त्र, चीनी, किरासन तेल, लोहा-इस्पात, सीमेंट पर नियंत्रण लगाया जायगा। उत्पादन-वृद्धि के

लिए उत्पादकों को मशीन संबंधी सुविधाएँ दी जायँगी। नए उद्योग खोलने के लिए उत्पादकों के आय-कर में कमी की जायगी। फिर भी डिविडेन्ड (मुनाफा) वितरण पर पाबंदी लगाई जायगी। सरकार ने जो अधिक मुनाफे जमा किए गए हैं उन्हें अभी नहीं देने का आदेश दिया है। सरकर कर देने से भागने वालों को सजा देगी।

केन्द्रीय सरकार की इस घोषणा का उद्योगपतियों ने बड़े उत्साह से अभिनंदन किया है। फिर भी कहना ही पड़ता है कि सरकार ने बहुत से अर्थ-शास्त्र वेत्ताओं को निराश कर दिया है। वे आशा करते थे कि सरकार कर की दर बढ़ाएगी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। भारतवर्ष में कर-पद्धति (Tax system) उत्तम नहीं। सरकार परोक्ष-करों (Indirect Taxes) के द्वारा ही आज अधिक पैसा लेती है। प्रत्यक्ष (Direct) करों पर शनैः शनैः जोर दिया जा रहा है। ब्रिटेन तो पूँजीवादी राष्ट्र है, परन्तु वहाँ तो पूँजीवादियों के ऊपर अधिक टैक्स देने का बोझ है। कर की दर ३३% है। विलास की सामग्रियों पर १००% चुँगी लगाई है। आराम (Comfort) की वस्तुओं पर ३३ से ६२%, और जरुरियातों (Necessaries) पर केवल ३३% चुँगी लगाई गई है। इस तरह लोगों की क्रय-शक्ति कम की जा रही है। न नोट की राशि पर पाबंदी लगाई जा सकी। मुनाफा की चरम सीमा भी निर्धारित नहीं हो सकी। सरकार ने अपनी घोषणा में प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार के बीच पृथकता का आरोपण किया है जो देश के हित में बाधक सिद्ध हो सकता। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच संतुलन होना चाहिए। खाद्य-समस्या के ऊपर विचार नहीं किया जा सका है। सरकार ने उधार रुपये लेने की नीति का उचित निर्धारण नहीं किया है। उसने मौद्रिक साधनों पर अधिक जोर दिया है, उत्पादन के पहलू पर कम। उत्पादन-वृद्धि वास्तव में सर्व प्रथम साधन है। सरकार को पूँजीपतियों की गति और रुख पहचानना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि आखिर क्या कारण है कि

सरकार के सुरक्षित-पत्रों की बिक्री इतनी कम हो गई है, सरकार को ऋण नहीं मिल रहा है। क्या कर की दर घटाते जाने, सूद की दर बढ़ने से ही क्रमशः पूँजीपति उत्पादन बढ़ा सकेंगे और सरकार को रुपया मिल सकेगा ? अर्थ-शास्त्रज्ञों ने नोटों की राशि कम करने की जो सलाह दी है, वह कुछ अंशों में जायज है। उपभोग की वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाकर मुद्रा की बाढ़ कम करनी है। सरकार का ध्यान कृषि के विकास की ओर भी होना चाहिए। जहाँ तक लेखक की बुद्धि दौड़ती है सरकार को (बैंकों को नहीं) एक प्रकार के बिल चलाने चाहिए जिन पर अच्छा सूद दिया जाय और सभी लोग उनमें अपनी अवशिष्ट पूँजी लगा सकें। ये बिल "राष्ट्रीय बचत संस्था" (National Savings Corporation) के तत्वाधान में चलाए जा सकते हैं। किसी भी स्वतंत्र देश में जो औद्योगिक अभ्युदय का इच्छुक है, इस प्रकार की संस्था की सृष्टि नितांत जरुरी है। सरकार इन बिलों से प्राप्त रुपयों को औद्योगिक-विकास और और उत्पादन-वृद्धि में लगा सकती है। यदि सरकार ऐसा इन्तजाम करे कि कम-से-कम लोगों द्वारा बैंक, डाकघर, आदि संस्थाओं में जमा की गई बचतों (Savings) पर कर न लगे या कम लगे तो अवश्य ही बहुत-सा धन एकत्र हो सकता है।

भारतीय मुद्रास्फीति के उन्मूलन के लिये प्रयास करते सरकार को रुपए के वर्तमान विनिमयगत मूल्य या अर्घ (Exchange-Value) से भी निबटना होगा क्योंकि उसमें कृत्रिमता का अंश मौजूद है। भारत "अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि" (I. M. F.) का सदस्य हैं और उसे एक खुली अर्थ-प्रणाली (बंद अर्थ-प्रणाली में नहीं) की तरह इस समस्या पर विचार करना है।

सरकार भले ही पूँजीपतियों पर अधिक कर लगाने से भागे परन्तु उसे एक न एक दिन अपनी उदारनीति पर दुःख प्रकट करना होगा। युद्धोत्तर काल में ही सरकार अधिकाधिक कर ले

सकती है। युद्धकालीन मुद्रास्फीति से धनी लोग और भी अधिक धनी हो गए हैं। उनसे अधिक कर लेना, मृत्यु-कर, कृषि-आय-कर लगाकर पैसा राष्ट्रीय-कोष में संग्रहीत करना बुरा नहीं। वह तो देश के आर्थिक विकास का प्रधान साधन है। सरकार को भारतीय उत्पादकों की गति पहचाननी होगी, क्योंकि वे एकाधिकार (Monopoly) जैसी अवस्था के प्रोत्साहक हैं। उनकी इस देशघातक नीति को हटाने के लिए प्रतियोगिता (Competition) की प्रवृत्ति को प्रौढ़ करना होगा। इसके लिए आवश्यक वस्तुओं को विदेशों से मँगाना होगा, जिससे उनलोगों की लाभ-मात्रा कम हो और वे कृत्रिम ढंग से मूल्यों को ऊँचा न बनाए रख सकें।

अन्त में लेखक अपने आदरणीय अध्यापक अर्थशास्त्र के यशस्वी और प्रकांड पंडित डा० बाबूराम मिश्र, एम० ए०, पी० एच डी०, डाक्टर ऑफ साइन्स द्वारा "सर्चलाइट" में प्रकाशित मुद्रा-स्फीति पर लिखे निबंध के कुछ मौलिक विचारों का उल्लेख कर देना चाहता है। डाक्टर साहब ने बचतों को संघटित करने के साधन पर विशेष जोर दिया है। वे "अनिवार्य बचत" (Compulsory Saving) के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आमदनी का एक दशांश अनिवार्य रूप से जमा करना पड़े। केवल निम्नतम आय ही इस प्रकार की बचत जमा करने से पृथक की जा सकती है। मजदूर, वेतनप्राप्तकर्त्ता, जमींदार, कृषक, उद्योगपति सबको १० प्रतिशत आय एकत्र करना होगा। सरकार इस कार्य के लिए प्रो० केन्स प्रतिपादित "Deferred Pay Scheme" वर्णित साधनों का, जिनको युद्ध के समय ब्रिटेन में सफलता पूर्वक उपयोग किया गया था, प्रयोग कर सकती है। डाक्टर साहब का यह सुझाव ठीक है, परन्तु उसके प्रयोग में परिवार का ख्याल करके ही जीवन-परिव्यय का विचार कर ही सबको जमा करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। डाक्टर साहब का दूसरा मौलिक विचार सभी व्यवसायों को

सरकारी बही में दर्ज कराने का है। कितने लोग कर से बचने के विचार से जिस-तिस के नाम पर उद्योग-धंधे खोलते हैं, जिससे सरकार को पैसा नहीं मिल सकता। अतएव (U. K. Business Registration Act 1916) की तरह एक नियम बनाकर उसे कार्यान्वित करना हितकर होगा। कर-वसूली की शासन-व्यवस्था और उत्पादन-आन्दोलन के सम्बन्ध में डाक्टर साहब के विचार प्रगतिशील हैं और समाजवादियों से मिलते-जुलते हैं। उनके अनुसार कर से बचने (Tax Evasion) की चाल बंदकर दी जाय तो सरकार को काफी पैसा मिल जाय। उदार आयात नीति के द्वारा कृत्रिम अभाव और चोर बाजारी रोकी जा सकती है, ऐसा उनका विचार है और नव अर्थ-शास्त्रज्ञों ने भी इसे स्वीकार किया है। डाक्टर साहब का तीसरा मौलिक सुझाव मुद्रा-संग्रह के केन्द्रीय-करण के बारे में है। उन्होंने देखा है कि नगर-व्यापी और ग्राम-व्यापी अर्थ के बीच कोई संयोजक कड़ी नहीं। मुद्रास्फीति से प्रचुर धन गाँवों में जमा हो गया है। उसका सुन्दर उपयोग नहीं हो रहा है। यदि सहयोग साख आन्दोलन का पुनर्निमाण रिजर्व बैंक करना चाहता हो तो उसे शाखा बैंक प्रणाली नगरों में और इकाई बैंक प्रणाली ग्रामों में संगठित करनी ही होगी। जब तक ग्राम में एकत्र मुद्रा को बैंकों में नहीं जमा किया जाता, तब तक मुद्रास्फीति रोकने में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। डाक्टर साहब का चौथा मौलिक सुझाव ग्राम दूकानों के बारे में है। अब तक सरकार ने नियंत्रण और खाद्य वितरण को केवल नगरों में ही कार्यान्वित किया है। गाँव एक तरह से अछूते रहे हैं। सरकार को मुद्रा-स्फीति से जूझते समय चाहिए कि वह देहातों के कृषकों से अवशिष्ट (Surplus) गल्ला को खरीद ले और विक्रेताओं को कूपन दे जिससे वे दूसरी जरुरियात चीजें मोल ले सकें। इस तरह सरकार खाद्य-संकट को दूरकर आनाज के भाव को कम करेगी तथा बचतें भी संगठित कर सकेगी। लेखक की पूरी सहमति अपने अध्यापक के इन

"मौलिक" विचारों से है। यदि सरकार ने घोषणा में दिए साधनों का दृढ़ता और सतर्कता पूर्वक उपयोग किया तो कोई संदेह नहीं कि उसे मुद्रा-स्फीति की बुराइयों को दूर करने में पूरी सफलता मिलेगी। देश में मुद्रा की जो राशि है वह बहुत बड़ी नहीं, वह हमारी आवश्यकता से कदापि अधिक नहीं, उस राशि के रहते भी मौद्रिक विपणि इतनी कड़ी, इतनी गर्सी (Stringent) है। इसको देखते राशि बड़ी नहीं जान पड़ती, लोग कितने बेकार पड़े हैं। हमें मुद्रा-राशि के परिमाणात्मक पक्ष को ही नहीं देखना है, उसके गुणात्मक पक्ष को भी देखना है। यदि उपयुक्त साधनों का व्यवहार किया गया तो वर्तमान मुद्रा-राशि कभी भी बाधक नहीं हो सकती और मुद्रा-स्फीति की विभीषिका घुटने टेक देगी। अँगरेज सरकार कृत यह मुद्रा-स्फीति भारत के लिए अभिशाप के रूप में आई, परन्तु हममें वह क्षमता और बुद्धि, वह धैर्य और शक्ति है कि हम उसका हलाहल पानकर उसे वरदान में परिणत कर सकते हैं। आवश्यकता केवल सामूहिक और चतुर्दिक सहयोग और कार्यशीलता की है।

———

चतुर्थ अध्याय

मुद्रा का मूल्यकरण

(Valuation of a Currency)

आज का युग आयोजित अर्थ-प्रणाली का युग है। इनमें सरकार वैयक्तिक व्यवसाय में हस्तक्षेप करती पाई जाती है। वैदेशिक विनिमय-बाजार भी सरकार द्वारा नियंत्रित है। यह नियंत्रण कम या अधिक हो सकता है। प्रत्येक देश में विनिमय-दरों पर कोई-न-कोई अंकुश रखा गया है। इस नियंत्रण के पीछे प्रमुख कारण यह है कि सरकारें मुद्राओं के मूल्य को स्वाभाविक नहीं छोड़ना चाहती हैं। वे मुद्रा के मूल्य का प्रबन्ध करती है। इस प्रबन्ध के तीन उद्देश्य हैं; (१) मुद्रा का अधिमूल्यन (Over-Valuation) किया जाता है। इससे उसका मूल्य जितना रहना स्वाभाविक है, उतना नहीं रहने दिया जाता। (२) मुद्रा का अवमूल्यन (Under-Valuation) किया जाता है। इससे उसका मूल्य अपने स्वाभाविक स्तर पर नहीं रहता। (३) मुद्रा के मूल्य का प्रबन्ध इस तरह किया जाता है कि उसमें किसी तरह का हेर-फेर नहीं हो। इस तरह उसके मूल्य को स्वाभाविक रखा जाता है।

अधिमूल्यन

(Over-Valuation)

अधिमूल्यन का अर्थ होता है किसी मुद्रा की वहिर्गत और अन्तर्गत मूल्य-वृद्धि (Appreciation)। विनिमय-प्रबन्धन का सबसे प्रधान ध्येय यही है। इस तरह की नीति के कई कारण हैं जिनमें प्रमुख ये हैं:--(१) तटस्थ देशों से युद्ध के सामान खरीदना—

इंगलैंड ने पौंड का मूल्य ऊँचा रखकर डॉलर प्राप्त किया। जब कोई देश बाहर सेअत्यधिक माल खरीदना चाहता है तब वह अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर देता है। (२) दुनिया में बहुत-से ऐसे देश होते हैं जो दूसरे देशों से कर्ज लिए रहते हैं और कर्ज का हिसाब ऋण-दाता-देशों की मुद्रा में रहता है। अपने कर्ज को वापस करने के लिए वे अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करते हैं, जिससे ऋण की रकम कुछ कम हो जाती है। (३) कभी-कभी केवल मनोविज्ञान के कारण भी मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया जाता है। मुद्रा-स्फीति अर्थात् दामों की वृद्धि) और किसी मुद्रा के वहिर्गतमूल्य में कमी का होना-दोनों एक चीज नहीं। फिर भी दोनों अन्तर्बद्ध हैं। फिर, दामों में थोड़ी वृद्धि उनकी अधिक वृद्धि की तरह घातक नहीं। दामों की वृद्धि अगर उनकी घटती के बाद हो तो वह सिर्फ संतुलन को ही कायम करती है और एक औषध (Curative) का काम कर सकती है।

प्रथम महायुद्ध में और उसके बाद के भी मुद्राओं का खूब अधि-मूल्यन हुआ। भीषण मुद्रा-स्फीति का प्रकोप छाया रहा। इसका दुःखपूर्ण असर लोगों के दिमाग पर पड़ा। जनमत मूल्यों की अधिक या कम वृद्धि के बीच विभेद भी नहीं करता। उसके लिए मानों किसी मुद्रा के आन्तरिक और वहिर्गत मूल्य में कोई अन्तर नहीं रहा।

अधिमूल्यन के परिमाण बहुत ही भयंकर होते हैं। (१) जब कोई देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करता है तब उसके दाम दूसरे देशों के दाम की तुलना में अधिक होते हैं। निर्यात से संबंधित व्यवसायों को धक्का पहुँचता है और आयात-कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। यह एक संक्रामक रोग है। इस तरह की प्रवृत्ति से व्यापार कार्य का उत्साह ढीला पर जाता है और यह सब आर्थिक कार्य को हतोत्साहित कर देता है। दाम तथा मजदूरी पर भी इसका सामान्यतः बुरा असर पड़ता है। (२) जिस देश के लिए वैदेशिक व्यापार अधिक महत्वपूर्ण

होता है (जैसे ग्रेट ब्रिटन) उस देश के लिए मुद्रा के अधिमूल्यन का प्रभाव व्यापक और दीर्घकालीन होता है। (३) अधिमूल्यन से आर्थिक सस्ती का वेग बढ़ जाता है। आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

अवमूल्यन

(Under-Valuation)

वर्त्तमान काल में बहुत-से देश अवमूल्यन का कोर्टशिप कर रहे हैं और यह भी जान बूझकर। यह ठीक है कि अवमूल्य आयात को हतोत्साहित और निर्यात को प्रोत्साहित करता और मूल्य-तल (Price-level) का साथ देता है। जो देश इसको अपनाता है उसका मूल्य-तल दूसरे देशों के मूल्य-तलों की तुलना में गिर जाता है, भले ही दूसरे देशों के मूल्य-तल में वृद्धि नहीं हो। जिस देश के लिए वैदेशिक व्यापार अधिक महत्वपूर्ण है, उसके लिए यह तरीका हितकर नहीं। लेकिन जिस के लिए वैदेशिक व्यापार का कम महत्व है, उसको मुद्रा के अवमूल्यन से लाभ होता है। मुद्रा का अवमूल्यन किसी देश के सामान्य मूल्य-स्तर को वस्तुओं के आयात एवं निर्यात द्वारा ही प्रभावित कर सकता है। जिस देश का भाग वैदेशिक व्यापार में जितना ही अधिक होगा। उसके लिये यह प्रभाव उतना ही व्यापक और वेगवन्त होगा और उतना ही अधिक उसकी सम्पूर्ण आर्थिक-क्रियाएँ प्रभावित होंगी।

अवमूल्यन न्यूजीलैंड-जैसे देशों के लिए अधिक लाभदायी सिद्ध होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के लिए यह कम फायदेमन्द होगा। कारण कि अमेरिका के समस्त उत्पादन के दृष्टिकोण से उसका वैदेशिक व्यापार कम अनुपातवाला है। किसी कृषि-प्रधान देश के लिए ऐसी नीति बहुत आवश्यक सूझ सकती है।

ऋणी देश के लिए अधिमूल्यन और अवमूल्यन दोनों का आकर्षण हो सकता है और वे विकल्प के रूप में उसके समक्ष आ सकते हैं। (अ) अवमूल्यन द्वारा कोई ऋणी देश सूद की रकम को घटा सकता है। (ब) अगर वह कच्चे मालों का उपजानेवाला छोटा देश है और उसके लिए वैदेशिक व्यापार का काफी महत्व है तो उसके लिए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना ही अच्छा होगा। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर हम पहले दे चुके हैं कि क्योंकर अवमूल्यन अपनाया जाता है। ऊपर तीन कारण दिए गए हैं। तीनों में किस कारण से अवमूल्य किया जायगा कहना जरा कठिन है।

न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया-जैसे देश अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर अपने निर्यात को खूब बढ़ा सकते हैं। इससे उनकी उन्नति भी ज्यादा हो सकती है। वे विदेशी मुद्राओं को आसानी से मोल ले सकते हैं और वे अपने लोगों पर कर भी लगाकर सूद का थोड़ा हिस्सा दे सकते हैं।

लेकिन अवमूल्यन से ऐसे ही देशों को लाभ पहुँच सकता है जिनके ऊपर कम कर्ज है। जिनपर कर्ज का बोझ बड़ा है उनके लिए इस ढंग से पूरा फायदा नहीं होगा। हंगरी इस तरह के देशों का एक बारीक उदाहरण है।

अवमूल्यन अनैतिक और बिलकुल स्वार्थी नीति है। इससे जो कुछ लाभ होते हैं वे सभी दूसरों को नुकसान पहुँचाकर। इसका खेल तो बड़ा हल्का है। कोई भी इसे खेल सकता है, लेकिन अगर हर देश इसे खेलने लगे और देश इसी बात में प्रतियोगिता करने लगें कि मुद्रा का मूल्य दूसरे राष्ट्रों को मुद्राओं के मूल्य से कम हो तो इससे सारा खेल खराब हो जायगा और किसी देश की भी मुद्रा काम लायक नहीं रह जाएगी। (It is a game which every one can play but if every one plays at it and currencies enter upon a compelition to see which

can be pushed furtherest below its real value, it quickly develops into a race to render all currencies worthless.)

परिवर्त्तन का निराकरण

(Avoidance of Fluctuations)

कम-से-कम सिद्धान्त में तो ऐसी नीति स्तुत्य है जब देश इसे वर्तते हैं तब वैदेशिक बाजार में स्थिरता और लोच दोनों के गुण उपलब्ध होते हैं। लेकिन इस नीति को निर्धारित और कार्यान्वित करना कठिन है। उदाहरणार्थ इंगलैंड में और अमेरिका में जो विनिमय समकारी कोष स्थापित किये गये थे उनका भी उद्देश्य यही था। उन्हें मुद्रा के मूल्य का अधिमूल्य या अवमूल्यन नहीं करना था, बल्कि उसके मूल्य में जब-तब होने वाले परिवर्तनों को दूर करना (iron out) था, लेकिन व्यवहार में ऐसे कितने अवसर आए जब उन्होंने अधिमूल्यन और अवमूल्यन भी किया।

विनिमय-प्रबन्धन के दो स्थूल रूप हैं—(१) हस्तक्षेप (२) प्रतिबन्ध। हस्तक्षेप के द्वारा कोई देश अपनी मुद्रा को माँग अपनी क्रियाओं द्वारा बढ़ा देता है। प्रतिबन्ध द्वारा वह अपनी मुद्रा की पूर्ति बढ़ाकर या उसकी माँग खुद कम करता है। सन् १६१६ की मन्दी के बाद से दूसरे रूप की प्रधानता देखी गई है।

आयात-चुंगी (Tariff) लगाने से किसी मुद्रा का अधिमूल्यन और निर्यात-चुंगी लगाने से उसका अवमूल्यन होता है। निर्यात-चुंगी (Bounty) देने से अधिमूल्यन और आयात-चुंगी देने से अवमूल्यन होता है। इसी तरह सूद की दर को बढ़ा देने पर किसी मुद्रा का अधिमूल्यन और उसको घटा देने पर उसका अवमूल्यन होता है।

हस्तक्षेप का सबसे प्रचलित भेद बन्धन (Pegging) है जिसका मानी होता है किसी मुद्रा के विनिमय मूल्य को एक सीमा तक

निश्चित रखना और स्वतंत्र दर (Free Rate) से उसे विभिन्न रखना। अल्पावधि के लिए हस्तक्षेप उत्तम ही है। लेकिन इसकी मात्रा किसी देश के साधनों के ऊपर निर्भर करेगी। यह एक खर्चालु और भयंकर साधन है और इससे प्रतिकूल प्रभाव भी प्रसूत हो सकते हैं।

प्रतिबन्ध ऐसा रूप है जिसकी चर्चा हम वैदेशिक व्यापार के अध्ययन में करेंगे। हम पीछे कह आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि की मंशा संयत विनिमय-दरों (Orderly Exchange Rates) को कायम करना है।

पंचम अध्याय

मुद्रा का मूल्य

(The Value of Money)

किसी चीज का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति के सम्बंध पर निर्भर करता है। मुद्रा इस दृष्टि से अपवाद है कि उसके मूल्य में होने वाले परिवर्तन किसी एक दाम के परिवर्तन में स्पष्ट नहीं होता, बल्कि वह सभी दामों के परिवर्तनों में स्पष्ट होता है। यदि मुद्रा की माँग में बढ़ती हो, परंतु उसकी पूर्ति में बढ़ती नहीं हो तो इसका मूल्य बढ़ जायगा। दूसरे शब्दों में आम कीमत-सतह में वृद्धि होगी। उसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति में बढ़ती हो, परंतु उसकी माँग में बढ़ती नहीं हो तो उसका मूल्य कम हो जायगा अर्थात् दाम-तल गिर जायगा।

मुद्रा की पूर्ति

(Supply of Money)

किसी क्षण की मुद्रा की पूर्ति उस क्षण वर्तमान मुद्रा का सम्पूर्ण परिमाण है। मुद्रा के अंदर केवल धातवीय सिक्के और बैंक-नोट ही शामिल नहीं हैं, बल्कि दूसरी भी चीजें जो मौद्रिक कार्यों को सम्पन्न करने में प्रयुक्त होती हैं जैसे प्रधानतः बैंक की धरोहरें अर्थात् चेक, आदि। इसलिये मुद्रा का तात्पर्य सिक्का जोड़ बैंक-नोट जोड़ बैंकीय धरोहरों से है। यहाँ केवल चालू धरोहरों को ही लिया जायगा, जिन पर चेक काटे जाते हैं। इस तरह किसी क्षण मुद्रा की पूर्ति में इन तीन प्रकार की मुद्राओं को विचारस्थ करना होगा।

जब हम यह जानना चाहें कि किसी अवधि में मुद्रा की पूर्ति क्या है (उदाहरण के लिये एक वर्ष में) तो खास बात का विचार करना होगा। बात यह है कि मुद्रा की प्रत्येक अदद कई बार व्यवहृत होती है। सिक्के द्रुतगति से भ्रमण करते रहते हैं। केवल एक आदमी के पास या थैली में नहीं पड़े रहते हैं। बैंक-नोट कम तेजी से भ्रमण करते हैं। वे भी चक्कर काटते रहते हैं। बैंक की धरोहरें भी उनकी तरह ही भ्रमती रहती हैं। सन् १६३० ई० में धरोहरों का औसत पौंड एक वर्ष में ७० बार घूमा था। यदि हम यह जानना चाहें कि एक वर्ष के भीतर कितनी मुद्रा व्यवहृत हुई है तो इसके लिये हमें अस्तित्व में की मुद्रा को पूरी रकम को, जितनी बार उसने हाथ बदला है, उससे गुणा करना पड़ेगा।

विद्यमान मुद्रा की पूरी रकम = मुद्रा की रकम = म (मान लीजिये) (M)। एक वर्ष के भीतर मुद्रा की प्रत्येक अदद कितनी औसत बार घूमती है = भ्रमण की गति या तीक्ष्णता = भ (V)

इसलिये किसी क्षण मुद्रा की पूर्ति म M होगी और एक वर्ष में वह म भ M V होगी।

मुद्रा की माँग

मुद्रा की माँग मुद्रार्थ नहीं होती है। उसकी माँग कुछ कार्यों को पूर्ण करने के लिये होती है। वह विनिमय का माध्यम है। इसका काम एक हाथ से दूसरे हाथ में जाना है। एक वर्ष के भीतर लोग मुद्रा से जो कुछ कराना चाहते हैं वह यही है कि उससे कुछ कार्य पूरे हों। जब कोई चीज बेची जाती है तो इसके बदले में मुद्रा की एक रकम प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में :

हस्तान्तरित मुद्रा की रकम = बेची चीजों का कुल मूल्य—
अर्थात् म भ (MV) = "

अब बेची चीजों का कुल मूल्य भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। यह एक ओर, चीजों और कार्यों के सम्पूर्ण परिमाण से और दूसरी ओर, उन दामों से बना होता है, जिनके बराबर इनका मूल्य लगता है। इस तरह यह व्यापार के प्राकृतिक भंडार और सामान्य दाम-तल का बना होता है। व्यापार के भंडार को ट और दाम-तल को प कह सकते हैं। ऐसा करने से हमारा सूत्र होता है म भ = प ट (M V = P T)।

"मुद्रा का परिमाण" सिद्धान्त
(The Quantity Theory of Money)

यह सिद्धांत माँग तथा पूर्ति के साधारण नियमों को elliptical रूप में प्रतिपादित करता है। यदि हम मुद्रा के लिये माँग और उसकी उपलब्धि के सिद्धांतों का निरूपण कर सकें तो मुद्रा के मूल्य को निर्धारित किया जा सकता है। इस सिद्धांत का कथन है कि यदि दूसरी चीजें ज्यों-की-त्यों रहें तो, मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण का उलटा होगा। मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति के अनुपात में ही घटेगा या बढ़ेगा। यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ जायगी तो उसका मूल्य भी घट जायगा। यदि उसकी पूर्ति घट जायगी तो उसका मूल्य भी बढ़ जायगा। यदि मुद्रा का परिमाण दुगुना होवे तो उसका मूल्य आधा होगा। यही सिद्धांत अन्य चीजों के मूल्य निर्धारण में व्यवहृत होता है। अंतर केवल यही है कि मुद्रा के सम्बंध में उसकी पूर्ति में कोई परिवर्तन होने से ठीक उसी परिवर्तन के अनुकूल उसके मूल्य में भी परिवर्तन होगा। मुद्रा की माँग की लोच सदैव इकाई होती है। यदि मुद्रा के लिये माँग स्थिर रहे तो भ्रमण में आये मुद्रा के परिमाण के ठीक अनुरूप ही कीमतों की सूची बदलेगी। हमें यहाँ भ्रमण की तीक्ष्णता का विचार कर लेना होगा।

पहले के लोगों के मतानुसार मुद्रा में केवल धातवीय सिक्के तथा बैंक-नोट ही सम्मिलित थे। वे भ्रमण की तीक्ष्णता का भी विचार

करते थे। इस तरह दाम के तल (लेवेल) मुद्रा की के कुल परिमाण तथा उसके भ्रमण की तीक्ष्णता को व्यापार के भंडार से विभाजित करके निर्धारित किया जा सकता था। इसको इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं। [इसे "विनिमय का समीकरण" Equation of Exchange कहा गया है] $P = \frac{MV}{T}$

यहाँ P = दाम का तल

M = मुद्रा का समस्त परिमाण

V = मुद्रा के भ्रमण की तीक्ष्णता

और T = व्यापार का विभाजन का भंडार।

पर शीघ्र यह महसूस किया गया कि उन्नत समाज में केवल धातवीय मुद्रा और बैंक-नोट का ही प्रचलन नहीं है, बल्कि साख का भी। बैंक की धरोहरों का भी चलन है। मान लीजिये समाज में साख की कुल भंडार M' है। उसका भ्रमण भी होता रहता है। यदि भ्रमण की तीक्ष्णता V' हो तो ऊपर के सूत्र को परिमार्जित करके हम लिख सकते हैं कि

$$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

प्रो० फिशर ने यही सूत्र स्थापित किया है। यही मुद्रा का परिमाणवाला सिद्धांत है, जिसकी चर्चा इतनी हुई है। प्रो० फिशर का कहना है कि अल्पावधि में T, V, V' स्थिर रहते हैं। M के साथ M' का जो रिश्ता है वह भी स्थिर रहता है। इसके फलस्वरूप P ठीक M के अनुकूल परिवर्तित होता है। इसको दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि $\frac{1}{P}$ (मुद्रा का मूल्य) M अर्थात् भ्रमण में की मुद्रा के परिमाण के विपरीत बदलता है। अब यह देखना है कि ये क्यों स्थिर रहते हैं? प्रो० साहब उत्तर पेश करते हैं कि "अल्पावधि में मुद्रा से जो काम सम्पन्न करना पड़ता है वह स्थायी

इसलिये रहता है क्योंकि आबादी नहीं बदलती है, प्रतिजन उत्पादन भी नहीं बदलता, उत्पादकों के द्वारा की गई खपत भी नहीं बदलती, वार्टर के द्वारा जो विमिमय होता है, उसका अंश भी नहीं बदलता, और चीजों के भ्रमण की तीक्ष्णता भी स्थायी रहती है। अल्पावधि में उत्पादन के तौर-तरीके और लोगों की आदतें भी करीब-करीब स्थिर रहती हैं। फलतः मुद्रा के लिये जो माँग होती है वह भी चिर-स्थायी रहती है। पूर्ति पक्ष के बारे में भी यह कथन किया जाता है कि मुद्रा के भ्रमण की तीक्ष्णता और साख लोगों की व्यावसायिक आदतों और परिपाटी पर वह निर्भर करती है। M और M के बीच का रिश्ता बैंकों की नीति पर निर्भर रहता है। ये सभी अल्पावधि में नहीं बदलते। यही कारण है कि मुद्रा का मूल्य ठीक इसके परिमाण की विमुख दिशा में परिवर्तित होता है।

(विशेष नोट:—साधारण विद्यार्थी इसे छोड़ भी सकते हैं।) चैनड्लर के अनुसार M के निर्धारक ये हैं:—

(१) मौद्रिक आधार का विस्तार अर्थात् कोष की पूर्ति (Cash Supply)—इसमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं।

(अ) मौद्रिक स्वर्ण-स्टॉक का विस्तार जिसमें हम प्रस्तुत स्वर्ण-पूर्ति के साथ वर्तमान काल में होने वाले स्वर्ण-उत्पादन तथा स्वर्ण के आयात-निर्यात पर विचार करते हैं।

(ब) सरकार के द्वारा चलाए गए मुद्रा के और भेद—स्वर्ण सिक्काओं के अलावे और सिक्के, तथा पत्र-मुद्रा।

(स) केन्द्रीय बैंक की अवशिष्ट साख।

(२) कोई समाज कितना मुद्रा-कोष और चेक-जमा अपने पास रखना चाहता है।

(३) बैंक-कोष और चेक-जमा के बीच के लगाव की ऊँचाई—(अ) कानून या रीति द्वारा कितना कोष रखना अनिवार्य है (ब) बैंक कोष में कितना परिवर्तन आवश्यकतानुसार करते हैं।

उनके अनुसार V के निर्धारक ये हैं--

(१) साख और आर्थिक प्रणाली के विकास की अवस्था और किस सीमा तक कोई समाज उसका उपयोग करता है। (अ) कर्ज लेने-देने की सुविधा (ब) पूँजी लगाने की सुविधा।

(२) पूँजी जमा करने और उपयोग करने की आदतें जो किसी समाज की हैं।

(३) उस समाज में देयता (Payments) की प्रणालियाँ—(अ) किस गति के साथ मुद्रा को लिया और खर्च किया जाता है (ब) इस कार्य में नियमितता कैसी है (स) इसमें समय कितना लगता है ?

(४) मुद्रा के यातायात की गति।

(५) समाज की प्रतीक्षा या प्रत्याशा की अवस्था—(अ) भावी आय और वस्तुओं-सेवाओं की कीमतों के बारे में (ब) आय-दात्री प्रणीवि (Assets) की कीमतों में परिवर्तनों की अवस्था कैसी है ?

उनके अनुसार T के निर्धारक ये हैं—

(१) वे तथ्य जो तत्कालीन उत्पादन के परिमाण का निर्धारण करते हैं, जिनमें ये प्रधान हैं—

(अ) जनसंख्या का विस्तार (ब) समाज का विस्तार और उसके प्राकृतिक प्रसाधन (स) पूँजीगत साधनों (मशीन आदि) की पूर्ति (द) ज्ञान की अवस्था।

(२) उत्पादन के साधनों की रोजी का विस्तार।

(३) कितनी बार उत्पादित वस्तुएँ तथा सेवाएँ मुद्रा से बदली जाती हैं—(अ) विशिष्टीकरण का विस्तार (ब) व्यवसाय की रूप-रेखा ; व्यावसायिक समन्वय का मान।

(४) नई प्रतिभूतियों का परिमाण और कितनी बार मुद्रा के बदले उनका विनिमय होता है—

(५) पहले से किन वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है और कितनी बार उनकी बिक्री होती है ?

(६) विनिमय की गुंजाइश कितनी है ?

यह सूत्र दृष्टगोचर बात का यथावत उल्लेख करता है। यह न तो कारण की ओर इंगित करता है, न कार्य की ओर, क्रौथर महोदय ने इसको अग्रलिखित दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। कल्पना कीजिए कि किसी वर्ष दाम दुगुने हो जाते हैं। सूत्र के अनुसार तीन चीजों में कोई एक चीज (या तीनों का सम्मिश्रण ही) घटित हुई होगा:—या तो (१) मुद्रा का भन्डार ही दुगुना हो गया होगा या (२) भ्रमण की तीच्णता ही दुगुनी हो गई होगी या (३) व्यापार का भन्डार ही आधा हो गया होगा। व्यापारिक चक्र के उत्कर्ष के समय चीजों की कीमतें बढ़ने लगती हैं। उस समय तो व्यापार के भंडार में कमी नहीं होती। इसलिए कीमतों में बढ़ती या तो मुद्रा के परिमाण बढ़ने के कारण होती है या भ्रमण की तीच्णता बढ़ने के कारण या दोनों के थोड़ा-थोड़ा बढ़ने के कारण। सूत्र के आधार पर कोई भी नहीं कह सकता कि कौन किसका कारण बनता है। इसी तरह जब कीमतें कम होने लगती हैं तो ऐसा व्यापार के समान के बढ़ने से नहीं होता। इसके विपरीत, जब कीमतें गिरने लगती हैं तब या तो मुद्रा का भंडार ही कम होता है या भ्रमण की तीच्णता कम रहती है या दोनों ही कम।

कीमतों के दीर्घकालीन परिवर्तनों की हालत में हम कार्य-कारण का पता लगा सकते हैं। व्यापार-चक्र के अन्तर में व्यापार का भंडार बदलता रहता है, परन्तु शताब्दियों में तो यह धीरे-धीरे ही बदलता है। इसी तरह भ्रमण की तीच्णता भी ठप पड़ जाने के कारण नहीं बदलती और बदलती भी है तो शनैः शनैः। अब जब न V बदलता है और न T परन्तु औसतन दीर्घावधि में एक वर्ष की अपेक्षा दूसरे वर्ष की कीमतें चाहे अधिक होती हैं या कम। इसकी वजह क्या है ? इससे तो यही जान पड़ता है कि P में का कोई परिवर्तन M में के समान परिवर्तन से संबंधित है। अतएव अन्ततोगत्वा P और M ही प्रधान चीजें हैं।

सन् १८२० से सन् १९१४ तक—इन ९६ वर्षों में दोनों की ४ प्रधान गतियाँ थीं। इस अवधि में मुद्रा की पूर्ति सोना पर ही अवलम्बित थी। सोने के सिक्के बहुत प्रचलित थे। बैंक-नोटों का प्रचलन अपेक्षाकृत कम था। बैंकीय धरोहरें सोने के भंडार से सम्बंधित थीं। बैंकवाले खजाने में सोना रखकर ही चेक चलाते थे। इंगलैंड में मुद्रा का कुल परिमाण सोना के कुल परिमाण से सीधा सम्बंधित था। दाम में उसी समय परिवर्तन होता था जब सोना की पूर्ति में परिवर्तन होता था। सन् १८२० से सन् १८४९ तक व्यवसाय बढ़ रहा था, पर सोना अधिक नहीं मिल रहा था। इसलिए कीमतें गिर रही थीं। सन् १८४९ से सन् १८७४ तक कालिफोर्निया और आस्ट्रेलिया में सोना की खानें पाई गई थीं और सोना निकाला जा रहा था। सोना का भंडार व्यापार के भंडार से अधिक बढ़ रहा था। इसलिए दाम भी बढ़ रहे थे। सन् १८७४ से सन् १८९६ के बीच सोना की उत्पत्ति कम हो गई, अमेरिका, और जर्मनी ने सोना के लिए स्पर्द्धा आरंभ कर दिया। व्यापार बढ़ चला। परन्तु सोने का भंडार कम रहा। फलतः कीमतें गिरने लगीं। सन् १८९६ से सन् १९१४ तक वैज्ञानिक ढंग से सोना का उत्पादन बढ़ाया गया और व्यापार के भंडार की अपेक्षा सोने की बाढ़ ही ज्यादा थी। इसका नतीजा यह हुआ कि चीजों की कीमतें बढ़ने लगीं। कहने का आशय यह है कि मुद्रा के परिमाण ने ही उसके मूल्य को प्रभावित किया। ऐसे ही समय में लार्ड केन्स की वह उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती थी कि कोई आदमी अपनी जेब में लंदन के केन्द्रीय बैंक के नोट लेकर काउन्टर पर जा सकता था और बदले में अपनी जेब में झनझनाते हुए पीले सिक्के भरकर ला सकता था।

आलोचना

(Criticism)

मुद्रा का परिमाणवाला सिद्धान्त व्यापार-चक्रों के कारणों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकता। मुद्रा के अभाव से व्यापार क

पुनरोत्थान भी मन्दी में बदल सकता है। पर मंदी बिना मुद्राभाव के भी शुरु हो सकती है।

इसी तरह सरकार मुद्रा के अत्यधिक भंडार सृष्ट करके रिफलेशन या इनफलेशन आरंभ कर सकती हैं। अतः इस सिद्धांत के संबंध में अधिक-से-अधिक हम जो कह सकते हैं, वह यही है कि बहुत बड़ी अवधि में ही मुद्रा के परिमाण का प्रभाव कीमतों पर पड़ सकता है। व्यापार-चक्र की अल्पावधि में यह कीमतों की गतियों को नियंत्रित कर या नहीं भी कर सकता है।

भ्रमण की तीक्ष्णता के बारे में भी कुछ लिख देना अच्छा जान पड़ता है। मुद्रा के दो भेद हैं। एक गोल मुद्रा होती है, दूसरी पड़ी (flat) मुद्रा। अभी तक गोल (round) मुद्रा का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह देखना है कि (Flat Money) किस तरह अपना मूल्य धारण कर लेती है और इसकी माँग को किस तरह नापा जाता है फ्लैट मुद्रा मूल्यधारक है। मुद्रा को संचित करना दुःखावह है। मनुष्य उपभोग का न्योछावर करके ही मुद्रा का संचय करता है। मनुष्य अपनी वास्तविक आमदनी का जितना अंश मुद्रा के रूप में रखना चाहेगा उतनी ही कम भ्रमण की तीक्ष्णता होगी। वह अपनी वास्तविक आमदनी का जितना कम भाग मुद्रा के रूप में रखना चाहेगा उतनी ही अधिक भ्रमण की तीक्ष्णता होगी।

मुद्रा की माँग*

(Demand for Money)

मन्दी के दिनों में दूसरे मूल्य कम होने लगते हैं। स्टॉक एक्स-चेंस में सेक्यूरिटियों का दाम दिनोंदिन कम होता जाता है। माँग की कमी के कारण जमीन, घर, यहाँ तक कि आभूषणों, आदि के मूल्य कम होने लगते हैं। यदि किसी चीज का मूल्य बढ़ता है तो वह मुद्रा है। ऋण का यथार्थ मूल्य बढ़ता जाता है। कर्जदाता

* "मुद्रा की माँग" के बारे में आरंभ में कुछ लिखा गया है।

बनना आकर्षक हो जाता है। इन दिनों सभी लोग कर्ज से मुक्त होना चाहते हैं और कुछ पैसा एकत्र करने की लालसा करते हैं। इन दिनों अनिश्चयताओं का प्रकोप रहता है। लोग आमदनी से कुछ बचाकर रखना ही नहीं चाहते बल्कि जिनके पास यथेष्ट स्थिर चीजें रहती हैं, उन्हें वे जल्दी से मुद्रा में बदलने की इच्छा करते हैं, क्योंकि मुद्रा को किसी समय काम में लाया जा सकता है। यद्यपि घर में मुद्रा रखने से कोई लाभ नहीं होता, तथापि समय ऐसा रहता है कि उसे इस तरह सुरक्षित रखना ही पड़ता है।

व्यापारिक धूम के समय में मुद्रा को बेकार अपने पास रखना ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि उस समय मुद्रा तुच्छ पदार्थ जान पड़ती है। सम्पत्ति के दूसरे भेद मूल्य में बढ़ते जाते हैं। केवल मुद्रा का मूल्य ही गिरता जाता है, मुद्रा से जमीन या जमानतें या शेयर खरीदने से कुछ सूद भी मिल सकता है। उधार लेकर भी पूँजी व्यवसाय में लगाई जा सकती है, क्योंकि इस तरह जो नफा होता है उससे कम ही सूद पूँजी पर देना पड़ता है। कीमतें जब गिरने लगती हैं तो मुद्रा को रखना कम आकर्षक होता है। लोग आमदनी का कम अंश अपने पास रखना चाहते हैं। यदि इनफलेशन बहुत अधिक हुआ तो यह अंश बहुत ही कम हो जायगा। मुद्रा का मूल्य इसलिए बदलता है कि लोगों को उसका जो उपयोग करना होता है, वह बदलता रहता है। इसका मूल्य उसकी भ्रमण तीक्ष्णता के बदलने से ही नहीं बदलता।

कितनी मन्दियाँ मुद्रा के भंडार के सहसा संकुचित करने से नहीं उत्पन्न होती हैं, बल्कि मुद्रा के भ्रमण की तीक्ष्णता के सहसा कम हो जाने से मंदी होती है। यदि V सहसा कम हो जाय तो M को बढ़ाकर वह पूरी की जा सकती है। परंतु ऐसा करना एक अनुचित आर्थिक प्रणाली है।

इस सिद्धान्त की आलोचना

(Criticism of the Quantity Theory)

इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना हुई है। उसे आगे दिया जाता है। यह सिद्धान्त भले ही पुराने समाज में लागू हो, किन्तु वर्तमान समाज में उसका लागू होना कठिन जान पड़ता है।

(१) यह सिद्धान्त मानता है कि "दूसरी चीजें स्थिर रहें" परन्तु वास्तविक जगत् में कोई चीज सदैव स्थिर नहीं रहती। सभी पूर्व कल्पित चीजें अल्पावधि में ही बदल जाती हैं, दीर्घावधि की बात ही क्या? आबादी, व्यवसाय-राशि, भ्रमण की तीक्ष्णता, आदि सभी कुछ बदलते रहते हैं। जब मुद्रा की राशि बढ़ती या घटती है तो भी व्यवसाय की राशि समान ही रहती है—यही इस सिद्धान्त की कल्पना है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि व्यवसाय की राशि स्थायी ही नहीं रहती। जब मुद्रा की राशि दुगुनी हो जाती है, व्यापार की राशि भी दुगुनी हो जा सकती है और उस दशा में मुद्रा के मूल्य में कोई कमी नहीं होगी। इरविङ्ग फिशर और टासिग का मत है कि अल्पावधि में यदि मुद्रा की राशि में बढ़ती हो जाय तो उसका असर हटाया जा सकता है। अगर भ्रमण की तीक्ष्णता में कमी हो जाय या व्यापार की राशि में बढ़ती हो जाय, किन्तु दीर्घावधि में मुद्रा-राशि में कोई भी परिवर्तन अनुपाततः कीमतों में बराबर परिवर्तन ही प्रस्तुत करेगा। इस तरह यह सिद्धान्त (Stationary) जड़वादी है।

(२) यह सिद्धान्त यह मानता है कि साख-सम्बन्धी साधनों का प्रयोग एक-सा बना रहता है। परंतु यह मानना ठीक नहीं है। इतना ही नहीं M′ (अर्थात् साख) M (मुद्रा) के साथ सदा एक-सा अनुपात नहीं रखता।

(३) "जितने फैक्टर इस सिद्धांत में सन्निविष्ट हैं, वे स्वतंत्र रूप से नहीं बदलते। ऐसा नहीं होता है कि एक फैक्टर बदले तो दूसरा फैक्टर न बदले। उदाहरण के लिए, M में कोई परिवर्तन हो तो

V में भी परिवर्तन हो सकता है तथा P में अपेक्षाकृत ज्यादा परिवर्तन हो सकता है। गत महायुद्ध के बाद जर्मन मार्क का मूल्य धीरे-धीरे गिर रहा था। लोगों का विश्वास घट रहा था। कोई भी आदमी उसे पास में रखना नहीं चाहता था। ज्यों ही लोग मुद्रा पाते थे त्यों ही वे उसे चीजों में परिणत कर देते थे। V बढ़ता ही गया। M के बढ़ने से उसका कोई सरोकार न रहा। इसी तरह M में कोई परिवर्तन T में परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। P में का कोई परिवर्तन M में परिवर्तन कर देता है। मुद्रा की पूर्ति में की कोई बढ़ती कीमतों को बढ़ा सकती है, नफा बढ़ा सकती है, उत्पादन को इतना बढ़ा सकती है कि कीमतें आप ही आप गिर जायँ। इतना ही नहीं, कीमतों के अधिक रहने से काम पूरा करने के लिए अत्यधिक मुद्रा की जरूरत पड़ सकती है। इस तरह ऊँची कीमतें मुद्रा-राशि की बढ़ती का कारण हो सकतीं, कार्य नहीं।

(४) यह सिद्धांत मानता है कि बार्टर के द्वारा जितना आदान-प्रदान होता है, वह सदैव एक-सा रहता है परंतु यह घट-बढ़ भी सकता है और मुद्रा के लिए माँग को प्रभावित भी कर सकता है।

(५) यह सिद्धांत मानता है कि "भ्रमण की तीक्ष्णता" एक रहती है, परंतु वास्तव में बात यह नहीं है। लोगों की बैंक-सम्बन्धी आदत के बदलने से और आवागमन के साधनों के विकास से यह भी परिवर्तित हो सकती है। यह कीमतों के घटने-बढ़ने से और मुद्रा की राशि से भी बदल सकती है।

(६) कुछ लोग "भ्रमण की तीक्ष्णता" के विचार से सहमत नहीं हैं। मार्शल ने कहा है कि "परिमाणवाला सिद्धांत उन कारणों की व्याख्या नहीं करता जो भ्रमण की तीक्ष्णता को परिचालित करते हैं।" इसलिए कुछ इसके बदले "मुद्रा की माँग" को ही रखना बेहतरीन समझते हैं।

(७) क्रौथर महोदय तर्क करते हैं कि यह सिद्धांत "कैसे" को समझता है, "क्यों" को नहीं। "क्यों" को यह दीर्घावधि होने पर

ही समझा सकता है। यह इसकी व्याख्या भी नहीं कर सकता कि क्यों किसी एक समय मुद्रा की विशेष सृष्टि चीजों की कीमतें बढ़ा सकती है, परंतु किसी दूसरे समय ऐसा नहीं।

(८) प्रो० हाएक का कथन है कि इस सिद्धांत ने मुद्रा-शास्त्र में इतना स्थान ग्रहण कर लिया है कि अर्थशास्त्र से मुद्रा-शास्त्र विच्छिन्न ही हो गया है। जिस विचार से इस सिद्धांत का उद्गम होता है वह अग्रिम प्रगति में काफी बाधक है।

(९) यह सिद्धांत यह मानता है कि मुद्रा का जितना भाग गड़ा रहता है या कलाओं में लगा रहता है, वह सदैव एक ही रहता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से यह गलत जान पड़ता है। मुद्रा की राशि में कोई हेर-फेर होने से लोग अपने पास की संचित मुद्रा-राशि में अदल-बदल कर देते हैं।

(१०) केन्स कहते हैं कि यह सिद्धांत मुद्रा के गतिशील प्रश्न की अभिव्यंजना नहीं करता। मुद्रा का वही सिद्धांत उत्तम है जो जीवन की नित-नूतन घटनाओं पर अपनी नजर कायम करता है, जो दाम-तल के मूलभूत कारणों का विवेचन करता है, जो सन्तुलन के परिवर्तन को अपना दृष्टि-बिंदु मानता है आदि।

लार्ड केन्स ने इस सिद्धांत की आलोचना इस बात से अधिक की है कि यह पूर्ण रोजी के सतत् अस्तित्व की मान्यता के ऊपर अवलंबित किया गया है। उनका कहना है कि मुद्रा के परिमाण में जब कोई परिवर्तन होता है तब उसका प्रधान असर "प्रभावोत्पादक माँग" के ऊपर पड़ता है। केन्स ने निम्नलिखित समीकरण लिखा है—

$$MV = D$$

यहाँ D "प्रभावोत्पादक माँग" का बोधक है।

यह समाज की वह आमदनी है जिसकी उम्मीद में समूचा उत्पादन पहले से किया जाता है। अगर 'V' स्थिर रहे और 'M' में हेर-फेर हो तब उसका सीधा असर 'D' पर पड़ेगा। 'D' में भी उसी अनुपात में 'M' में कमी-बेशी होगी। लेकिन ऐसा उसी समय

हो सकेगा जब समाज के अन्दर बेकार साधन हों। तब 'M' में जो कमी-बेशी होगी, उसके फलस्वरूप समाज को मुद्रा-आय और वास्तविक आय दोनों में समानुपातिक कमी-बेशी होगी।

(११) विट्टेकर कहते हैं कि भले ही यह सिद्धांत कीमतों के तल में अंतर्हित कारणों की सुन्दर व्याख्या हो तथापि Causation की व्याख्या करने में इसकी अनेकों त्रुटियाँ हैं।

यदि इस सिद्धांत का वैज्ञानिक ढंग से परिमार्जन करें तो हमें केवल मुद्रा की राशि को ही ध्यानस्थ नहीं करना होगा, बल्कि मुद्रा की पूर्ति और उसके लिए माँग का भी निरुपण करना होगा, क्योंकि अन्य चीजों की तरह मुद्रा का मूल्य भी इन्हीं शक्तियों के वशीभूत है।

मुद्रा के परिमाणवाले सिद्धांत की व्यावहारिक उपादेयता यही है कि मुद्रा का मूल्य इसके परिमाण को अदल-बदल करके ठीक रखना चाहिए। बहुत बार ऐसा हुआ है कि मुद्रा-राशि को कम करने या उसको नहीं बढ़ाने से कीमतें गिर जाती हैं। फिर ऐसा भी बहुत बार हुआ है कि अधिकारियों ने जनता को अधिक-ही-अधिक मुद्रा दी है, जिससे चीजों की कीमतें बढ़े' परंतु मुद्रा को लेनेवाले कम मिले हैं। बात यह है कि घोड़ा को जल पीने से रोका जा सकता है परंतु यदि वह प्यासा नहीं हो तो कितना भी कोई तंग करे वह जल नहीं पी सकता। "वस्तुतः मुद्रा का मूल्य समस्त आमदनियों का परिणाम है, मुद्रा के परिमाण का नहीं।" (क्रौथर)

अंत में यह कह देना अच्छा जान पड़ता है कि मुद्रा का मूल्य उसकी पूर्ति और माँग पर निर्भर रहता है। आधुनिक समाज में मुद्रा की पूर्ति सोना और चाँदी, कोश-प्रवेश्य करेंसी, सहकारी सिक्काओं और साख (चेक, हुँडी, आदि) की समष्टि है। सोना-चाँदी की प्राप्ति खनन की निपुणता, खानों की खोज, धरोहरों के बाहर निकालने पर निर्भर रहती है। कोश-प्रवेश्य और सहकारी सिक्काओं की प्राप्ति सरकार की नीति और उसकी आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। बैंक-मुद्रा की उपलब्धि बैंक-डिपोजिटों और

बैंकों की साख नीति पर निर्भर रहती है। इन मुद्राओं का प्रयोग अलग-अलग किस हद तक होगा यह समाज की आर्थिक उन्नति पर निर्भर है।

मुद्रा के लिए माँग, लोगों के द्वारा, सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा होती है जो कैस रखना चाहती हैं। मुद्रा की कितनी रकम माँगी जायगी यह आबादी, लेन-देन के साधनों, लेन-देन की राशि, सम्पत्ति-वितरण और व्यावसायिक उम्मीदों पर निर्भर रहती हैं।

अतः मुद्रा का मूल्य या दाम-तल माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। यदि मुद्रा की माँग बढ़ जाय और उसकी पूर्ति बनी रहे तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाय, परंतु उसके लिए माँग बनी रहे, तब मुद्रा का मूल्य घट जायगा। मुद्रा का मूल्य उसी बिंदु पर निर्णीत होगा, जहाँ माँग तथा पूर्ति की शक्तियाँ संतुलित होंगी।

———

षष्ठ अध्याय

मौद्रिक प्रणालियाँ या प्रमाप

(Monetary Systems)

मुद्रा के कार्यों का उल्लेख करते समय लिखा जा चुका है कि मुद्रा का एक काम मूल्य-मापक का भी है। मूल्य का मापदंड होने के लिए मुद्रा के लिए यह जरूरी है कि उसका मूल्य स्थिर रहे और वह बहुत शीघ्रता से परिवर्त्तन नहीं हो। यही लक्ष्य है जिसकी पूर्त्ति के लिए किसी देश में कभी करेंसी का मूल्य सोना या चाँदी के रूप में स्थिर किया जाता है। देश सोना या चाँदी की मूल्य को मापदंड बनाता है। कभी-कभी वह दूसरे देश की करेंसी को ही अपने देश की करेंसी का मापक बनाकर उसीके रूप में इसका मूल्य कायम रखता है। समयानुसार विभिन्न देशों ने विभिन्न मौद्रिक प्रणालियाँ अपनाई हैं। जब कोई एक धातु चाँदी या सोना के मूल्य का मापक मानी जाती है तब जो मौद्रिक प्रणाली रहती है, उसे एकधातवीय मुद्राविधि कहते हैं। जब सोना मापक होता है तब उसे स्वर्णविधि कहते। जब चाँदी मापक होती है तब मौद्रिक प्रणाली को रजतविधि या चाँदी की मुद्राविधि कहते हैं। कभी-कभी मौद्रिक प्रणाली में दो धातुओं का समावेश हो जाता है। दो धातु मूल्य के मापक मानी जाती हैं। मूल्य के मापक के लिए दो धातु विभिन्न रूपों में सम्मिलित की जा सकती हैं। एक ही देश में चाँदी और सोना दोनों सिक्काओं का काम दे सकते हैं। चाँदी और सोना के सिक्के दोनों के दोनों कोश-प्रवेश्य और प्रामाणिक मुद्रा हो सकते हैं। उनका विनिमयवाला अनुपात निश्चित किया जा सकता है। वे स्वतंत्र रूप से मुद्रित होते हैं। जब इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली किसी देश

में प्रचलित हो जाती है तब हम कहते हैं कि देश में द्विधातवीय मुद्रा-विधि (Bimetallism) प्रचलित है। जब दोनों धातु पूर्ण कोश-प्रवेश्य होती हों परंतु उनमें से कोई एक धातु (अधिकतर चाँदी) स्वतंत्र रूप से मुद्रित नहीं होती तो ऐसी मौद्रिक प्रणाली को लिम्पीङ्ग मुद्राविधि कहते हैं। दो धातुओं को सम्मिलित करने का दूसरा तरीका यह है कि एक धातु का कुछ अंश और दूसरे धातु का कुछ अंश मिलाकर कोई मुद्रा चलाई जाय। इस तरह दो धातुओं के मिलने से जो प्रणाली बनती है उसे सिमेटलीजम्प (Symmetallism) कहेंगे। ऐसा करने से कोई एक धातु दूसरे को अपदस्थ नहीं कर सकता है। इस तरह की विधि स्वर्णमुद्रा विधि और द्विधातवीय मुद्राविधि के मध्य का स्थान ग्रहण करती है। एक पत्र मुद्राविधि भी होती है जिसके अनुसार पत्रमुद्रा ही प्रामाणिक मुद्रा होती है। करेंसी की सरकार पत्रमुद्रा को सोना में नहीं बदलती। गत विश्वव्यापी मन्दी के समय बहुत से देशों ने स्वर्ण विधि को छोड़ दिया और पत्रविधि को अपनाया।

एक धातवीय मुद्रा-विधि
(Monometallism)

यह स्वत: परिचालित करेंसी है। यह करेंसी की वह प्रणाली है जो सोना या चाँदी के बल एक ही धातु पर अवलम्बित होती है। जो देश इसे अपनाता है उसमें ही स्वतंत्र रूप से मुद्रा में स्फीति होती है। वह पूरा कोश-प्रवेश्य होता है। उसके आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। कुछ ही वर्षों के पूर्व इंगलैंड में स्वर्ण धातवीय मुद्रा विधि थी। चीन में रजत धातवीय मुद्राविधि थी। भारतवर्ष की मुद्रा प्रणाली एक धातवीय नहीं कही जा सकती क्योंकि रुपया टोकेन मुद्रा है और चाँदी को स्वतंत्र रूप से मुद्रा में स्फीत नहीं किया जाता।

द्विधातवीय मुद्रा-विधि

(Bimetallism)

इस मुद्राविधि के प्रधान लक्षण ये हैं :—इसमें सोना और चाँदी दोनों ही प्रामाणिक धातु हैं। दोनों की स्वतंत्र मुद्रा-स्फीति होती है। दोनों असीम कोश-प्रवेश्य मुद्राएँ होती हैं। दोनो के बीच एक अनुपात ठीक कर दिया जाता है। इसे कायम रखना अधिकारी वर्ग का काम है। कर्जदार की इच्छानुसार ऋण स्वर्ण या रजत मुद्राओं में चुकाया जाता है। इंगलैंड में सन् १८१६ ई० में द्विधातवीय मुद्राविधि का परित्याग कर दिया गया। फिर भी १८ वीं शताब्दी में इंगलैंड में स्वर्ण ही वास्तविक स्टैन्डर्ड था। फ्रांस ने सन् १८०३ ई० में इस विधि को स्वीकार किया था। सोना और चाँदी का अनुपात १५½ औंस पर ठीक हुआ। करीब १८५३ ई० तक यह मुद्रा विधि फ्रांस में कायम रही। सन् १८४८ और १८५० के बीच सोना की खानें खोजी गईं। सोना का भंडार बढ़ गया। चाँदी के हिसाब में सोने का मूल्य कम हो गया। लोग चाँदी गलाकर रखने लगे। फ्रांस को पुराने अनुपात को छोड़ देना पड़ा और चाँदी का मूल्य बढ़ाना पड़ा।

इस मुद्राविधि में ये गुण बतलाए जाते हैं। पहला गुण यह बतलाया जाता है कि इस द्विधातवीय मुद्रा विधि से चीजों की कीमतें अधिक स्थिर रहती हैं। स्वर्ण विधि में ऐसा होना कठिन है। किसी एक धातु का उत्पादन सदैव एक-सा नहीं बना रहता है। दोनों का उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ रहता है। धातवीय सिक्काओं की पूरी राशि अधिक होती है। इसलिए किसी एक धातु की कमी-बेशी से मुद्रा का मूल्य अधिक प्रभावित नहीं होता। यदि किसी धातु के उत्पादन में कमी-बेशी होगी तो वह दूसरे धातु को कम-बेशी करके पूर्ण की जा सकती है। अतः प्राइस-लेवल के अचल रहने से देश की मौद्रिक स्थिति अच्छी बनी रहती है। इस तरह एक धातवीय मुद्रा

विधि की अपेक्षा द्विधातवीय मुद्राविधि अधिक अटल होती है। दूसरा गुण यह है कि यह मुद्रा विधि कीमतों को घटने से रोक देती है। जैसा उस समय बहुत होता है जब सभी देश ही स्वर्ण स्टैंडर्ड अपना लेते हैं और स्वर्ण की उपज सम्पूर्ण आवश्यकता से कम हो जाती है। जब ऐसा समय आता है, कीमतें गिरने लगती हैं और मंदी आ जाती है, इस विधि से चाँदी का भी उपयोग होता है। इससे कीमतों का गिरना कम हो जाता है। इस मुद्रा विधि से तीसरा लाभ यह होता है कि इससे चाँदी का मूल्य कम होना रोका जा सकता है जिससे चाँदी का व्यवहार करने वाले देशों की क्रय-शक्ति बढ़ सकती है। १६ वीं शदी के लगभग तृत्यांश में चाँदी की कीमत जल्दी-जल्दी घट रही थी और चाँदी का उपयोग करने वाले देशों की क्रय-शक्ति बहुत जोरों से कम हो रही थी। वे चीजों को खरीदने से असमर्थ हो रहे थे। यदि चाँदी का फिर से मुद्रीयकरण होता तो चाँदी की कीमत बढ़ जाती जिससे उसका व्यवहार करने वाले देशों की क्रय-शक्ति भी बढ़ सकती थी और उनकी माँग बढ़ने से मंदी का खात्मा हो सकता था। चौथा लाभ यह है कि द्विधातवीय मुद्रा विधि के कारण देश-देश के बीच का विनिमय अबाधगति से चलता रहता है क्योंकि चाँदी और सोने के बीच का अनुपात निर्णीत रहता है। अनुपात के बीच गड़बड़ी होने से देश-देश के बीच का व्यापार भी गड़बड़ हो सकता है। पाँचवी बात यह है कि इस मुद्रा विधि में चीजों की कीमतें केवल अचल ही नहीं रहतीं बल्कि ऊँची भी रहती हैं जिससे कर्जदारों और उत्पादकों को लाभ होता है। छठा लाभ यह है कि इस मुद्रा विधि से मुद्रा-बाजार की संकीर्णता दूर हो जाती है और सूद की दर कम होती है। सातवाँ और अंतिम लाभ यह है कि इस विधि के प्रचलित रहने से किसी देश को यह सुविधा रहती है कि वह अपनी सुविधा के अनुसार दूसरे देश में चाँदी या सोना भेज सकता है, यदि दूसरा देश भी चाँदी या सोने का उपयोग करता है।

द्विधातवीय मुद्रा विधि के ये अवगुण हैं। (१) दो धातुओं के बीच में (Par of Exchange) कायम रखना कठिन है। जब किसी एक धातु का मूल्य बाजार में बढ़ जाता है तब उसके पुराने भाग से ही दूसरी धातु का अधिक भाग खरीदा जा सकता है। फलतः लोग मूल्य बढ़ी धातु के दूसरे धातु के बदले मिंट रेशियों में नहीं देंगे। वे लोग बाजार में पहले धातु को बेच देंगे। धीरे-धीरे यह धातु लुप्त हो जायगी।

फिर भी यह कह देना भी उचित है कि यह मुद्रा विधि इसका आप संशोधन करती है। ज्यों ही लोग मूल्य बढ़े धातु को बाजार में बेचना शुरू करते हैं, इस धातु का भंडार बढ़ जाता है। इसलिए इसका मूल्य कम हो जाता है। मूल्य घटे धातु के लिए लोग अधिक माँग करने लगेंगे जिससे उसका मूल्य भी धीरे-धीरे बढ़ने लगेगा। अगर सभी देश द्विधातवीय मुद्रा प्रमाप को अपनावें तो (Par of Exchange) को कायम रखना कठिन नहीं है (२) यद्यपि द्विधातवीय मुद्रा प्रमाप मूल्य-सूची में अधिक हेर-फेर करना रोक देती है तथापि कीमतों में बहुधा हेर-फेर होता ही है, क्योंकि मुद्रा का मूल्य दोनों धातुओं की राशियों से इस हालत में प्रभावित होती है।

(३) इससे विनिमय में सट्टा बढ़ने की अनुचित प्रेरणा मिलती है। सट्टा करने वाले भ्रमण में से किसी एक धातवीय मुद्रा को रोक रखते हैं और उसे बाजार में बेचना शुरू करते हैं। इससे वे अनुचित लाभ उठाते हैं। इस तरह की कुप्रथा को रोकना प्रत्येक देश की सरकार का कर्त्तव्य है।

(४ इस विधि को अपनाने से करेंसी की प्रणाली संश्लिष्ट और दुरुह हो जाती है। केंद्रीय बैंक-मुदा-प्रणाली का शासन करना कठिन-तर पाते हैं। दो धातुओं के साथ-साथ प्रचलन से उनका मूल्य कायम रखना बहुत ही श्रम खोजता है।

(५) इससे कर्ज देने वालों और कर्ज लेने वालों में अनबन हो जाती है। कर्जदार लोग अपने कर्ज को घटे-मूल्य वाली धातु के सिक्कों में लौटाना चाहते हैं, परंतु कर्ज देने वाले बढ़े मूल्य वाली धातु के सिक्के चाहते हैं। इस तरह के विरोध से सामाजिक जीवन विषाक्त हो जाता है। हाँ, यदि सरकार दो धातुओं के बीच के अनुपात को बनाये रखने की कोशिश करे तो ऐसी परिस्थिति नहीं खड़ी हो सकती है। फिर भी हमें अतंर्राष्ट्रीय स्थिति का भी विचार करना होगा क्योंकि इन दिनों देशों का जीवन इस प्रकार गुम्फित है कि यदि एक देश अनुपात को कायम रखना चाहे और दूसरा देश नहीं तो यह मुद्रा प्रमाप सुचारु रूप से कदापि नहीं चल सकती है।

(a) इस मुद्रा प्रमाप से अनेकों कार्य सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त द्रव्य प्राप्त होता है परंतु जब आज बैंक के द्वारा साख संबंधी साधन और पत्र-मुद्रा की सुविधा से वे सम्पन्न किए जा रहे हैं तो इस प्रकार को प्रणाली की सचमुच कोई आवश्यकता नहीं है।

रजत मुद्रा-प्रमाप

(Silver Standard)

इसके अनुसार मुद्रा की इकाई का मूल्य चाँदी के हिसाब में निश्चित रहता है और कायम रक्खा जाता है। कोई भी चाँदी को सिक्काओं में मुफ्त परिणत करा सकता है। सिक्का एक विशेष वजन और उत्कृष्टता का होगा। भारतवर्ष में रजत मुद्रा प्रमाप सन १८३५ से सन् १८९३ तक रही। रुपया स्वतंत्र रूप से स्फीत होता था और इसका वजन १८० ग्रेन तथा उत्कृष्टता $\frac{११}{१२}$ थी अर्थात् $\frac{१}{१२}$ हिस्सा कोई दूसरी धातु रहती थी। चाँदी पाने के लिए रुपया को गलाया जा सकता है। सन् १८७४ के बाद सोना की माँग बहुत बढ़ गई, चाँदी का मूल्य घटने लगा। यह भारतवर्ष के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। बाजार में लोग सस्ते दाम पर चाँदी खरीदने लगे और

उसे रुपए में बदलने लगे। इससे उन्हें लाभ होता था। बात यह थी कि बाजार भाव और मिंट भाव का अनुपात बदल गया था। मिंट की दृष्टि से चाँदी का भाव पूर्ववत् था किंतु बाजार-भाव घट गया था। रुपया का मूल्य घट जाने से देश में चीजों की कीमतें बढ़ने लगीं। आयात को धक्का लगा। भारतीय देनों को भी बहुत धक्का लगा, क्योंकि अब इंगलैंड को बहुत ही अधिक द्रव्य देना पड़ा। आगे चलकर चाँदी की स्वतंत्र मुद्रा-स्फीति बंद कर दी गई। इस तरह रजत मुद्रा प्रमाप का परित्याग कर दिया गया। यद्यपि स्वर्ण मुद्रा प्रमाप की तरह ही रजत मुद्रा प्रमाप का संचालन किया जाता है तथापि स्वर्ण की अपेक्षा चाँदी के मूल्य में अधिक उत्थान-पतन होता है जिससे शासकों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं।

चीन में भी यह मुद्रा प्रमाप बहुत वर्षों तक रही परंतु सन १९३४ में उसे भी इसका परित्याग करना पड़ा, क्योंकि अमेरिका ने बहुत ही अधिक मात्रा में चाँदी को खरीदा।

स्वर्ण मुद्रा प्रमाप
(Gold Standard)

स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप विनिमय की दरों को स्थिर रखने का एक साधन है। ऐसे कुछ कारण हैं जिनसे ऐसी दरों में बहुत ही परिवर्तन हुआ करते हैं। मौसिमी कारण, देनों की घटनात्मक बहुलता, सट्टा, आदि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाई उपस्थित हुआ करती है। विनिमय की दरों में उलट-फेर होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति में अवरोध उपस्थित हो जाया करता है। किसी व्यावसायिक लेन-देन के आरंभ और अन्त में यदि विनिमय की दर में सहसा परिवर्तन होवे तो जिस लाभ की आशा की गई थी वह तो होगा ही नहीं, उलटे काफी नुकसान भी होगा। ऐसा होने से व्यापारी लोग अपना काम अनिश्चय पूर्ण वातावरण में करते हैं। इसके प्रतिफल व्यापार-राशि

की गहरी चोट पहुँचती है। इसके अरिरिक्त यदि कर्जदार या कर्ज-दाता के देश की करेन्सी में उधार का सट्टा-पट्टा किया जाय तो उसे समझना दुरुह होगा। अधिकतर ऋण कर्ज देनेवाले की करेन्सी में ही प्रकट किया जाता है। इसलिए कर्जदार के ऊपर बहुत बोझ पड़ता है। इस तरह घटती हुई विनिमय-दरों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अर्थ पर संकट उपस्थित हो जाता है। परन्तु स्वर्ण मुद्रा प्रमाप से इस प्रकार का संकट या बोझ मिट जाता है।

स्वर्ण मुद्रा प्रमाप वह तरीका है जिसके द्वारा किसी करेन्सी की मुद्रा विशिष्ट गुण-सम्पन्न स्वर्ण के स्थिर परिमाण से बदली जा सकती है। "The gold Standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a currency is exchangeable with a fixed quantity of gold of specified quality."

सोना को किसी अन्य धातु की अपेक्षा अधिक उत्कृष्टता प्राप्त है। लोगों का सोना में जितना विश्वास होता है उतना विश्वास अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा में नहीं होता है। स्वर्ण मुद्रा प्रमाप से किसी देश की करेन्सी को नियंत्रित किया जाता है। देश का शासक यह नियम बना देता है कि देश में जितनी करेन्सी (अर्थात् नोट) चलाई जाय उसको चलाने के लिए एक खास अनुपात पर सोना नोट चलाने वाले बैंकों के कोष में रखा जाय। केन्द्रीय बैंक को यह आदेश किया जाता है कि वह लोगों के द्वारा लाए हुए सोना को मोल ले और जिसको जरूरत पड़े उसके हाथ सोना बेचे। इस मुद्रा प्रमाप के अनुसार करेंसी को स्वर्ण में परिणत करने का नियम है। टेक-निकल विचार-विंदु की दृष्टि से मुद्रा प्रमाप इस बात को निश्चित करता है कि विनिमय बाजार में किसी करेंसी की माँग तथा पूर्ति आपस में बराबर होंगी। अधिक से अधिक करेन्सी की माँग और पूर्ति में एक प्रतिशत का अन्तर पड़ेगा। एक तरह से यह Pegging का एक विशिष्ट रूप है। लोगों का यह मत बहुत ठीक

है कि प्राप्त स्वर्ण की राशि में ऐसा परिवर्तन नहीं होगा, जिससे स्वर्ण का मूल्य बहुत अधिक बदल सके। स्वर्ण बहुत हद तक अविनिश्वर धातु है और इसकी वार्षिक उपज वर्तमान भंडार का तुच्छ भाग होती है। जो करेंसी स्वर्ण मुद्रा प्रमाप पर आश्रित है उसमें सट्टा आदि के लिए कम जगह रहती है, क्योंकि दर में केवल एक प्रतिशत ही अंतर पड़ सकता है। इस मुद्रा प्रमाप की एक और विशेषता यह है कि इसमें करेंसी के रूप में स्वर्ण की कीमत को अभेद्यतः स्थिर करना अत्यावश्यक नहीं होता है। फिर भी करेंसी के हिसाब में सोने का दाम ठीक करना बहुत हितकर होता है, क्योंकि जरा-सा भी दोष होने से बड़ी अव्यवस्था उठ खड़ी होती है। कुछ विचारकों का कथन है कि यह मुद्रा प्रमाप बहुत ही सरल होती और है अन्य मुद्रा प्रमाप की अपेक्षा सुगमता से अपनाई जा सकती है। चूँकि सोना बहुमूल्य धातु है इसलिए जो देश इस प्रमाप को अपनाता है उसकी प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बढ़ जाती है। उस देश को दूसरे देशों का पावना लौटाना सुगम हो जाता है, क्योंकि कोई भी सोना लेना इंकार नहीं कर देगा। स्वर्ण मुद्राओं का प्रयोग वे देश बिना बाधा के कर सकते हैं जिन्होंने व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में काफी उन्नति हासिल कर ली है। इस मुद्रा प्रमाप से देश में इंफलेशन का आतंक नहीं व्याप सकता क्योंकि जब तक अपेक्षित सोना कोष में नहीं लाया जाता, अधिक करेंसी की सृष्टि नहीं हो सकती। यदि नोटों को छापभी दिया जायतो सोना के अभाव में सिक्कों को सोना में भुनाना मुश्किल हो जाएगा। स्वर्ण मुद्राप्रमाप का एक गुण यह भी है कि यह स्वतः (Automatic) परिचालित प्रणाली है। इससे वाह्य एवं अंतर्गत कीमतों में आकस्मिक परिवर्तन नहीं हो सकता। यद्यपि इस मुद्रा प्रमाप के अपनाने से किसी देश की दैशीय मौद्रिक नीति की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है, तथापि यह उस देश की रक्षा उस अत्यधिक अस्थिरता से करती है जो बुरी तरह से शासित अपरिवर्तन शील करेंसी द्वारा उत्पन्न हो जाती है। इस मुद्रा प्रमाप

से पूँजी की गतिशीलता बढ़ जाती है और वह एक देश दूसरे देश में आ-जा सकती है। मानवीय और प्राकृतिक उपादानों को एकत्र करके विश्व की उन्नति की जा सकती है और इस मुद्रा प्रमाप के द्वारा इसका स्थान बहुत ही सुगम हो जाता है। स्वर्ण मुद्रा प्रमाप निःस्व (Objecitive) प्रणाली है, यह सरकार या करेंसी की शासक मंडली के कार्यों से परिमित नहीं है। इसकी सहायता से करेंसी की क्रय-शक्ति चिरकाल तक कायम रखी जा सकती है क्योंकि साख और मुद्रा दोनों ही स्वर्ण-कोष पर अवलम्बित रहते हैं। इसके द्वारा देशों के आपसी पावने का लेखा ठीक किया जा सकता है और यह स्वतः सम्पादित होता है।

स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के कुछ अवगुण भी हैं और उनके कारण ही उसके अधः पतन में इतना कम समय लगा। इसको कायम रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना की नितांत आवश्यकता है। इसके लिए देश-देश के बीच अबाध व्यापार होना चाहिए। इससे करेंसी के क्षेत्र में राष्ट्रीय आत्मतंत्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। दूसरी कठिनाई यह है कि इसके लिए केंद्रीय बैंक को बहुत सतर्क रहना पड़ता है और बहुत समय लगाना पड़ता है।

तीसरी बात यह है इस पद्धति में कठोरता और अलोचता का भाव है, जिसके प्रतिफल कभी-कभी मंदी भी आ जाया करती है। चौथा अवगुण यह है कि स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप हमेशा इनफलेशन को रोक भी नहीं सकता और न स्थिरता को ही निश्चित बना सकता है। इसकी निपुणता उसी समय तक बनी रहती है, जिस समय तक माँग के अनुसार सोने की पूर्ति होती रहती है। यदि माँग से अधिक सोने की पूर्ति हो जाय तो इनफलेशन का फैलना अवश्यंभावी है। इससे विनिमय की दर और मूल्य-सूची विकृत हो जाती है। इतना ही नहीं; यह मानना भी केवल ऊपरी बात ही है कि स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप आत्मपरिचालित है। कीमतों की स्थिरता भी केवल मानी हुई बात

है, क्योंकि उन्हें तो प्रकृति की अंध शक्तियों का अनुसरण करना पड़ता है। अंतिम अवगुण यह है कि इससे देशीय सरकार की स्वतंत्रता बाधित हो जाती है और वह अपनी इच्छा के अनुकूल किसी नीति को अख्तियार नहीं कर सकती।

स्वर्णमुद्रा-प्रमाप के दो भेद हैं—(१) घरेलू स्वर्णमुद्रा-प्रमाप (Domestic Gold Standard) और (२) अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप (International Gold Standard)। नीचे इन दोनों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

घरेलू स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप में किसी देश के अंदर की कीमतों को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। बहुत दिनों से यह नियम चला आता है कि किसी देश की करेंसी और उसके रिजर्व (खजाने) में के सोना के बीच घनिष्ठ सरोकार रहता है। धातवीय सिक्काओं के बदले पत्र-मुद्रा और बैंक की साख के चलने के समय से इस पद्धति का प्रचार है। गंभीर मुद्रा के पीछे सोना का हाथ रहना चाहिए। बैंक ऑफ इङ्गलैंड का समूचा सोना एक्सचेंज ऑफ इक्वेलाइजेशन एकाउन्ट में सन् १६३६ में भेज दिया गया। तब से एक पौंड के आधारपृष्ठ का काम करने के लिए एक दसांश पेन्स के बराबर सोना है। फिर भी लोगों का विश्वास करेंसी में पहले जैसा ही है।

आधुनिक संसार में सोना के न्यूनतम रिजर्व रखने के लिए जिन नियमों का निर्माण हुआ है, उसका एकमात्र उद्देश्य करेंसी का अनुचित प्रसारण दूर करना है। इस उद्देश्य को कम खर्चीले ढंग से पूरा किया जा सकता है। इसके लिए यह घोषणा की जा सकती है कि चाहे कितना भी सोना रिजर्व में क्यों न हो एक निश्चित रकम से अधिक नोट नहीं चलाए जायँ। दूसरा उपाय यह है कि मुद्रा का प्रबंध करनेवालों पर छोड़ दिया जाय कि वे लोग देश-हित का ख्याल करके नोट चलावें। करेंसी की बाढ़ तो इनफलेशन की

अंतिम घटना है। यदि दूसरे उपाय को नहीं अपनाया जा सके तो करेंसी को सीमित करके केवल बैंक के संकट को बढ़ाना होगा। करेंसी की रकम को नियमबद्ध करना खर्चीला और संदेहात्मक ढंग है। क्योंकि इससे तो स्वर्ण-राशि और करेंसी-राशि के मध्यस्थ संबंध को ही स्थिर किया जा सकता है। घरेलू स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप करेंसी के भंडार को स्थिर नहीं करता। वह इसको अदलने-बदलने में उत्तेजना प्रदान करता है।

सोना अनाशवान् वस्तु है। किसी अल्पाविधि में खानों से जो उपज प्राप्त होती है, वह वर्तमान स्टाक का आंशिक भाग ही हो सकता है। यह विश्वास करने के लिए कोई आधार ही नहीं है कि करेंसी और स्वर्ण को सूत्रबद्ध करने से हम करेंसी में होनेवाले निरंकुश परिवर्तनों को रोक सकते हैं। सन् १९३१ से दुनिया की करेंसियों का मूल्य स्वर्ण की दृष्टि से कम होने लगा। जो पौंड पहले $\frac{१}{४}$ औंस सोना के बराबर होता था, वह $\frac{१}{२}$ औंस सोना के बराबर हो गया। उसी तरह डालर भी अब अपनी पुराने वजन का $\frac{३}{५}$ वा भाग ही है। सन् १९२९ में १९५ हजार औंस सोना निकाला गया था जिसका दाम ८५ शिलिङ्ग प्रति औंस था। सन् १९३९ में ३९० हजार औंस सोना निकाला गया था जिसका दाम १६८ शि० प्रति औंस था। दस वर्षों के भीतर स्वर्णाभाव का जो डर था वह दूर हो गया और आज हमारे सामने काफी बचत भी नजर आती है। इस छोटी-सी बात से जान पड़ता है कि करेंसी और स्वर्ण-भंडार के बीच जो अनुपात है, वह खतरे से अलग नहीं। सोना की क्रय-शक्ति को स्थिर रखने के लिए समय-समय पर अनेकों योजनाएँ बनाई गई हैं। एक उपाय तो यह बतलाया गया है कि स्वर्ण की माँग में जो परिवर्तन हो उसका सामना करने के लिए उसकी पूर्ति को भी घटाया-बढ़ाया जाय। दूसरा उपाय यह है कि दूसरी चीजों की कीमत को बदलने की अपेक्षा स्वर्ण की कीमत को ही घटाना-बढ़ाना अधिक उत्तम है। इन दो उपायों से स्वर्ण के मूल्य को स्थिर रखा जा सकता है। स्वर्ण

के मूल्य के स्थिरीकरण के लिए सात स्कीम बने हैं, परंतु उनकी कमजोरी इस बात में है कि वे उस समय काम नहीं करेंगे जब उनकी जरूरत होगी और वे "मुद्रा के परिमाणवाले सिद्धांत" पर आधारित हैं।

यह ठीक है कि करेंसी के परिमाण का प्रभाव कीमतों और व्यापार पर पड़ता है। पर यह कहना ज्यादा ठीक है कि भ्रमण में की करेंसी का परिमाण कार्यों की राशि पर निर्भर करता है। इन कार्यों से मतलब उन कार्यों का है जिन्हें जनता धातवीय मुद्रा और नोट (Hard Cash) में पूरा करना चाहती है और चेक का सहारा नहीं लेती। "The quantity of currency is much more a consequence of the price-level than its cause." (Crowther)

यदि सच पूछा जाय तो घरेलू स्वर्ण मुद्रा प्रमाप की कोई बड़ी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साख और करेंसी के संबंध की रक्षा दूसरे कम खर्चीले साधनों से हो सकती है। यदि अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा प्रमाप को अपनाना हो तो इस घरेलू स्वर्ण मुद्रा प्रमापकी भी जरूरत महसूस होगी क्योंकि इससे उसके संचालन में मदद मिल सकती है। घरेलू स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के पक्ष में एक और तर्क यह है कि अभी तक स्वर्ण में लोगों को सुरक्षा की गंध लगी जान पड़ती है। धीरे-धीरे इसकी आयु पूरी होती जा रही है और वह दिन दूर नहीं है जब यह संसार के बचे देश से भी विदा हो जायगा।

अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा प्रमाप करेंसी के बाहरी मूल्य और विदेशी विनिमयों की स्थिरता कायम रखने से संबंधित है। घरेलू स्वर्ण मुद्रा प्रमाप की मुद्रा की राशि और उसके घरेलू कीमतों पर के प्रभाव से संबंधित है। वास्तव में स्वर्ण मुद्रा प्रमाप का आविष्कार कभी भी नहीं हुआ है। जब सोने के सिक्के किसी देश की मुद्रा की अधिक पूर्ति को सम्पन्न करते थे तब दो स्वर्ण करेंसियों के बीच की विनिमय दर

में सूक्ष्म हेर-फेर होने का कोई स्थान नहीं था। जब नोटों का प्रचलन बढ़ने लगा तो वे इतने कम थे कि उन्हें स्वर्ण में बदला जा सकता था। इसलिये विनिमय की दर को बाधा नहीं पहुँच सकती थी। आगे चलकर मुद्रा के भंडार का बहुत भाग नोट ही होने लगे। बैंक की साख का प्रचलन बढ़ गया। जब तक बैंक की धरोहरों को स्वर्ण में बदला जा सकता था, तब तक लंदन के स्टरलिंग बैंक धरोहर और न्यूयार्क के डालर बैंक धरोहर के बीच की विनिमय-दर स्वर्ण विंदुओं की लघु सीमा से अधिक नहीं बदल सकती थी। जब किसी देश में पत्र-मुद्रा का प्रचार ज्यादा हो जाता है तब मुद्रा का सोना में बदलना नहीं तो (axiomatic) होता है और न (automatic)। जब तक स्वतंत्र रूप से मुद्रा सोने में नहीं बदली जाय और सोना मुद्रा में नहीं बदला जाय, स्वर्ण मुद्रा प्रमाप विनिमय की दरों की स्थिरता को गारेंटी नहीं दे सकता। इसलिए इस प्रमाप का प्रश्न परिवर्तनशीलता की रक्षा करने पर आधारित है। परिवर्तन-शीलता उसी समय तक कायम रखी जा सकती है, जब तक असंतुलित काम-धंधे बहुत और चिरस्थायी न हों। यदि कार्य (Unbalanced transactions) थोड़े और सामयिक होंगे तो स्वर्ण के आवागमन से उनका निराकरण किया जा सकता है। जब देश से सोना बाहर चलान होता है तब इससे जो क्षति होती है वह उस क्षति से कम होती है जो देश में सोना के आने से होती है। अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के लिए यह जरूरी है कि किसी करेंसी की माँग और पूर्ति के असंतुलन को ठीक किया जा सके। किसी करेंसी की माँग और पूर्ति अन्ततः उस देश की कीमतों और व्ययों पर और बाहरी दुनिया की कीमतों और व्ययों पर निर्भर करती है। जब देश से सोना बाहर जा रहा हो तब केंद्रीय बैंक को ऐसा प्रबंध करना चाहिए कि कीमतें कम हो जायँ, देश में पूँजी आ सके और देश से बाहर पूँजी न जा सके। वह बैंक रेट को बढ़ाकर और साख को कम कर के ऐसा कर सकता है। जब विदेशों से देश के अंदर द्रव्य की

रकमें आवेंगी तो उस देश की करेंसी के लिए माँग बढ़ जायगी और सोना का निर्यात बंद हो जायगा। लोग सूद के अधिक होने से उस देश से कर्ज नहीं लेंगे। बैंक रेट को कम करने से देश से थोड़े काल के लिए कर्ज बाहर भेजे जायेंगे, कीमतें बढ़ जायेंगी और विदेशी उधार की मुद्रा बढ़ जायगी। बैंक रेट का बढ़ना भावी झंझा का पूर्व चिह्न है और इससे पूँजी बाहर भाग चलती है।

इस तरह स्वर्ण मुद्रामान का स्वर्ण नियम है "साख को बढ़ावो जब स्वर्ण देश के भीतर आवे। साख घटाओ जब स्वर्ण देश के बाहर जावे।" कोई भी केंद्रीय बैंक इस नियम की अपेक्षा पीछे इसका क्रमशः पालन करने के उद्देश्य से ही कर सकता है। सन् १९१४ के पहले दुनिया की हालत ऐसी थी। यह प्रणाली सुचारु रूप से चल सकती थी। विनिमय की दर को कम मिहनत से स्थिर रखा जा सकता था, पर आज नहीं।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के तीन रूप प्रसिद्ध हैं। पहला "स्वर्ण-भ्रमण स्टैन्डर्ड" (Gold Regulation Standard) है। इसमें स्वर्ण सिक्के चलते थे। जो प्रधान स्वर्ण सिक्का था, वह पूर्ण धातुवाला होता था। स्वर्ण स्वतंत्र स्फीति होती थी। स्वर्ण सिक्का असीम-कोश-प्रवेश्य की तरह चलता था। जितने दूसरे चालू सिक्का थे, वे सभी स्वर्ण सिक्कों में परिवर्तनशील थे। इसका फल यह हुआ कि सिक्कों का समस्त परिमाण प्राप्त स्वर्ण के परिमाण पर निर्भर था। करेन्सी की सरकार को कानून द्वारा यह अधिकार दिया गया था कि वह बँधे दाम पर सिक्कों में बदलने के लिये सोना बेचे और खरीदे। बेचने की दर ३ पौंड १७ शि० १०½ पे० थी और खरीदने की ३ पौ० १७ शि० ९ पे०। इसलिये सोने का भाव इन्हीं दो दरों के बीच रहता था। सोने का स्वतंत्र आयात-निर्यात होता था। इस तरह सभी देशों में सोने का मूल्य बराबर रहता था। यदि किसी देश में सोने का दाम ज्यादा होता था तब उस देश में बाहर से सोना आकर दाम को घटा देता था। यदि किसी देश में सोना का दाम कम होता था तब उस

देश से सोना बाहर चला जाता था जिससे दाम फिर बढ़ जाता था। इस स्टैन्डर्ड के अनुसार किसी देश की मूल्य-सूची वहाँ के स्वर्ण-परिमाण पर निर्भर रहती थी। यों तो देश में स्वर्ण सिक्कों के अलावे पत्रमुद्रा और बैंक का साख भी चलता था। इस तरह इन पत्रमुद्राओं की राशि को ठीक रखने के लिये दो तरह की प्रणालियाँ प्रचलित थीं अमेरिका में औनुपातिक रिजर्व प्रणाली और इंगलैंड में स्थिर फाइडूसियरी प्रणाली। देश के बाहर जो विनिमय की दर तय होती थी, वह देश-देश की स्वर्णमुद्राओं में शामिल सोने के परिमाण के आधार पर इस स्टैन्डर्ड की विशेषताएँ ये थीं। (१) यह स्वतः परि-चालित था। (२) दो देशों के बीच करेंसी के बारे में कोई सन्धि की जरूरत नहीं थी। परन्तु इसकी विशेषताएँ बाह्य ही हैं, वास्तविक नहीं। स्वर्ण रिजर्व और बैंक साख के बीच जो सम्बन्ध था वह मनमाना था। केन्द्रीय बैंक जो चाहता था कर सकता था। वह खुले बाजार के कामों द्वारा स्वर्ण की गति को कुछ हद तक प्रभावहीन कर देता था।

स्वर्ण-मुद्राप्रमाप का दूसरा रूप "स्वर्ण बुलियन स्टैन्डर्ड" (Gold Bullion Standard) है। इसकी स्थापना प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ था। इसमें स्वर्ण के सिक्के नहीं चलते। इसमें किसी एक मौद्रिक अदद् को सोना में नहीं बदला जा सकता। सोना के बार (घर) हुआ करते थे। जो लोग इंगलैंड में १५५७ पौ० १० शि० बैंक में ले जाकर देते थे, उन्हें एक सोने का बार मिलता था। इस स्टैन्डर्ड को चलाने का उद्देश्य यह था कि सोना केन्द्रीय बैंक के हाथ में रहने पर बहुत अधिक काम देगा। लोग अपने लिये स्वतंत्र रूप से स्वर्ण की मुद्रास्फीति नहीं करा सकते थे। करेन्सी की सरकार को यह आदेश था कि वह निश्चित दर पर स्वर्ण बुलियन खरीद और बेचकर (Exchange Parity) को कायम रखे। पर यहाँ जान लेना चाहिये कि सोने का आयात-निर्यात प्रतिबन्धित नहीं था। सोना ही मूल्य का मापक था। इस स्टैन्डर्ड की विशेषताएँ ये थीं। (१) स्वर्ण के प्रयोग में

किफायती होती थी। (२) सोना केन्द्रीय बैंक के हाथों में आ जाता था। इस केन्द्रीकरण से मुद्रा के बाजार पर उसका नियंत्रण हो सकता था। यह स्टैन्डर्ड सन् १६२५ से सन् १६३५ के बीच कायम रहा।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप का तीसरा रूप "स्वर्ण-विनिमय स्टैन्डर्ड" (Gold Exchange Standard) है। इसका उदय गत प्रथम महायुद्ध के पूर्व हुआ था। इस स्टैन्डर्ड में देश के भीतर स्वर्ण-सिक्के नहीं चलते। देश की भीतरी करेन्सी नोटों और दूसरे टोकेन सिक्कों की बनी होती है। करेन्सी की सरकार को यह आदेश होता है कि वह अपने देश की करेन्सी को सोना में नहीं, दूसरे देश की करेन्सी में बदल दे और दूसरे देश की करेन्सी सोना में बदली जाने वाली होती है। इसमें किसी स्वर्ण रिजर्व की जरूरत नहीं पड़ती। इसलिये सोना के प्रयोग में किफायती होती है। यह स्टैन्डर्ड किसी छोटे या गरीब देश द्वारा अपनाया जाता है जो दूसरे बड़े और धनी देश के साथ व्यापारिक संबंध जोड़ता है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के अनुयायी कितने देशों के केन्द्रीय बैंकों ने विदेशी विनिमय साधकों जैसा बिल, ड्राफ्ट, डिपोजीट्स आदि को अपने खजाने में रखकर नोट और चेकों को उनके बदले चलाना आरंभ कर दिया। इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि स्वर्ण का मितव्यय होने लगा। पर इससे स्वर्ण मुद्रा प्रमाप का काम करना कठिन हो गया। सोने के अवागमन से प्राइस-लेवल पहले ठीक हो जाता था, परन्तु वह अब रुक गया। सिद्धांत के अनुसार तो जिस देश का व्यापार अनुकूल होता था, उसमें सोना बाहर से आकर कीमतों को बढ़ा देता था। परन्तु इस स्टैन्डर्ड के अनुसार यदि इसको अपनाने वाले देश का व्यापार अनुकूल होता था तो इसका रिजर्व विदेश में बढ़ जाता था और वहाँ की ही कीमतें बढ़ जाती थीं। इस तरह के प्रभाव से स्वर्ण मुद्रा प्रमाप का काम करना अतिशय जटिल हो गया। इस तरह के स्टैन्डर्ड की ये विशेषताएँ थीं।

(१) इसके अनुयायी देश को सार्वजनिक रूप से अपनाई जाने वाली करेन्सी मिलती थी।

(२) इससे कीमतों में स्थिरता आती थी।

(३) इससे विदेशी विनिमय की दर भी स्थिर हो जाती थी। इससे देश के भीतरी व्यापार का भी विकास होता था।

(४) इससे देश-देश की मूल्य-सूची में लय आता था। फिर भी इस स्टैन्डर्ड के कुछ दोष भी थे। (१) चूँकि यह जटिल स्टैन्डर्ड था इसलिये जनता की आस्था इसमें कम थी। (२) इससे देश और विदेश दो जगहों में रिजर्व रखना पड़ता था। (३) यह आत्मपरिचालित स्टैन्डर्ड नहीं था। (४) यह लोचपूर्ण प्रणाली नहीं थी। (५) इसमें प्रचलित मुद्रा के धातवीय मूल्य और मौखिक मूल्य में अन्तर रहना अनिवार्य था।

ऊपर जिन स्वर्ण मुद्रा प्रमाप प्रसूत विशेषताओं का वर्णन किया गया है, उन्हें प्राप्त करने के लिये जरूरी है कि इसको अपनाने वाले सभी देश इसके नियमों को पालन करें और इसके खेल को खेलें ("Play the game" यही रिपोर्ट कमिटी का कथन है)। इसके खेल को खेलने के ही कारण सन् १९१४-१८ तक यह मुद्रा प्रमाप सुचारू रूप से काम देती रही। उन दिनों किसी देश की मुद्रा में स्वर्ण सिक्काओं का भी पूरा हाथ था। इसका नतीजा यह हुआ था कि करेंसी और सोने के कोष में संबंध स्थापित रहा। युद्धोत्तर जिस स्वर्ण मुद्रा प्रमाप को अपनाया गया वह "स्वर्ण बुलियन स्टैन्डर्ड" था। इसकी रूप-रेखा का ऊपर वर्णन दे दिया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय बैंक और दूसरे नोट चलाने वाले बैंकों को यह आजादी मिल गई थी कि वे करेन्सी तथा स्वर्णराशि के अनुपात को बदल सकें। इस मुद्रा प्रमाप को भी प्रबंधित करेन्सी का रूप धारण करना पड़ा।

स्वर्ण मुद्राप्रमाप के खेल के निम्नलिखित साधारण नियम हैं :—

(१) व्यापार की पूर्ण स्वतंत्रता चाहिये जिससे लेन-देन के लेखा में असंतुलन उत्पन्न होने पर चीजों के आदान-प्रदान द्वारा उसको ठीक किया जा सके।

(२) इस मुद्राप्रमाप को माननेवाले देशों की आर्थिक प्रणाली ऐसी हो कि सोना के आयात-निर्यात के अनुकूल उनकी भीतरी कीमतें और मजदूरी बदल सकें।

(३) सरकार और केन्द्रीय बैंक को सोना की गति को प्रभावहीन (Sterile) बनाने के लिये उत्कट रहना चाहिये।

इसके विशेष नियम जो मीड महोदय द्वारा बतलाये गये हैं, आगे दिये जायेंगे।

स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के असफल होने का कारण
(Causes for the Break down of Gold Standard)

(१) दुनिया की मौद्रिक सरकारों ने युद्ध के पहले स्वर्ण स्टैन्डर्ड के प्रति जिस तरह का प्रेम दिखलाया था वैसा प्रेम युद्धोपरान्त नहीं रहा। स्वर्ण स्टैन्डर्ड केवल उसी समय सुचारु रूप से चल सकता है जब एक देश दूसरे के साथ कंधा में कंधा मिलकर चले। युद्ध के बाद केन्द्रीय बैंक ऐसा करने के लिये तैयार नहीं थे। युद्ध के कारण विश्व में जो असंयतता छा गई थी उसके कारण कोई देश दूसरे देश की सहायता करने के लिए तैयार नहीं था।

(२) युद्ध के बाद राजनैतिक स्थिति असंयत हो गई। इसके कारण यूरोपीय राष्ट्र अपने फंडों को थोड़े समय के लिये दूसरे देशों के केन्द्रीय बैंक जैसे ग्रेट ब्रिटेन के केन्द्रीय बैंक में रखने लगे। ज्यों ही किसी आपत्ति का लक्षण जान पड़ता था वे देश अपने फंडों को माँगने लगते थे। वे लोग इतनी शीघ्रता से फंड निकाल लेना चाहते थे कि केन्द्रीय बैंक ऐसा कर ही नहीं सकते थे। ब्रिटेन से फ्रांस ने अपने जमा किये फंडों को इसी क्षिप्रता के साथ निकालना शुरू किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि सन् १९३१ ई० में ब्रिटेन को स्वर्ण-मुद्राप्रमाप को त्याग देना पड़ा।

(३) युद्ध के बाद स्वर्ण स्टैन्डर्ड को चलाना इसलिए असंभव हो गया कि विनिमय की स्थिरता को कायम रखने का काम बहुत ही भारी हो गया था। विनिमय की स्थिरता स्वर्ण के यातायात और दाम

एवं विश्वव्यापी समानता पर निर्भर करती है। युद्ध के बाद दाम तथा व्यय को देश-देश के बीच बराबर बनाए रखना बहुत ही कठिन हो गया। कितनी दशाओं में तो कीमतें परिस्थितियों के साथ घुल-मिल ही नहीं सकीं। इतना ही नहीं सूद की दर के बदलने पर भी एक देश के बैंक से थोड़े समय के लिये फंड दूसरे देश में नहीं जाने लगे। इससे मुद्राप्रमाप का पूर्णतया काम करना शिथिल पड़ गया।

(४) युद्ध के बाद कितने देशों को दूसरे देशों को हरजाना और कर्ज अदा करना पड़ा। जिन्हें हरजाना और कर्ज का रुपया वापस लेना था, वे उन्हें चीजों के रूप में लेना नहीं चाहते थे। वे कर्जदारों को कर्ज देना भी बन्द करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि लेन-देन सोना के द्वारा होने लगा। उन दिनों अमेरिका सबसे मालदार देश था। फ्रांस का नम्बर उसके बाद था। इन दो देशों में दुनिया का ३/४ हिस्सा सोना जमा हो गया। दूसरे देश जो स्वर्ण मुद्राप्रमाप पर आश्रित थे वे विवश होकर उसे छोड़ने पर उतारू हुए, क्योंकि उनके पास इतना सोना नहीं रह गया था कि वे इसे कायम रखते।

(५) जिन देशों को सोना मिलता था, वे लोग स्वर्ण स्टैन्डर्ड के खेल को नहीं खेलते थे। वे अपने प्राइस-लेवेल पर सोने का कोई प्रभाव नहीं पड़ने देते थे। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनमें बाहर से सोना आने के कारण उनकी भीतरी कीमतें बढ़ जातीं। दूसरे देश उनका सौदा नहीं खरीदते। निर्यात कम हो जाता और आयात बढ़ जाता। व्यापार की गति उनके विरुद्ध हो जाती। इससे सोना उनके यहाँ से दूसरे देशों में चला जाता।

(६) युद्ध के बाद अनेक देशों की आर्थिक स्थिति बहुत ही कम लोचपूर्ण हो गई। सरकारों का कर्ज बढ़ गया था। उन्हें कई वर्षों का सूद देना पड़ा। सामाजिक भलाई के मद में इतना खर्च होता था कि उसे कम करना कठिन था। व्यापार संघों की ताकत बढ़ गई थी। वे मजदूरी को घटाने की चेष्टा को रोकने लगे। कारटेल और मोनोपो-

लियों के द्वारा कच्चे माल का दाम स्थिर किया जाने लगा। इस तरह सोना की गति के अनुकूल न तो मजदूरी को घटाया-बढ़ाया जा सकता था और न चीजों की कीमतों को। इस तरह स्थिति के अनुसार संतुलन की स्थापना नहीं हो सकती थी।

(७) इस मुद्राप्रमाप को बहुधा सुख का संगीत कहते हैं। संकट के समय यह भंग होने पर उतारू हो जाता है। सोना के आगमन से सूद की दरों में असुविधाजनक परिवर्तन हो जाता है। संकट के समय स्वर्ण स्टैन्डर्ड को भंग नहीं करने के लिए डिफलेशन का आश्रय लेना अनिवार्य था। परन्तु डिफलेशन के कारण मजदूरी और कीमतों को घटाना जरूरी होता है, परन्तु इनके घटने से बहुत से जनों को तकलीफ होती है। इससे बेकारी बढ़ जाती है और व्यवसायियों के ऊपर तुषारपात होता है।

(८) युद्ध के बाद राष्ट्रीयता की भावना बहुत ही उद्दाम हो गई, लोग टैरीफ, आदि व्यवधानों को लगाने लगे। इनके कारण इस मुद्राप्रमाप का सुचारु रूप से चलना अतीव दुरूह हो गया। नतीजा हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप ने १९३१ ई० में अपनी अन्तिम साँसें लेकर दम तोड़ दिया और अब कोई उसका नाम तक नहीं लेता, वह किताबों की धरोधर हो गया है।

———

सप्तम अध्याय

विशेष अध्ययन :

स्वर्ण-प्रमाप

(Gold Standard :)

(Automatic currency System)

पीछे कह आए हैं कि स्वर्ण-प्रमाप का प्रधान उद्देश्य किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य और उसके वहिंगत मूल्य को सुस्थिर रखना है। उसका आन्तरिक मूल्य उसकी क्रय-शक्ति के रूप में सुस्थिर रखा जाता है। इससे विनिमय दरों की स्थिरता सुस्थापित रहती है। लेकिन वे एकदम स्थिर नहीं रहतीं। फिर भी वे दो स्वर्ण-विन्दुओं (Gold Points) के भीतर ही बदलती हैं। वे स्वर्ण - विन्दु स्वर्ण - आयात - विन्दु तथा स्वर्ण - निर्यात-विन्दु हैं। स्वर्ण-प्रमाप के तत्वाधान में जबतक किसी देश का व्यापार लेखा संतुलित रहता है, स्वर्ण के आगमन या प्रस्थान का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु जब यह लेखा विपक्ष में हो जाता है अर्थात् जब किसी देश में आयात निर्यात से अत्यधिक होता है और जब वह देश अपने मूल्य-व्यय के ढाँचे को सुधारता नहीं तब उसे अपने यहाँ से कर्जदाता देश में सोना भेजना पड़ता है, क्योंकि उसके लिए विनिमय की दर स्वर्ण-नियात-विन्दु को उल्लंघित कर चुकी होती है। जब उस देश का लेखा अपने पक्ष में होता है अर्थात् वह निर्यात आयात से अधिक करता है तब उसके यहाँ सोना बाहर से आता है, क्योंकि उसके लिए विनिमय-दर स्वर्ण-आयात-विन्दु का अतिक्रमण कर चुकी होती है। एक लेखक ने इन स्वर्ण-विन्दुओं को सोना के आयात या निर्यात का व्ययमात्र बतलाया है। यह १ प्रतिशत की सीमा में होता

है और विनिमय दर भी उसी में चक्कर काटती रहती है। यह १ प्रतिशत स्वर्ण भेजने या मँगाने वालों की चिन्ता का बोधक मात्र है। चिन्ता का मतलब पत्रमुद्रा-प्रमाप में अपनी मुद्रा को दूसरे की मुद्रा में बदलने की व्यग्रता से है जिसके फलस्वरूप कोई देश १ प्रतिशत घाटा भी उठाकर ऐसा करने से नहीं हिचकता।

इस तरह के कार्य से देश-देश के मूल्य, व्यय तथा आय के ढाँचों में एक समता रहती है। उनमें एक गतिमय (Organic) संबंध रहता है। इतना ही नहीं, स्वर्ण प्रमाप देश-देश की मुद्राओं के लिये एक प्रत्यक्ष (Objective) कसौटी का भी काम करता है। विनिमय-नियंत्रण से इस कार्य में बाधा पहुँचती है।

किसी देश की व्यापार-स्थिति में जो असंतुलन या असाम्य उत्पन्न हो जाता है, वह दो प्रकार का हो सकता है। एक अस्थायी असंतुलन होता है जिसकी उत्पत्ति अस्थायी कारणों के चलते होती है। दूसरा दीर्घकालिक असंतुलन होता है जो काफी गहरे कारणों के चलते पैदा होता है। स्वर्ण-प्रमाप कुछ ऐसे यत्नों को बतलाता है जिनके सहारे इन असंतुलनों को दूर किया जा सकता है। अस्थायी असंतुलन के निराकरण में अधिक कठिनाई नहीं होती। लेकिन स्थायी असंतुलन को उन्मूलित करने के लिये मुसीबतों का मुकाबला करना पड़ता है। यदि स्थायी असंतुलन को नहीं हटाया गया तो उसका नतीजा होगा कि स्वर्ण-निर्यात (Gold Drain) प्रचुर और दीर्घकालिक होगा।

असंतुलन को हटाने के लिये विनिमय-दर की प्रवृत्तियों का विश्लेषण और भविष्यवाणी होती है और तदनुसार कार्य भी सम्पन्न किये जाते हैं जिससे अहितकर प्रवृत्तियों से छुटकारा मिल सके। जहाँ तक स्थायी असंतुलन का प्रश्न है वह तो स्वर्ण-निर्यात द्वारा हल किया जा सकता है। या जिस स्वर्ण-प्रमापाधारित देश में यह सवाल खड़ा हुआ है वहाँ का केन्द्रीय बैंक बैंक-दर (Bank Rate) में हेरफेर करके सोना का चलान रोक सकता है। इस तरह इस सवाल

का हल मौद्रिक है। जहाँ तक दीर्घकालिक या अस्थायी असंतुलन का प्रश्न है उसके निदान के लिये उस देश का आर्थिक ढाँचा लोचपूर्ण और परिवर्त्य होना चाहिये जिससे नीतियों को तत्परतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सके। यहाँ मौद्रिक साधनों के साथ आर्थिक साधनों को भी अपनाना होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के स्वर्ण-प्रमाप की अनुशासन-पद्धति निराली थी। केन्द्रीय बैंक को स्वर्ण के प्रवाहों (Flows) के अनुसार सस्ती या महँगी मौद्रिक नीति (Cheap or Dear Money Policy) कार्यान्वित करनी पड़ती थी। उसे स्वर्ण के निर्यात और आयात की हालत में आन्तरिक मुद्राकोश को क्रमशः कम (Deflate) या अधिक (Inflate) बनाना पड़ता था। सरकार को अपनी आर्थिक नीति को इस तरह परिचालित करना पड़ता था कि आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था परिवर्त्य (Plastic) बनी रहे और मूल्य एवं व्यय में एक आनुपातिक संबंध स्थापित रहे।

स्वर्ण-प्रमाप अपने देशीय रूप में देश की मुद्रा के कोष के नियंत्रण का एक अनूठा साधन था और अपने विदेशी रूप में (या अन्तर्राष्ट्रीय रूप में) विनिमय-दर को सुस्थिर रखने का एक विश्वस्त ढंग था। स्वर्ण-प्रमाप किसी एक रूप को धारण किये भी काम कर सकता था। फ्रांस में १६१४ के पहले स्वर्ण-प्रमाप का अन्तर्राष्ट्रीय रूप तो था लेकिन गृह-रूप नहीं था, क्योंकि मुद्रा-कोष और स्वर्ण-कोष के मध्य कोई वैज्ञानिक संबंध नहीं था। इङ्गलैंड में १६३१ के बाद पौंड को स्वर्ण में बदला तो नहीं जा सकता था, लेकिन मुद्रा-कोष और स्वर्ण-कोष में एक घनिष्ट संबंध था।

टी० ई० ग्रेगरी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र (Nucleus) कहा है। फिर भी स्वर्ण-प्रमाप कोई सोचा-समझा योजनाकरण नहीं था। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम शोधन (Clearing) संस्था मात्र था जो शोधनाधिक्य

(Balance of Payments) को ठीक करती थी। यह परम्परा और व्यवहार पर आधारित थी।

स्वर्ण-प्रमाप के जो नियम (Rules of the Game) थे, वे केवल संकेत-चिह्न और निर्देशक मात्र थे। वे आचरण की अन्तर्राष्ट्रीय विधानमाला (कोड) नहीं थे। १९३० की मैकमिलन कमिटी ने लिखा था "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप का प्रबन्ध एक कला है, न कि विज्ञान। नियमों का कोई सुव्यवस्थित ढाँचा नहीं कि उसके उल्लंघन करने पर सजा मिले और उसपर आचरण करना आवश्यक हो!" लेकिन अन्तर्राष्ट्रों की संस्था (U. O. N.) के स्वर्ण-प्रमंडल ने (Gold Delegation), जो १९३२ में स्थापित किया था, लिखा "अगर अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप को सुचारू रूप से चलाना है तो इसके नियमों का पालन जोश, सहयोग और बुद्धिमत्ता-पूर्वक करना चाहिये।" इन नियमों का तात्पर्य था "देश में जब सोना आवे तब साख का विस्तारीकरण होना चाहिये और जब सोना देश से बाहर जाय तब साख का संकोचीकरण होना चाहिये"। ऐसा करने से ही विनिमय-दर सुस्थिर रह सकती है। अगर ऐसा न किया जाय तो स्वर्ण-प्रमाप ताशों के गुच्छे की भाँति तितर-बितर हो जाय। जब तक इन नियमों पर अमल किया गया, स्वर्ण-प्रमाप के आन्तरिक तथा वाह्य कार्य ठीक से चले।

स्वर्ण-प्रमाप स्वाभाविक समय में ठीक से काम करता रहा, लेकिन कुसमय में दगा दे गया। दो महायुद्धों के बीच की अवधि में स्वर्ण-प्रमापाधारित देशों के केन्द्रीय बैंक मुस्तैदी से काम नहीं करने लगे। सोना के मुक्त-प्रवाह पर रोक लगा दी गई। स्वर्ण के मुक्त-प्रवाह की अनुपस्थिति में अन्तराष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप कैसे जीवित रह सकता था? विनिमय नियंत्रणों की भरमार की वजह इस अवधि में स्वर्ण-प्रमाप का दम घुटने लगा था और १९३१ के बाद तो वह काल-कवलित ही हो गया।

इसके भंग होने में कई शक्तियों का हाथ था। हम पीछे इनके

ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ हम इतना संक्षेप में इनकी आवृत्ति कर रहे हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सहयोग और मैत्री का भाव नहीं रहा। विश्व भर में राजनीतिक अशान्ति रही। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप की एक उपज थी "गरम मुद्रा" (Hot Money)। इसे "Old man of the Sea" कहा गया। बैंक-दर में जहाँ कहीं जब कभी कोई अन्तर हुआ कि यह "बूढ़ा आदमी" दौड़ने-धूपने लगता और सन् १६३१ ई० में इसका इतना जबरदस्त परिक्रमण हुआ कि स्वर्ण प्रमाप की धरती ही फट पड़ी। इंगलैंड के वाल स्ट्रीट में मौद्रिक-भूकम्प हुआ। उसी समय इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस में ऐसे चिन्तक पैदा हुए जो स्वर्ण-प्रमाप को इस बात से बुरा कहने लगे कि उसमें वाह्य स्थिरता की वेदी पर आन्तरिक स्थिरता की हत्या होती है। स्वर्ण-प्रमाप को भी घातक राष्ट्रीयता के बीच काम करना पड़ा और घातक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप की अन्तर्राष्ट्रीय की भावना की विरोधिनी थी। नियंत्रणों की अधिकता ने उसके पहिये को जकड़ दिया। एकाधिपत्यों और मजदूर-संघों का प्रभुत्व बढ़ गया। इससे आर्थिक प्रणाली की परिवर्तनशीलता न्यून हो गई। व्यय की बढ़ती को मजदूरी की दर घटाकर रोका नहीं जा सकता था, क्योंकि मजदूर-संघ इस प्रवृत्ति का भयंकर विरोध करते थे। इससे व्यय एवं मूल्य का तादात्म्य जाता रहा। कर्जदाता देश कर्जदार देशों से वस्तुत: लेना नहीं चाहते थे। वे कर्ज में सोना माँगते थे। अमेरिका और फ्रांस में दुनिया-भर का दो-तिहाई सोना केन्द्रित हो गया था। केन्द्रीय बैंक भी कर्त्तव्य-भावना से उदासीन हो चले थे। स्वर्ण-आयात का प्रभाव पड़ने नहीं दिया जाता था। उसे प्रभावहीन (Sterilized) कर दिया जाता था। अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम ने १६२० और १६२४ के भीतर तथा बैंक ऑफ इंगलैंड ने १६२५ और १६३० के भीतर स्वर्ण-प्रवाह को प्रभावहीन बना दिया। खुला-बाजार के कार्यक्रम (O. M. o's.) के द्वारा ऐसा किया जाता था। स्वर्ण-प्रमाप सुख का साथी है भी। यह दुःख

में साथ नहीं देता। १६२५ के बाद जिन देशों ने फिर से स्वर्ण-प्रमाप को अपनाया, उन्होंने विनिमय-दरों के चुनाव में शीघ्रता की और इसका नतीजा हुआ कि १६३१ में स्वर्ण-प्रमाप का सदा के लिये परित्याग करना पड़ा।

स्वर्ण-प्रमाप विनिमय-दर को स्थिर रखता है। उसकी वैज्ञानिक उत्तमता भी बड़ी है। उसमें जनता का विश्वास रहता है। लार्ड केन्स के शब्दों में यह "स्वर्णिम ब्रेक" का काम करता है। सोना अनश्वर है। उसका उत्पादन भी कम होता है। उससे अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान में सुविधा होती है, क्योंकि सोना लेने को सभी राष्ट्र तैयार रहते हैं। मुद्रा-स्फीति (Inflation) पर भी यह एक प्रतिबन्ध का काम करता है। इसमें स्वाभाविक कार्यगति रहती है। यह मानव के साधनों को एकत्र करके उनका सदुपयोग करता है।

लेकिन स्वर्ण-प्रमाप में कुछ मौलिक दोष हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अनुपस्थिति में काम नहीं कर सकता। इसकी स्वतः गतिशीलता (Automaticity) भी एक ढकोसला मात्र है। स्वर्ण-प्रमाप भी एक अर्थ में प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली है क्योंकि उसमें भी केन्द्रीय बैंक को नियमन करना पड़ता है। यह कहना की स्थिरता स्वर्ण-कोष की स्थिरता पर निर्भर रहती है, गलत बात है। कैसेल ने बतलाया कि "पीत धातु" (Yellow metal) के उत्पादन में परिवर्तन होने से उसके कोष की स्थिरता भी प्रभावित हो सकती है और तब मूल्यों को भी प्रभावित होना पड़ेगा। जो लोग कहते हैं कि मुद्रा-कोष की चंचलता के लिये स्वर्ण-प्रमाप एक स्वर्णिम ब्रेक (Golden Brake) का काम करता है, वे गलती करते हैं। लार्ड केन्स का कथन है कि अगर कोई सरकार शैतानी करने पर तुली है तो वह इस ब्रेक को एक झटके में ही तोड़ सकती है। फिर, इस प्रमाप में राष्ट्रीयनीति अन्तर्राष्ट्रीय नीति की अनुचरी हो जाती है। यह बात ठीक नहीं। महाशया रॉबिन्सन का कहना है कि स्वर्ण-प्रमाप में

अपस्फीति (Deflationary) के प्रति कमजोरी है और इससे आर्थिक क्रिया अपस्वाभाविक (Subnormal) बन जाती है।

स्वर्ण मुद्राप्रणाली को चलाने के नियम

(Gold Standard Rules)

जे० ई० मीड महोदय ने छव नियमों को बतलाया है। वे ये हैं:

(१) स्वर्ण स्टैन्डर्ड पर आश्रित प्रधान देशों को आन्तरिक नीतियों को अपनाना चाहिये जिससे मौद्रिक आमदनियों और कीमतों के चिप्र परिवर्तनों को हटाया जा सके। जब बेकारी की समस्या उपस्थित हो तो देशों के बीच में राय होनी चाहिये कि वे सूद की दरों को कम कर सकें, मुद्रा के भंडार को बढ़ा सकें, जनता के कामों में अधिक पैसा खर्च कर सकें, भोक्ताओं के व्यय को प्रोत्साहित कर सकें, जिनसे बेकारी दूर हो सके। जब वे ऐसा कर सकेंगे तो स्वर्ण स्टैन्डर्ड सुचारू रूप से चल सकता है।

(२) कीमतों और व्ययों को परिस्थिति के अनुसार परिमार्जित किया जाय। इसलिये जरूरी है कि जिन देशों से सोना निकल रहा है, उन्हें अपनी आमदनियों और कीमतों को घटा देना चाहिये। इसके विपरीत जिन देशों में बाहर से सोना आ रहा है, उन्हें अपनी और कीमतों को बढ़ा देना चाहिये। इस काम के लिये केन्द्रीय बैंक को पूरी तरह सतर्क रहना चाहिये। यह स्वर्ण स्टैन्डर्ड उसी समय काम कर सकता है जब जानबूझकर आवश्यकतानुसार इनफलेशन या डिफलेसन की नीति अख्तियार की जाय।

(३) स्वर्ण के निर्यात को हटाने के लिये जो मौद्रिक कीमतों के डिफलेशान की नीति अख्तियार की जाय उससे बेकारी न हो इसके लिये जरूरी है कि कीमतों के घटने पर मौद्रिक मजदूरी की दरों को भी घटा दिया जाय। उसी तरह कीमतों के इनफलेशन से बहुत

अधिक नफा न हो इसके लिये जरूरी है कि जैसे ही कीमतें बढ़ें वैसे ही मजदूरी की रुपयागत दरें भी बढ़ा दी जायँ।

(४) जब कोई देश गोल्ड स्टैन्डर्ड पर आश्रित रहता है तब उसके केन्द्रीय बैंक को सोना कुछ रिजर्व (खजाना) रखना पड़ता है। इसको बाहर सोना चलान करने के हेतु सोने की माँग को पूरा करने के योग्य होना चाहिये। इसी बात को ध्यान में रखकर सरकारों ने दो प्रणालियाँ चलाई है।

(अ) फाइड्सियरी इशू की प्रणाली या साखाश्रित चलन की प्रणाली।

(ब) प्रोपोरशनल रिजर्व की प्रणाली आनुपातिक-कोष की प्रणाली।

(५) यदि इस स्टैन्डर्ड को एक सफलतापूर्वक काम करना है तो विभिन्न करेंसियों के बीच उचित एक्सचेन्ज रेट कायम करनी चाहिये। यह बहुत ही जरूरी है।

(६) यदि कोई देश बाहर से सूद की बड़ी रकम या हर्जाना पावे तो इसके "पावना का लेखा" उसी समय दुरुस्त हो जब यह उस स्थिति में वह जितना बाहर से पाता है उससे अधिक दूसरे देशों को कर्ज दे या वह जितना बाहर माल भेजता है उससे अधिक माल मँगाता हो।

स्वर्ण प्रमाप का भविष्य

(Future of Gold Standard)

युद्धोत्तर विश्व के अनुभव को देखते हुए यह आशा करना कठिन है कि फिर से स्वर्ण स्टैन्डर्ड स्थापित किया जा सकता है। न तो कोई भी देश जरूरी नियमों को मानने के लिये तैयार है और न लोगों का विश्वास स्वर्ण की योग्यता में ही रह गया है। आज विश्वव्यापी

सहयोग और संतुलन का सर्वथा अभाव है। सोना की पुरानी प्रतिष्ठा जाती रही है। इंगलैंड जैसे देशों में शासित पत्रमुद्रा की प्रणाली ने सफलतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है।

इस परिस्थिति के प्रतिकूल अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका जैसे सोना निकालने वाले देश उस मुद्राप्रणाली को नहीं अपनाना चाहते जिसमें सोना का साथ न हो। वे बिना सोना के रिजर्व वाली प्रबंधित पत्रमुद्रा प्रणाली में विश्वास नहीं करते।

इस तरह दो प्रकार की विचारधाराए उत्पन्न हो गई हैं। एक विचारधारा स्वर्ण का महत्व स्वीकार करके उसे मुद्रा निर्माण का संबल मानती है। दूसरी विचारधारा स्वर्ण की जरूरत मुद्रा निर्माण के लिए नहीं समझती। इसलिए इन दो धाराओं के बीच में जो मध्य मार्ग निकाला गया है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक फंड कहते हैं, इस योजना का ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा स्वर्णमान के सभी लाभों को उपलब्ध करना और उसके अवगुणों को छोड़ना है। इसमें सोना भी अपना अभिनय, पार्ट अदा करेगा, परन्तु उसका पार्ट उतना प्रधान नहीं होगा जो स्वर्णमान में था।

पत्र मुद्रा प्रणाली या व्वस्थित पत्र करेंसी

(Paper Standard Managed Currency)

इस प्रणाली में पत्र-मुद्रा ही आधार मुद्रा है। करेंसी की सरकार पत्र-मुद्रा को सोना में बदलने का भार नहीं लेती है। विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी, जो सन् १६२६ में शुरू हुई थी, के बाद बहुत से देशों को बरबस स्वर्ण मापदंड का परित्याग करना पड़ा। उसके बाद उन्हें पत्र मापदंड को ही स्वीकार करना पड़ा। भारतवर्ष में "स्टरलिंग एक्सचेन्ज स्टैन्डर्ड" कायम हुआ है। स्टरलिंग भी सोना पर आधारित नहीं है। इसलिए यह प्रणाली भी पत्र मापदंड का ही एक भेद

है। भारतवर्ष की करेन्सी सरकार रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया है। यह बैंक रुपया के मूल्य को स्टरलिंग के रूप में १ शि० ६ पें० के अनुपात पर स्थिर रखता है। बैंक को स्टरलिंग को प्रति रुपया १ शि० ६ $\frac{३}{१६}$ पें० और १ शि० ५ $\frac{४९}{६४}$ पें० बेचने और खरीदने का हुकुम है। देश की करेन्सी टोकेन रुपया, सिक्कों और नोटों की बनी हुई है। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन भी इन दिनों पत्र स्टैन्डर्ड पर अवलम्बित है, तथापि ब्रिटिश पौंड-स्टरलिंग एक खास नीति के कारण डालर के हिसाब में एक निश्चित मूल्य पर रखा गया है। स्टरलिंग को कानूनतः सोना में नहीं बदला जा सकता है। इन दिनों भी देश की करेन्सी सोना के रिजर्व के साथ जुड़ी हुई है, जैसा कि सन् १८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट के परिवर्तित रूप में आबद्ध है।

स्टरलिंग के बाहरी मूल्य में हेर-फेर न हो इसके लिए एक्सचेन्ज इक्वेलाइजेशन एकाउन्ट का निर्माण हुआ है। इस एकाउन्ट का शासन ब्रिटिश ट्रेजरी के जिम्मे है। जब बाहर से फंड ग्रेट ब्रिटेन में आते हैं तब स्टरलिंग के लिए माँग बढ़ जाती है और विदेशी मुद्रा के रूप में स्टरलिंग का मूल्य बढ़ जाता है। इस तरह के फंड इस एकाउन्ट द्वारा ले लिए जाते हैं और स्टरलिंग का असामयिक मूल्योत्थान रोक दिया जाता है। इसके विपरीत जब इंगलैंड से फंड बाहर जाने लगते हैं तब विदेशी करेन्सी की माँग से उस करेन्सी के रूप में स्टरलिंग का मूल्य कम हो जाता है। ऐसे समय यह एकाउन्ट इस प्रकार के लेन-देन के लिए सोना देता है और स्टरलिंग के मूल्य असामयिक मूल्य ह्रास को रोक देता है।

अन्त में उपसंहार के रूप में कहना पड़ता है कि वही करेन्सी प्रणाली उत्तम है जो देश के भीतर कीमतों की स्थिरता को बनाए रहे और करेन्सी के बाहरी मूल्य की स्थिरता को भी अचल रखे। पहले काम की सफलता के लिए देश के निवासियों की आवश्यकता के अनुकूल मुद्रा का कोष रहना चाहिए और दूसरे काम की सफलता

के लिए देश में विदेशी करेन्सी पूरी संख्या में रहनी चाहिए जिससे वह आवश्यकतानुसार चीजें खरीद सके। अतः जो करेन्सी आन्तरिक और बहिर्गत विनिमय को सुदृढ़ और ठोस बनाए रहे, वही उत्तम करेन्सी है।

अष्टम अध्याय

"अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि"

(International Monetary Fund)

श्री टे० ३० ग्रेगरी का कथन है कि "जंगल को जो वृक्षों के कारण नहीं देख सकते (जिनका दिमाग चकरा गया है) उनकी चर्चा छोड़ दें तब यह प्रतीत होगा कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना या क्रमिक विकास इतिहास की एक अद्भुत और हितदायिनी घटना है।" अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप के भंग हो जाने से दुनिया में एक अजीब सन्नाटा (Void) छा गया और लोग एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए व्याकुल हो उठे थे। तब अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक विधि का आविर्भाव हुआ। इस दृष्टिकोण से इसका आगमन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि को हम केन्द्रीय बैंकों के बैंक के रूप में देख सकते हैं। यह आत्यंतिक राष्ट्रीयता या निरपेक्ष राष्ट्रीय सार्वभौमिकता तथा आत्यंतिक अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच मौद्रिक क्षेत्र में एक अनोखा समझौता और शिल्पकारिता की अनुपम चातुरी है। आर्थिक वांगमय में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग-भावना के पथ का एक दिव्य मील-स्तम्भ है।

इसके आविर्भाव के पीछे एक छोटा-सा इतिहास है। इसकी उत्पत्ति संघर्ष की घड़ियों में, हलचल के वातावरण में हुई। लार्ड केन्स ने १६३१ के बाद अपनी एक योजना पेश की, उसे Unitas कहते हैं। उसका ध्येय मौद्रिक व्यवस्था में नव-जीवन का संचार करना था। उसमें एक शोधन-गृह (Clearing House) कायम करने की बात कही गई। उसके तत्वाधान में सभी राष्ट्र

व्यापार करेंगे और राष्ट्रों की मुद्राओं का बहुविध या अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन (Multi-lateral Convertilility) सुलभ रहेगा। इस शोधन-गृह को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरीकरण निधि (Int. Stabilisation Fund) कहा जायगा। यह निधि कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नहीं चलायेगी। इसके साथ सभी सदस्य देशों की मुद्राओं के कोष जमा रहेंगे। यह उन कोषों में से मुद्राओं को सदस्य देशों के हाथ बेच सकती है। आवश्यकता पड़ने पर इस निधि की सलाह या स्वीकृति से कोई देश अपनी विनिमय-दर को एक निश्चित सीमा तक बदल सकता है। निधि के साथ किसी देश का जमा किया हुआ जो मुद्रा-कोष होगा, वह उस देश की व्यापारिक स्थिति के अनुसार घटे-बढ़ेगा।

उसी समय अमेरिका (संयुक्त राष्ट्र) में एक बैंकर योजना (Bancour Plan) प्रस्तुत की गई। उसमें एक शोधन-संघ (Clearing Union) कायम करने की बात थी। उसके एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा (विनिमय-इकाई) चलाने का सुझाव रखा। इस मुद्रा को बैंकर कहा गया। यह मुद्रा सभी सदस्य राष्टों को स्वीकार्य होगी। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन उसीमें हो सकेगा। संघ में प्रत्येक देश का खाता रहेगा। सबको अधिविकर्ष (Overdraft) की सुविधा मिल सकेगी। व्यापारिक स्थिति का पता खाता से लगता रहेगा।

दोनों योजनाओं में कुछ समानताएँ थीं:—(१) दोनों में सामयिक असंतुलन (व्यापार में) को हटाने के लिए साधन प्रस्तुत किए गए थे। (२) दोनों में अभ्यंश (Quota) की सहूलियत थी। लेकिन अन्य बातों पर दोनों में मतभेद था। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय कार्य इंगलैंड और अमेरिका के समझौते के बिना युद्धोत्तर विश्व में संभव ही नहीं था। इसलिए सन् १९४४ ई० में सामान। (या ब्रेटन वुड्स) में दुनिया के प्रधान राष्ट्रों की एक सभा (अधिवेशन) हुई। उसी अधिवेशन में—गर्मी के उन दिनों में—अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-निधि का जन्म हुआ।

यह संस्था इंगलैंड या अमेरिका में पहले स्थापित की गई। विनिमय समकारी खाता या फ्रांस में स्थापित विनिमय समकारी कोष (Exchange Equalisation Account or Fund) का ही एक वृहत रूप है। जहाँ वि० स० कोष एक राष्ट्रीय संस्था था वहाँ अ० मौ० निधि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है। दोनों के दो अनुरूप ध्येय हैं:—(१) मुद्रा की विनिमय-दर की नियंत्रित परिवर्तनशीलता (२) मुद्रा की विनिमय-दर की नियंत्रित स्थिरता। अ० मौ० निधि का प्रधान उद्देश्य विनिमय-ह्रास (Exchange Depreciation) को रोकना और संतुलित (Orderly) विनिमय-दरों को स्थापित करना है। इससे देश में आर्थिक-कार्य एक स्थिर और दृढ़ पैमाने पर काम करेंगे।

अ० मौ० निधि के लक्ष्यों (Objectives) को दो खंडों में विभक्त किया जा सकता है—(१) निकटवर्ती (Immediate) और (२ आत्यंतिक (Ultimate)। निकटवर्ती उद्देश्यों में ये प्रधान हैं (अ) विनिमय-स्थिरता का उत्कर्ष (ब) संतुलित विनिमय—प्रबन्ध (स) विनिमयगत प्रतिबन्धों का दूरीकरण। आत्यंतिक उद्देश्यों में इनकी प्रधानता है: (१) सुस्थिर मौद्रिक प्रणाली और नकारात्मक नियंत्रण (२) राष्ट्र-राष्ट्र के बीच मौद्रिक सहयोग और एकता। केवल यही उद्देश्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना का समर्थन कर सकती है। (३) पूर्ण रोजी बढ़ाने के कार्य सम्पन्न करना, पिछड़े और युद्धाक्रान्त देशों की हालत सुधारना। (४) विनिमय-नियंत्रणों को एकदम उन्मूलित करना।

यह संस्था किसी सदस्य-राष्ट्र की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इसका शासन एक कार्यकारिणी बोर्ड के द्वारा चलेगा जिसके १२ सदस्य होंगे। इसमें पाँच स्थायी जगहें हैं। पाँच महान् राष्ट्रों के प्रतिनिधि बारी-बारी से इस बोर्ड के गवर्नर बनेंगे। लेकिन यह चुनाव से होगा। बकिए सात जगहें वार्षिक चक्रीय गति से भरी जायेंगी। सदस्यों को अपने जमा किए कोष के प्रति एक

लाख डॉलर पर २५१ वोट देने का हक रहेगा। कोई भी सदस्य-राष्ट्र एक नोटीस लिखकर इस संस्था से हट जा सकता है। इस निधि की समूची पूँजी १०० अरब (बिलियन) डॉलर है। उसमें १६ अरब (बिलियन) का सोना ही है।

अभ्यंश का जो वितरण सदस्यों के बीच हुआ है उससे अमेरिका और इंगलैंड को सबसे अधिक फायदा हुआ है। इससे सदस्यों के बीच काफी असंतोष था। अगर जन-संख्या को अभ्यंश का आधार माना गया होता तो चीन और भारत दो अग्रगण्य सदस्य होते।

सदस्य-राष्ट्र को निधि के साथ अपने अभ्यंश का ७५ प्रतिशत अपनी मुद्रा में और २५ प्रतिशत्त सोना में (या अपने स्वर्ण-कोष का १० प्रतिशत ही) जमा करना पड़ा। अपना अभ्यंश सदस्य-राष्ट्र अपने केन्द्रीय बैंक के साथ जमा कर सकते हैं। जो गरीब हैं वे अपने देश में कर्ज लेकर ऐसा करेंगे। बदले में वे थोड़ा (या एकदम नहीं) सूद दे सकते हैं।

प्रत्येक सदस्य को अपनी मुद्रा की विनिमय दर जो १९४५ के सितम्बर में प्रचलित थी सोना या डॉलर के रूप में घोषित करनी पड़ी।

इस संस्था ने प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को यह अनुमति दी है कि वह जब चाहे अपनी विनिमय दर में १० प्रतिशत (Unilateral) परिवर्तन कर सकता है। इसके बाद १० प्रतिशत और परिवर्तन करने के लिए अ० मौ० निधि के कार्यकारिणी-प्रमंडल की आज्ञा लेनी होगी। विनिमय-दर के गहरा असंतुलन (Fundamental Dis-equilibrium) को दूर करने के लिए ऐसे बड़े परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। लेकिन विनिमय-ह्रास के लिए प्रतियोगिता को प्रोत्साहन यह संस्था नहीं दे सकती। विनिमय-दर में परिवर्तन करने के पहले संस्था की राय लेनी होगी। निधि के प्रतिनिधि रिपोर्ट

देंगे। फिर संस्था के आदेशों के अनुसार काम करना और विनिमय-दर को संचालित (Rationalise) करना होगा।

अ० मौ० संस्था सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करेगी। वह किसी देश के अभ्यंश को अधिक से अधिक २००% तक रख सकती है। स्वर्ण-प्रमाप ऋणी देश को अपने वहाँ से सोना चलान करना पड़ता है। लेकिन इस नई योजना से उसे साँस लेने के लिए जगह (Breathing Space) दी गई है। उसे जिस-तिस के आगे हाथ पसारने की आवश्यकता नहीं। उसे अपने देश में अपस्फीति (Deflation) नहीं चलानी पड़ेगी। वह इस संस्था की अनुमति से विनिमय-दर परिवर्तित कर सकता है, उससे दूसरे धनी देशों की मुद्राएँ ले सकता है। अगर किसी देश का आयाताधिक्य (Expot Surplus) उसके अभ्यंश के ७५% से अधिक हो जाता है तब यह संस्था उसके अभ्यंश को अभावपूर्ण घोषित कर देगी। उसके संग्रहीत कोष को यह संस्था उन देशों के हाथ में समभाजित (Ration) करेगी जो उसे चाहते हैं। इस संस्था को अधिकार है कि विदेशी विनिमय-बाजार में इस प्रकार की मुद्रा को सोना के बदले मोल ले या यों ही उधार ले। इस यत्न से ऋणी देश को एक बड़ी सहायता पहुँच सकेगी। लेकिन इतना करने पर भी उसकी हालत नहीं सुधरे तब उसे यह संस्था चेतावनी दे देगी कि वह आयातों के परिमाण को कम करे।

अ० मौ० निधि किसी सदस्य-राष्ट्र को अल्पावधि के लिए कर्ज भी दे सकती है। जितना उसका जमा होगा उसका २५% कर्ज वह दे सकती है। लेकिन जब उसे कर्ज मिलेगा तब उसे अपनी मुद्रा में उतनी रकम जमा करनी होगी। इससे कर्ज के वापस मिलने की आशा रहेगी। कर्ज वार्षिक होगा। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर उसे दीर्घकालिक ऋण में भी रुपान्तरित किया जा सकता है। इस कर्ज पर उस देश को सूद देना पड़ेगा। अगर सूद ५% से बढ़ जाय तो कर्ज ऋणी देश को संस्था अपना कर्ज कम करने की सम्मति दे

सकती है। अगर वह नहीं मानता तब उसे कुछ दंड (Peral Rate) भी देना होगा और अन्त में तो उसे अपने यहाँ से सोना चलान करना पड़ेगा।

यदि कोई देश अ० मौ० निधि की बात अनसुनी करता है तब उसको कई तरह से प्रताड़ित किया जा सकता है। इससे कर्जदाता देश की बन आ सकती है, क्योंकि उसको (Sliding Scale) पर कुछ शुल्क (चार्ज) मिलेगा। ऐसी शर्त कर्जदाता देश के पक्ष में और कर्जदार देश के विपक्ष में जान पड़ती है।

संक्रमणावधि में कोई सदस्य-राष्ट्र निश्चित सीमा के भीतर विनिमय पर प्रतिबन्ध लगाए रख सकता है, लेकिन उसके बाद उसे ऐसा करने की कोई स्वतंत्रता नहीं रहेगी। यह संस्था युद्धाक्रान्त देशों और पिछड़े राष्ट्रों की आर्थिक हालत सुधारने के लिए जो उचित समझे कर सकती है।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि और अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप की परस्पर तुलना करें तो हमें कई समानताएँ दीख पड़ेगी। (१) मुद्राओं के बहुविधि परिवर्तन (Multilateral Conver tiblity) की सुविधा दोनों में है। व्यापार के आयात या निर्यात के आधिक्य से दोनों का संबंध है। (२) स्वर्ण-प्रमाप में स्वर्ण-प्रवाह या डालर-प्रवाह होता था। उसी तरह इस निधि में अभ्यंश-प्रवाह होता है। (३) दोनों में व्यापार-प्रतिबन्धों की निन्दा की गई है।

(४) दोनों में सोना उभयष्ठि माप माना गया है।

(५) विनिमय—मूल्य (Par Value) को स्वर्ण के रूप में निर्धारित किया गया है।

(६) जिस तरह स्वर्ण-प्रमाप में स्वर्ण-विन्दुओं का स्थान था उसी तरह अ० मौ० निधि में विनिमय दर को कुछ प्रतिशत तक बदला जा सकता है।

(७) हाम के अनुसार तो अ० मौ० निधि के आदेशानुसार मुद्रा के प्रवाह का आन्तरिक प्रणाली पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा स्वर्ण-प्रमाप में स्वर्ण-प्रमाप का पड़ता था। दोनों से अपस्फीति की उत्पत्ति होती थी।

फिर भी, दोनों में कुछ विषमताएँ हैं :—(१) स्वर्ण-प्रमाप में मुद्रा को स्वर्ण में रूपान्तरिक कर सकते थे, लेकिन अ० मौ० निधि में इसकी गुंजाइश नहीं।

(२) पहले में व्यापार पर किसी प्रकार का और किसी समय भी प्रतिबन्ध लगाया नहीं जा सकता था लेकिन दूसरे में अल्पकात्मिक व्यापारिक प्रतिबन्धों की गुंजाइश है।

(३) स्वर्ण-प्रमाप में अल्पकालिक असंतुलन को तुरन्त हटाने की फिक्र रहती थी, लेकिन इस संस्था के कारण उसकी फिक्र कम पड़ गई है।

(४) पहले में विनिमय-दर की दृढ़ता बहुत थी, लेकिन दूसरे से उसमें लोच अधिक आ गई है।

(५) पहले में अनुरूप परिवर्तन—Unilateral change—का कोई सवाल ही नहीं था। दूसरे में यह सवाल है।

(६) पहले में विनिमय-दर की वाह्य स्थिरता को प्रधानता दी गई थी। दूसरे में आन्तरिक स्थिरता को अपेक्षाकृत प्रधानता दी गई है।

(७) स्वर्ण-प्रमाप में सोना असीमित राजा था, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि में वह सीमितया वैधानिक राजा है। इसमें भी सोना का प्रभुत्व है लेकिन कम है।

(८) स्वर्ण-प्रमाप एक अप्रत्यक्ष संस्था था, लेकिन अ० मौ० निधि एक प्रत्यक्ष और स्पष्ट संस्था है।

स्वर्ण-प्रमाप की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि इन बातों से अधिक उत्तम जान पड़ती है :—(१) इस तरह की व्यवस्था

वर्तमान युग के लिये उपयुक्त है। स्वर्ण-प्रमाप सफलता-पूर्वक काम नहीं कर सकता।

(२) स्वर्ण-प्रमाप में स्वर्ण-प्रवाह का अच्छा या बुरा प्रभाव दो देशों पर एक ही समय पड़ता था। लेकिन इस निधि में अभ्यंश-प्रवाह का प्रभाव केवल एक ही देश पर पड़ेगा।

(३) इस निधि में विनिमय-स्थिरता की अपेक्षा दाम-स्थिरता को प्रधानता दी गई है। और इसका अभाव स्वर्ण-प्रमाप में खटकता था।

(४) राष्ट्रों को सहायता और सुझाव देने के लिये एक प्रत्यक्ष संस्था है। ऐसी संस्था स्वर्ण-प्रमाप में नहीं थी।

(५) इसके साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक है जो सदस्य-राष्ट्रों को दीर्घकालिक आर्थिक सहायता देगा। कहना नहीं होगा कि इस तरह का इन्तजाम पहले नहीं था।

फिर भी इस निधि की त्रुटियाँ हैं जिन्हें हम विस्मृत नहीं कर सकते। वे यों हैं :—(१) इस संस्था के कार्य सीमित हैं और ब[illegible] समूची जरूरत को पूरा नहीं कर सकती। समवरोध खाता (Blocked Accounts), युद्ध-जनित ऋण, पूँजी-प्रभ्रमण, आदि समस्याओं को सुलझाने की कोई व्यवस्था इसमें नहीं की गई है।

(२) जिस ढंग से विभिन्न देशों के अभ्यंश निर्धारित किये गये हैं, वह भी आलोचना से खाली नहीं। पक्षपातपूर्ण वितरण किया गया है। चीन और भारत को अधिक अभ्यंश तथा अमेरिका और इंगलैंड को कम अभ्यंश मिलना चाहिये था।

(३) प्रो० विलियम का कहना है कि डॉलर के अभाव के कारण सारी निधि एक दिन नष्ट-भ्रष्ट हो जा सकती है, क्योंकि डॉलर दुनिया की अति अभावपूर्ण मुद्रा है।

(४) हाम ने बतलाया है कि सोना की निरंकुशता थोड़ी मात्रा में अभी भी रह गई है जो समय पाकर और भी उद्दाम हो सकती है।

(५) प्रो० भी० एस० कृष्णन के शब्दों में इस निधि के विधान में "गंभीर असंतुलन" (Fundamental Disequilibrium) की कहीं भी व्याख्या नहीं हुई है।

(५) उसी तरह "संक्रमणकाल" की भी उचित और निश्चित परिभाषा नहीं होने से संरक्षण के चिर-परिचित दोष पैदा हो जा सकते हैं।

(७) निधि का मोह मुद्रा-स्फीति की स्थिति से है। यह ऋणदाता के पक्ष में झुकी नजर आती है।

(८) अफ्रीका और एशिया के राष्ट्रों को यह दिल खोलकर सहायता करना नहीं चाहता।

(९) कुछ सदस्य-राष्ट्रों ने इसके नियमों का उल्लंघन भी किया है।

(१०) इसके शासन-प्रमंडल का खर्चा बहुत ही अधिक और कुछ हद तक फिजूल हो रहा है।

इतना होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि एक बहुत ही महत्वपूर्ण संस्था है और इसने मौद्रिक संघर्ष की वजह मौद्रिक सहयोग स्थापित कर विश्व का बड़ा उपकार किया है। यद्यपि स्वर्ण की कुछ निरंकुशता उसमें विद्यमान है (क्योंकि अमेरिका और फ्रांस किसी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था के सदस्य हो ही नहीं सकते थे जिसमें स्वर्ण-मुद्रा को कुछ स्थान ही नहीं दिया हो। उनके पास सोना जमा था और वह उसके जरिये अपना प्रभुत्व दुनिया में जताना चाहते थे।) तथापि वह दुर्बल नहीं (क्योंकि इंगलैंड जैसे देश जिसके पास सोना का बहुत कम कोष था, ऐसी ही संस्था के सदस्य हो सकते थे जिसमें स्वर्ण की निरंकुशता नहीं थी)। यह संस्था अन्तर्युद्धीय काल की मौद्रिक बिमारियों के लिये रामवाण साबित हुई। इससे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। फिर भी डेकॉक के मतानुसार

इसके सफल कार्य-सम्पादन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और बुद्धिमत्ता, आर्थिक एवं राजनीति अनुशासन, और अदम्य उत्साह की भी आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने इस संस्था पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है और जो राष्ट्र इसका प्रतिरोध करेगा उसे संघ के आक्रोश का भागी होना पड़ेगा।

नवम अध्याय

साख या बैंक-मुद्रा

(Credit or Bank Money)

साख की परिभाषा

(Definition of Credit)

पिछले अध्यायों में साख की रूप-रेखा पर किंचित प्रकाश डाला गया है। उसकी ओर जगह-जगह संकेत भी किया गया है। इस अध्याय में उसकी सांगोपांग व्याख्या की जायगी। यों तो Credit से आम बाजार में विश्वास का बोध होता है। कोई आदमी बाजार में विश्वस्त इस आशय से कहा जाता है कि लोग अपने आर्थिक उत्पादन उसके जिम्मे दे सकते हैं। ऐसा करने से एक तो उनका भी हित है, क्योंकि वह उनकी अपेक्षा उपादानों का अधिक सुन्दर उपयोग कर सकता है। इसलिए 'साख' का अर्थ हुआ "विश्वास में देना" या "विश्वास करना"। 'साख' का अर्थ उसकी तुलना 'नकद' से करने पर स्पष्ट होगा। नकद खरीद-बिक्री में चीज खरीदी जाती है और उसका दाम तुरन्त दे दिया जाता है। किन्तु साख-सम्बन्धी खरीद-बिक्री में चीज नकद द्रव्य के बदले नहीं बेची जाती बल्कि इस शर्त पर बेची जाती है कि खरीदनेवाला पीछे (जिस समय को निश्चित कर दिया जाता है उसके बीतने पर) उसका मूल्य चुका देगा। अब चूँकि मूल्य पीछे देना पड़ता है, इसलिए लेनेवाले पर विश्वास करना पड़ता है। अतएव 'साख' का मूल विश्वास में है। इसी विश्वास का परिणाम है कि कितने उद्योगपति अपने पास पूँजी नहीं रहने पर भी दूसरों से पूँजी लेकर उद्योग-धन्धे खोल देते हैं

और लोग उन्हें पूँजी देने में नहीं हिचकते, क्योंकि उनमें उनका अटल विश्वास होता है। इसलिए अब हमें जान पड़ता है कि साख की उत्पत्ति का कारण लेनेवाले में देनेवाले का विश्वास है। साख-सम्मत कार्य दो प्रकार का होता है। (१) चीजों की बिक्री से साख की उत्पत्ति होती है। (२) मुद्रा को उधार देने पर भी साख का निर्माण होता है। साख के बल पर जो काम होता हो वह तुरन्त पूरा नहीं होता, वह चीज का दाम देने पर या ऋण लौटा देने पर पूर्ण होता है, इस तरह साख प्रसूत कार्य में दो तत्वों की प्रधानता है—विश्वास और काल। कोलबर्न साहब साख की परिभाषा करते हुए बतलाते हैं कि आर्थिक भाव में इसका अर्थ देन या पुनर्देन में विश्वास है और बैंक के बारे में इसका अर्थ कि जो सदस्य इससे कर्ज लेता है वह उसे पीछे लौटा देगा, इसमें विश्वास है।

साख की उत्पत्ति बड़े मार्के की है। इससे नकद लेन-देन में जो बाधा थी, दूर हो गई। बहुत दाम की खरीद-बिक्री में रुपया-पैसा अपने पास रखना भयावह है, क्योंकि उनके चुरा लिए जाने का डर रहता है। उनकी संरक्षता करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, प्रचुर धन को स्थानान्तरित करने में कष्ट होता है और अनुचित समय लगता है। यदि साख का प्रयोग हो तो एक छोटे से कागज के सहारे वही काम पूरा हो सकता है जो सहस्त्रों मुद्राओं के द्वारा हो सकता है।

साख का प्राचीन रूप "देने का मौखिक प्रण" है। लोग चीज लेते थे और कह देते थे कि "मैं अमुक दिन को दाम वापस लौटा दूँगा"। किसी लिखा-पढ़ी की जरूरत नहीं पड़ती थी। थोड़े दिनों के बाद लोग लेन-देन के लिए एक बही रखने लगे। लेने-देनेवाले एक दूसरे के परिचित होते थे। साख का आधुनिक रूप बाकी पैसे को लौटाने का लिखित प्रण है। साख की उत्पत्ति जिन चार उपचरणों को गुजरना पड़ा, उनका उल्लेख मुद्रा की उत्पत्ति के प्रसंग में किया जा चुका है।

साख या बैंकवाली मुद्रा का एक ही अर्थ होता है। बैंकवाली मुद्रा=(करेन्सी—धातवीय मुद्रा+कोश-प्रवेश नोट)। इसके बारे में आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखा जायगा।

क्या साख पूँजी है ?

(Is Credit Capital ?)

साख का सार यही है कि एक आदमी अपने वर्तमान सुख और उपयोग को छोड़कर अपनी पूँजी को दूसरे आदमी के हाथ में सौंप दे, जिससे वह वर्तमान सुख और उपभोग का आनन्द उठावे। जिस चीज या मुद्रा को उधार लिया जाता है, उसका प्रयोग तुरन्त के उपभोग में हो सकता है अथवा भावी उपभोगवाली वस्तु के उत्पादन में हो सकता है। इसलिए उत्पादनकर्ता साख पूँजी के बराबर हो सकता है, परन्तु वह स्वयं पूँजी नहीं है।

साख और पूँजी परस्पर भिन्न हैं। साख सम्पत्ति की सृष्टि नहीं कर सकता। सम्पत्ति के साधनों में चार ही प्रसिद्ध हैं जो भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन हैं। साख एक उपादान है। इससे उत्पादन में सहायता मिलती है। इसके द्वारा सम्पत्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाई जा सकती है। कितने लोगों के पास सम्पत्ति बेकार पड़ी रहती है। कितने लोग उसका उपयोग करना नहीं जानते। ऐसे लोगों के पास से सम्पत्ति को लेजाकर उनलोगों के हाथ में उसे सौंपना जो उसका उचित उपयोग कर सकें, साख ही का काम है। मील महोदय ने पूँजी और साख के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "साख दूसरे व्यक्ति की पूँजी को प्रयुक्त करने की अनुमति मात्र है। इससे उत्पादन के साधनों की संवृद्धि नहीं हो सकती। उनका स्थानान्तर मात्र हो सकता है।" इस तरह साख केवल पूँजी का प्रतिनिधि मात्र है। साख की महत्ता इसलिये है कि उससे विशेष पूँजी की सृष्टि हो सकती है। रिकार्डो ने लिखा है, "साख पूँजी की सृष्टि नहीं करती।

यह केवल इस बात का निर्णायक है कि किसके द्वारा पूँजी का उपयोग होना चाहिये।"

कभी-कभी लोगों को यह भ्रम होता है कि बैंक नोट या विनिमय बिल जो साख का एक रूप है, पूँजी कहा जा सकता है। यह भ्रम आधारहीन है। ये रूप पूँजी के प्रतिनिधि मात्र हैं। ये जमीन, घर, मशीन, कच्चे माल के प्रतीक हैं। इन वस्तुओं का आवागमन इन साख यंत्रों के द्वारा सुगम होता है। साख यंत्रों के स्थानान्तर के लिये कर्जदाता के अधिकार और कर्जदार की कृतज्ञता या आभार की आवश्यकता है। यह स्वयं सम्पत्ति की सृष्टि नहीं करता और न उत्पादन में साधन ही बनता है। फिर भी इसका योग सम्पत्तिनिर्माण में रहता है। जो मानव-हित का प्रबल साधन है।

साख के साधनों के भेद

Media of Credit :

(Forms of Credit)

साख

- वाणिज्य वाले
  - प्रोमिशरी नोट
  - विनिमय के बिल
- औद्योगिक
- कृषिवाले
  - प्रोमेशरी नोट
  - बोन्ड
- आर्थिक
  - नोट
  - चेक
  - बैक ड्राफ्ट
  - साख के पत्र
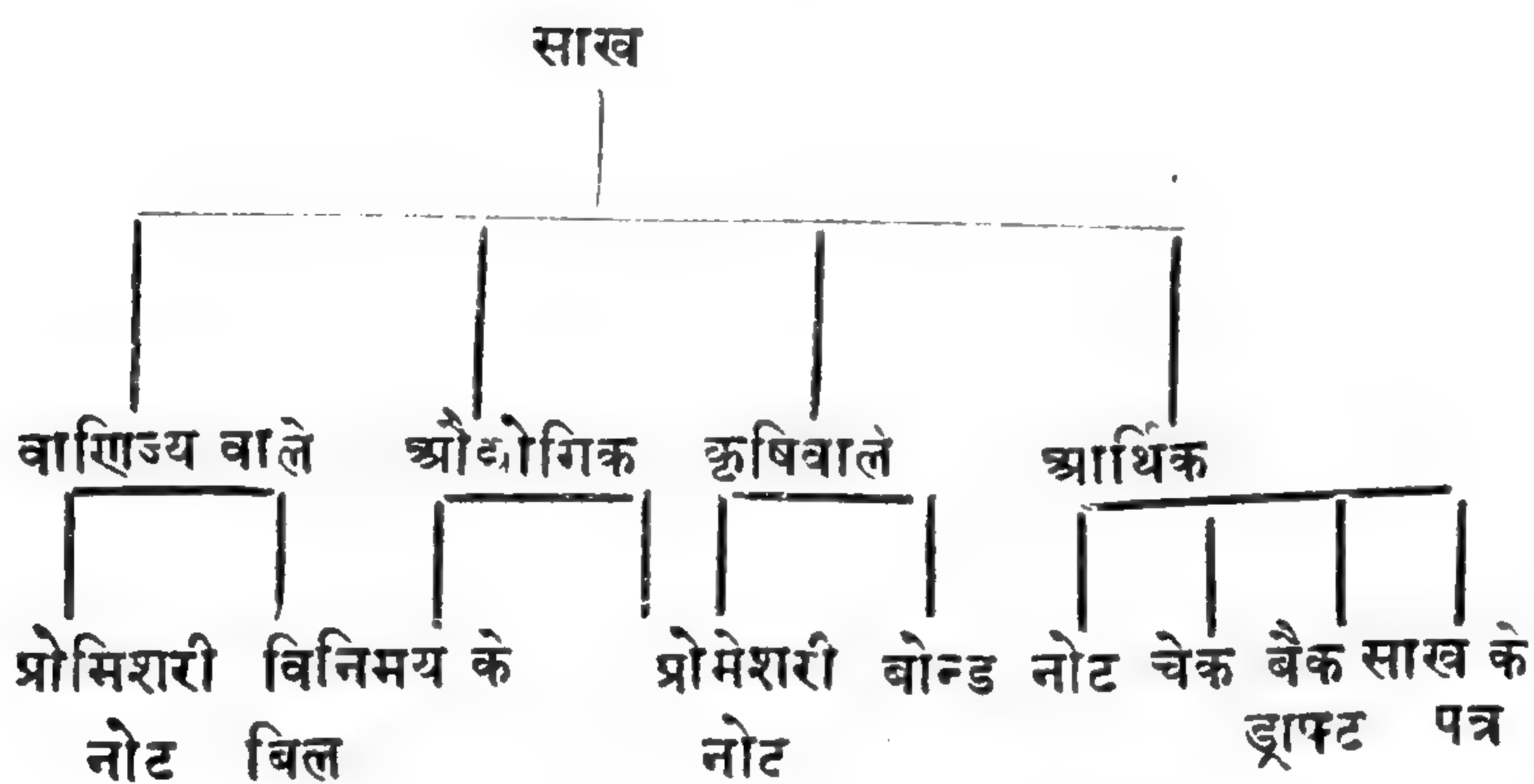
वाणिज्यवाले साख के दो भेद होते हैं: प्रोमिशरी नोट और विनिमय के बिल। प्रोमिशरी नोट एक निश्चित रकम को, पानेवाले को माँगने पर या निश्चित अवधि बीतने पर देन की प्रतिज्ञा है।

इसपर किसी विश्वासी आदमी का हस्ताक्षर होता है। इसलिये हस्ताक्षर करने वाला और देनेवाला दोनों ही रुपया वापस करने के देनदार होते हैं। बिल ऑफ एक्सचेन्ज अर्थात् विनिमय का बिल एक लिखा हुआ आर्डर है जो चीजों के बेचने वाले द्वारा उनके खरीदने वाले के पास भेजा जाता है जिसमें उसका मूल्य भेजने के लिये लिखा रहता है। इस प्रकार का बिल देशान्तर्गतीय और देशवाह्य दोनों होता है। यदि बिल पाकर क्रेता को तुरन्त रुपया देना पड़ता है तो उसे सामयिक बिल कहते हैं। सामयिक बिल अल्पकालीन या दीर्घकालीन का होता है। जो बिल खींचता है उसे Drawer कहते हैं और जिस पर वह खींचा जाता है Drawee कहते हैं। जब ड्रवी उसको स्वीकार कर लेता है तब वह प्रोमिशरी नोट बन जाता है। जो बिल भावी कार्यों का निदर्शक होता है, उसे प्रबंधक कहते हैं। वाणिज्य वाले साख में किताब या बही खाते का साख और बैंक बिल भी होता है। बही वाले साख की पैदाइश दो-तीन फर्मों के आपसी लेन-देन के कारण होता है। 'वकैया बिल' के द्वारा जिस फर्म का पैसा जिस दूसरे फर्म के पास रहता है, लौटाया जाता है।

औद्योगिक साख में पूँजी पत्र, स्टाक और बोन्ड शामिल है। पूँजी-पत्र या सेक्यूरीटी सरकार द्वारा चलाई जाती है। उसका समय निश्चत रहता है। उस पर सरकार सूद देती है। सेक्यूरीटी के द्वारा सरकार प्रजा से कर्ज लेती है। स्टॉक केकितने भेद होते हैं उन्हे समिलित स्टॉक कम्पनी के प्रसंग में लिखा जा चुका है, बोन्ड उद्योग को बँधिक धरकर बेचा जाता है। उसको खरीदनेवाला उद्योग का मालिक बनजाता है।

कृषिसंबंधी साख के प्रमुख मध्यस्थ प्रोमिशरी नोट, सरल बोन्ड, जमीन बाँधिक रखकर बेचे गये बोन्ड होते हैं।

अर्थ संबंधी साख का संबंध बैंक जैसी संस्थाओं से होता है। प्रसिद्ध चार भेद हैं :—नोट, चेक, ड्राफ्ट और साख पत्र। नोटों को

चलाने वाले बैंक होते हैं; बैंक की प्रतिज्ञा है। उस पर यह प्रतिज्ञा अंकित रहती है कि "अधिकारी के माँगने पर मैं धातवीय मुद्रा में नोट को बदल दूँगा"। सभी बैंकों के नोट नहीं चलते। लोग उन्हीं बैंकों के नोटों का लेना चाहते हैं जो विश्वासी हैं। कभी-कभी सरकारी आज्ञापत्र से बैंकों के नोट कोश-प्रवेश्य हो जाते हैं। तब सभी लोग उन नोटों को लेना चाहते हैं। केन्द्रीय बैंक के नोट कोश-प्रवेश्य होते हैं। कोई भी उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता। इन दिनों नोटों के चलान पर सरकार नियंत्रण रखती है। बहुधा केन्द्रीय बैंक को नोट चलाने का एकाधिपत्य प्राप्त रहता है। चेक बैंक में रुपया जमा कराने वाले द्वारा लिखा गया एक आर्डर है। उस आर्डर से बैंक को अमुक व्यक्ति को या वाहक को अमुक रकम दे देने का आदेश रहता है। इसमें समय निश्चत नहीं रहता। चेक पाने वाला जब चाहे रुपया चेक देने वाले के नाम में ले सकता है। चेक-बही प्रत्येक बैंक द्वारा सदस्यों को दी जाती है। चेक को लोग लेने में हिचते नहीं। फिर भी यह नोट की तरह प्रचलित नहीं है, क्योंकि साधारण लोग इसकी विशेषताओं से परिचित नहीं रहते। चेक कोश-प्रवेश्य नहीं है। कर्जदाता को चेक में कर्ज अदा करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। चेक की सामान्य स्वीकृति नहीं होती। चेक को मंजूर करने के लिये चेक देने वाले के कथन में विश्वास होना जरूरी है। उस बैंक में भी विश्वास होना चाहिये जिस पर चेक काटा जाता है। जब तक चेक से रुपया नहीं लिया जाय तब तक चेक का काम पूरा नहीं होता। चेक को विषम रकम के लिये काटा जा सकता है। चेक से मुद्रा का खर्च किफायत होता है। सभी बैंक चेक चला सकते हैं। चेक का प्रयोग क्लियरिंग हाउस के प्रबन्ध से सुविधा पूर्ण होता है। आर्थिक साख का तीसरा रूप सरकारी नोट है। सरकारी नोट कोश-प्रवेश्य होने के कारण खूब प्रचलित होता है। यदि वे परिवर्त्तनशील हों तो उनका स्थान प्रामाणिक मुद्रा या सोना के बराबर होता है। सरकार में प्रजा का विश्वास रहता ही है। इससे इस प्रकार के नोट का पूरा

प्रचार होता है। बैंक का ड्राफ्ट एक बैंक के द्वारा दूसरे बैंक पर दिया आर्डर है, जिसके द्वारा दूसरा बैंक किसी तीसरे व्यक्ति को उल्लिखित रकम दे सके। साख-पत्र बैंक के द्वारा चलाया हुआ कागज है, जिसके द्वारा उसको पाने वाला बैंक से या बैंक के एजेन्ट कोई रकम किसी खास अवधि के भीतर ले सके।

साख से लाभ

(Merits of Credit)

(१) साख से उत्पादनकर्त्ता को सहायता मिलती है क्योंकि इससे उसकी पूँजी बढ़ जाती है। इस तरह उद्योगों को चलाने का भार हलका होता है।

(२) साख धातवीय मुद्राओं के प्रयोग को किफायत करता है। मुद्राओं की ढलाई और स्फीति में जो श्रम खर्च होता है उसकी बचत होती है। बचे श्रम और पूँजी को दूसरे-दूसरे कार्यों में लगाया जा सकता है।

(३) साख के प्रचलन से धातुओं की बचत हुई। इन धातुओं से दूसरा काम लिया जा सकता है।

(४) इससे पूँजी की उत्पादनशीलता बढ़ती है। बैंक के द्वारा बेकार मुद्रा उद्योगी पुरुषों के हाथ में आती है जिसका उपयोग वे कर उसका विकास भी करते हैं।

(५) साख से पूँजी के प्रयोग में प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जो लोग मुद्रा रहते हुए भी उसका उपयोग नहीं करना जानते वे उसे बैंक आदि में जमा करा सकते हैं और बैंक से उद्योगी और व्यवसायी लोग उसे लेकर देश को समृद्धि बढ़ा सकते हैं।

(६) साख से अधिक मुद्राओं को एक जगह से दूसरी जगह भेजने का कष्ट दूर हो जाता है। एक छोटे से कागज के द्वारा बड़ा-

बड़ा लेन-देन हो सकता है। इस तरह मुद्राओं के भेजने आदि में सुविधा होती है।

(७) साख संबंधी साधनों से व्यापार के प्रसारण में सहायता हुई है। आज का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विनिमय के बिलों के द्वारा बहुत ही सुगम हो गया है।

(८) साख के द्वारा थोड़ी पूँजी के पास में रहने पर भी बैंक बहुत अधिक रकमें उधार दे सकते हैं। यदि बैंक के पास १०० रु० हो तो वह १००० रु० लोगों को उधार दे सकता है।

(९) साख से करेन्सी की प्रणाली बहुत ही लोचपूर्ण हो गई है। अतः जब कोई आर्थिक संकट आता है तब साख का निर्माण करके मुद्रा की राशि बढ़ा दी जाती है जिससे उसका निराकरण हो जाता है।

साख से नुकसान

(Demerits of Credit)

साख का निर्माण सहज है। सुगम और सस्ती साख के कारण असंयत सट्टा और अत्युत्पादन उत्पन्न हो जाता है। इससे आर्थिक विपन्नता उपस्थित हो जाती है। मन्दी की तलवार देश के गले पर लटक जाती है। समाज में सम्पत्ति की बाढ़ आ जाने से लोग व्यर्थ खर्च करने लगते हैं। भारतवर्ष में तो इसका नुकसान और भी स्पष्ट है। उधार रुपया लेकर लोग श्राद्ध और विवाह आदि मौकों पर मनमाना खर्च कर सकते हैं। साख की वृद्धि से चीजों की कीमतें वेहद हो जाती हैं। समाज में इससे अत्याचार बढ़ जाता है। जिनकी आमदनियाँ बढ़ी रहती हैं और जो मजदूर-वर्ग के होते हैं, जिनकी मजदूरी कीमतों की वृद्धि की गति के बराबर नहीं बढ़ती, उन्हें बहुत ही कष्ट होता है।

फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि साख से जितना नुकसान होता है उससे अधिक लाभ होता है। यदि साख-निर्माण का नियंत्रण उचित ढंग से किया किया जाय तो उक्तकथित त्रुटियाँ उपस्थित नहीं हो सकतीं।

पत्र-मुद्रा से लाभ

(Advantages of Paper Money)

पत्रमुद्रा का परिचय आरंभ में दिया गया है। यहाँ हम उससे होने वाले लाभों का जिक्र करना चाहते हैं।

(१) पत्र-मुद्रा में उत्तम मुद्रा के बहुतेरे गुण हैं। यह एक स्थान से दूसरे स्थान में आसानी से ले जाया जा सकती है। यह टिकाऊ होती है। यह छोटी-बड़ी रकमों में बँटा रहता है। इसका आन्तरिक मूल्य नहीं रहने पर भी लोगों का इसमें अटूट विश्वास रहता है।

(२) पत्र-मुद्रा किफायती होता है। धातवीय मुद्राओं के निर्माण में श्रम और पूँजी की आवश्यकता होती है। पत्र-मुद्रा के संयोग से इनकी बचत हो सकती है और बची पूँजी से आर्थिक उन्नत्ति करने में योग मिल सकता है।

(३) इसके प्रचलन से धातुओं की बचत होती है। इनसे दूसरे कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं। इतना ही नहीं इनको पाने के लिए धातवीय मुद्रा प्रणाली में काफी चिन्ता रहती है। यह चिन्ता और असुविधा पत्र-मुद्रा के प्रयोग से दूर हो जाती है।

(४) इसके उपयोग से धातवीय सिक्काओं की घिसावट से जो क्षति होती है वह दूर हो जाती है। पत्र-मुद्रा में यह डर नहीं रहता।

(५) यद्यपि पत्र-मुद्रा की रकम से किसी देश की समूची सम्पत्ति नहीं बढ़ती तथापि जिस हद तक यह धातवीय मुद्राओं को प्रतिस्था-

पित करती है उस हद तक तो जरूर सम्पत्ति का निर्माण होता है।

(६) कोई भी पत्र-मुद्रा को बिना किसी कठिनाई के इधर-उधर ले जा सकता है। इसके द्वारा बड़ी-बड़ी रकमें चुकाई जा सकती है। इसे भेजने का खर्च भी नगण्य होता है।

(७) पत्र-मुद्रा अपनी लोच और रवानी के लिए विख्यात् है। यह किसी समय भी बिना कष्ट और उत्सर्ग के बनाई जा सकता है। पहले सोना-चाँदी के मिलने पर ही देश की मुद्रा-राशि को विशद किया जा सकता था। परन्तु आज यह बात नहीं है। किसी संकट को दूर करने के लिए इच्छित पत्र-मुद्रा का निर्माण किया जा सकता है।

(८) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को चलाकर सरकार अपना राजस्व बढ़ा लेती है। यदि यह सुविधा प्राप्त नहीं रहती तो सरकार को कर लगाना पड़ता या ऋण लेना पड़ता। दोनों उपायों से प्रजा को कष्ट होता। आर्थिक विपन्नता को दूर करने का यह साधन तो अतुल और सबसे सरल है!

पत्र-मुद्रा से नुकसान

(Disadvantages of Paper Money)

(१) कुछ पत्र मुद्रा के ऐसे रूप हैं जिनकी सचाई को परखना मुश्किल होता है। कुछ लोग जालसाजी भी कर देते हैं। चेक आदि के लिए चेक काटने वाले और जिस बैंक पर चेक काटा जाता है, इन दोनों में विश्वास का होना, जरूरी होता है। कभी-कभी मूल्य हीन चेक भी काट दिए जाते हैं। कई पत्र-मुद्राओं के साथ अनिश्चय का भाव लगा रहता है।

(२) पत्र-मुद्रा बड़ी ही लोचपूर्ण होती है। मौद्रिक संस्थाओं की इच्छा से इसकी राशि को बढ़ाया या घटाया जा सकता है। इसको छापने का व्यय तुच्छ रहता है। इससे काफी तादाद में पत्र-मुद्रा

के चला देने की आशंका रहती है। अधिक पत्र-मुद्रा के कारण चीजों की कीमतें बढ़ जाती हैं। इसका कुप्रभाव यह होता है कि समाज का बहुत ही नुकसान होता है।

(३) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की संख्या बहुत हो जाने से उसे धातवीय मुद्रा में नहीं बदला जा सकता। इसका नतीजा यह होता है कि उसका मूल्य धातवीय मुद्रा या सोना में गिर जाता है।

(४)पत्र-मुद्रा का क्षेत्र संकुचित रहता है। उसको विदेशवाले नहीं ले सकते।विदेशों में धातवीय सिक्के ही भेजे जा सकते हैं। पत्र-मुद्रा नहीं।

(५) पत्र-मुद्रा का मूल्य अस्थिर रहता है। धातवीय मुद्रा का मूल्य धातुओं के भंडार पर निर्भर रहता है। पत्र-मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर निर्भर करता है। इसका नतीजा यह होता है कि विदेशी विनिमय अस्थिर हो जाता है। इसलिए देश का वहिर्गत व्यापार नष्ट हो जाता है।

(६) यदि चलन में पत्र-मुद्रा और धातवीय मुद्रा दोनों हों तो पत्र-मुद्रा के अति-निर्माण से धातवीय मुद्रा चलन में से छिप जा सकती है। यह ग्रेशम नियम का कथन है।

(७) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा में किसी रिजर्व की जरूरत नहीं होती। फलत: उसको चलाने वाले बैंक बेहद उसे चला सकते हैं। इससे व्यावसायिओं को अधिक मुनाफा हो सकता है। मजदूरों को इससे हानि होती है। क्योंकि उनकी मजदूरी जैसे तेजी से कीमतें बढ़ती हैं उस तेजी से नहीं बढ़ती। इससे अत्युत्पादन हो जाता है। लोगों में द्युतिभाव बढ़ जाता है। भोक्ताओं और बँधी आमदनी वालों को तकलीफ होती है। निर्यात बन्द हो जाता है, आयात बढ़ जाता है। व्यापार का लेखा विपरीत हो जाता है। देश को सोना भेजकर, दूसरे देशों का पावना चुकाना पड़ता है। इसलिए पत्र-मुद्रा

समाज का नाशक है। फिर भी हम कह सकते हैं कि यदि पत्र-मुद्रा निर्माण का उचित नियंत्रण हो तो यह बुरी नहीं है।

साख और कीमतें

(Credit and Prices)

साख का कीमतों पर जो प्रभाव पड़ता है, वह विवादग्रस्त है। कुछ आलोचकों का विचार है कि साख का कीमतों पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि आपस में कट-छँट जाते हैं। फिर भी ऐसे साख होते हैं जो अवशिष्ट होते हैं। जिनके पीछे धातुओं का सहाटय नहीं होता है। उनमें लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। इनका कीमतों पर अयश्यमेव प्रभाव पड़ता है। अतः इन आलोचकों का तर्क गलत है। यद्यपि साख का काम रुपया अदा कर देने पर ही खत्म होता है, तथापि कुछ साख ऐसे भी होते हैं जिनमें रुपया अदा करने की जरूरत नहीं होती।

इसके विपरीत मील और उनके अनुयायियों का तर्क है कि चूँकि साख की क्रय-शक्ति रहती है, इसलिए जिस तरह मुद्रा का प्रभाव चीजों की कीमतों पर पड़ता है, उसी तरह साख का भी पड़ता है। साख की सृष्टि से चीजों की कीमतें बढ़ जाती हैं। परन्तु यहाँ ये लोग एक गलती करते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और उसको पावना चुकाने की शक्ति होती है। मुद्रा देने पर चीज मिल जाती है और फिर कुछ देना नहीं रहता। परन्तु साख से चीज तो मिल जाती है, परन्तु पीछे फिर नकद रुपया देना पड़ता है। तभी लेन-देन पूरा होता है।

सच्चा विचार इन दोनों के बीच का है। साख क्रय-शक्ति का निर्माण करके चीजों की कीमतें बढ़ा देता है। फिर भी साख का निर्माण यों ही —खाली हवा से—नहीं हो सकता। साख-निर्माण के लिए खजाने में कोश-प्रवेश्य मुद्रा—नोट और धातु की जरूरत है।

यदि इस मुद्रा को भ्रमण से निकाल दिया जाय तो जरूर ही कीमतें कम हो जायेंगी। यदि साख से ही सभी काम हो जाता, यदि बाद में कोश-प्रवेश्य मुद्रा की जरूरत नहीं पड़ती तो हम कह सकते थे कि साख मुद्रा के बराबर ही है और कीमतों पर उसका प्रभाव मुद्रा के बराबर ही पड़ता है। परन्तु सच्ची बात यह है कि साख से आधा ही काम पूरा होता है, बाकी काम को मुद्रा ही पूरा करती है। अब चूँकि खजाने में मुद्रा का परिमाण निर्मित साख के परिमाण से बहुत ही कम होता है, इसलिए साख का असर कीमतों पर निस्सन्देह पड़ता है, परन्तु उस हद तक नहीं जिस हद तक मुद्रा के कारण पड़ सकता है या पड़ता है।

दशम अध्याय

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

(Objectives of Monetary Policy)

मुद्रा मिहनत बचनेवाला एक साधन है। मानव-जाति ने इसका आविष्कार और विकास अपनी वास्तविक आय और भौतिक भलाई बढ़ाने के विचार से किया है। लेकिन मुद्रा, कीमतों, व्यापार और उत्पादन के पारस्परिक सम्बन्ध-भावों के कारण सच्चाई और निष्ठा के साथ अपना काम नहीं कर रही है। जैसा कि महाशय चैण्डलर ने लिखा है कि मुद्रा पराधीन लेकिन उपयोगी दासी बनने से इन्कारकर दुष्ट स्वामिनी बनने की कोशिश प्रायः किया करती है। वह समाज के विभिन्न वर्गों के ऊपर मनमाना और अनिच्छित सम्पत्ति एवं आय का वितरण लाद देती है और आर्थिक प्रणाली को अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ काम करने के लिए जितनी वास्तविक आय की आवश्यकता है उससे कम वास्तविक आय वह सृष्ट करती है। मुद्रा की इन काली करतूतों से ऊबकर लोग अब उसकी शक्ति को अच्छे कार्यों में लगाना चाहते हैं। मौद्रिक-नीति के कितने ही ध्येय हो सकते हैं। नीचे हम उन्हीं का उल्लेख संक्षेप में कर रहे हैं।

पूर्ण रोजी की प्राप्ति मौद्रिक नीति का एक प्रधान उद्देश्य है। यह उद्देश्य होने के साथ आर्थिक प्रणाली के सौष्ठव के लिए एक प्रधान शर्त भी है। लेकिन एक बात है। हम पूर्ण रोजी को कुछ खास वजहों से पसन्द करते हैं। उसे यों ही चाहा नहीं जाता। ऐसा संभव है कि बिनापूर्ण रोजी के भी समाज के आर्थिक साधनों या उपादानों का आदर्श या चरम उपयोग किया जा सके। पूर्ण रोजी

के साथ समाज में कुछ ऐसी जटिल परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जो दुर्निवार होती हैं। हम प्रथम खंड में पूर्ण रोजी के विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं।

आर्थिक स्थिरता को बढ़ाना अच्छा है। व्यावसायिक चक्रों के परिवर्तनों का निराकरण करना उचित है। लेकिन एकमात्र मौद्रिक नीति से आर्थिक स्थिरता उपलब्ध नहीं हो सकती। मौद्रिक नीति को सरकारी नीतियों का समर्थन मिलना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो निश्चित मूल्य-तल को भी कायम रखना या स्थापित करना असंभव हो जाय। आर्थिक कार्य-कलाप का दृढ़ीकरण तो दूर की चीज होगी। अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवरनर्स ने १६३६ में लिखा था कि दाम और व्यावसायिक कार्य को प्रभावित करनेवाली शक्तियाँ मुद्रा की पूर्ति के अतिरिक्त कितनी दूसरी भी हैं। इन दूसरी शक्तियों में बहुत-सी शक्तियाँ गैरमौद्रिक हैं और मौद्रिक कार्यवाही द्वारा उनका नियंत्रण नहीं किया जा सकता।

व्यापारिक पतन अर्थात् मन्दी या गतिरोध के समय मौद्रिक अधिकारियों का वश बहुत कम चलता है। वे पूँजी-योग को कार्यान्वित नहीं कर सकते। अधिक-से-अधिक वे सूद की मौद्रिक दर पर नियंत्रण या अंकुश रख सकते हैं। लेकिन वे लाभ की दर को नियंत्रित नहीं कर सकते। लाभ ऋणात्मक भी हो जा सकता है। व्यापारिक उत्थान या महँगी के समय में मौद्रिक सत्ता साख के विस्तारीकरण को प्रभावित कर सकती है। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह आर्थिक दृढ़ता की भी प्राप्ति कर सकेगी। अगर मौद्रिक सत्ता विस्तारीकरण की क्रिया पर आरंभ में ही नियंत्रण नहीं जमा लेती तो उसे आगे चलकर उस क्रिया के भ्रष्ट करने की शिकायत द्वारा या परिस्थिति को हाथ से निकल जाने देने की आलोचना द्वारा लांछित होना पड़ेगा। इतना ही नहीं, मौद्रिक सत्ता सूद की दरों को हरदम बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र भी नहीं और

बिना उन्हें बढ़ाए मुद्रा-स्फीति की बाढ़ को रोका भी नहीं जा सकता। सूद को बढ़ाने का मतलब होता है प्रतिभूतियों के दामों को गिराना और जनता, बैंक तथा सरकारी ट्रेजरी इस चीज का विरोध करती है। ऐसी दशा में मौद्रिक सत्ता या अधिकारियों का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि आर्थिक दृढ़ता या स्थिरता का जो ध्येयहै वह केवलमौद्रिक नीतिद्वारा ही उपलब्ध नहीं किया जा सकता। इसके लिए सरकारकी प्रमुख नीतियों के साथ मौद्रिक नीति का समंवय करना होगा, क्योंकि इन सभीका प्रभाव व्यावसायिक प्रणाली या नीति पर पड़ता है।

अगर लाभ की दर से सूद की दर ही अधिक है जिससे साख के कोष का विस्तारीकरण संभव नहीं तो स्पष्ट है कि सरकारी प्रोग्राम के सहारे ही आर्थिक प्रणाली में अधिक मुद्रा प्रवृत्त की जा सकती है। इसलिए कहा गया है कि "Dificit spending is the logical sequence to central bank policy"। "घाटे का व्यय" सरकारी अर्थ-नीति (fiscal policy) का एक प्रधान अंग है। घाटे के व्यय द्वारा राष्ट्रीय आय (उपभोग की सतह और व्यक्तिगत पूँजीयोग) को स्थिर रखने या बढ़ाने में सहायता मिलती है।

"घाटा पूर्ण व्यय" की उपमा पिचकारी भरने-छोड़ने (Pump-Priming) की क्रिया से दी गई है। घाटा-पूर्ण व्यय यह एक सीमित और अस्थायी क्रिया और ढंग है (मेकैनीज्म जो पिचकारी है औरपिचकारी आर्थिक प्रणाली का रूपक है) औरयहबिना बाहरी मदद के काम कर सकता है। घाटा पूर्ण व्यय का महत्व उस हालत में भी है जब आर्थिक प्रणाली बिना किसी कृत्रिम प्रेरक के भी अवरोध को पार कर सकती है। इसलिए हाम ने लिखा है—"Government deficit spending in the pump-priming sense is not expected to supplant private investment permanently ; it is supposed to taper off as soon as private investment is strong enough to carry on." । लेकिन क्रियात्मक जीवन में घाटापूर्ण व्यय नीति की कठिनाई

यह है कि पूँजी-योग विषयक व्ययों (सरकारी और व्यक्तिगत) को इस तरह नियंत्रित करना कि सार्वजनिक या सरकारी व्यय घटता जाय और व्यक्तिगत पूँजी-योग बढ़ता जाय, टेढ़ी खीर है। घाटापूर्ण व्यय से व्यक्तिगत पूँजी-योग शायद ही सम्पूर्ण पूँजी-योग के बराबर हो सके।

अगर पूँजी-योग को बढ़ाने का एकमात्र साधन सरकारी घाटा पूर्ण व्यय ही हो तो पिचकारी भरने का कार्य बड़ा असफल होगा। जैसा हाम ने लिखा है—The pump would refuse to be primed beyond the point of yielding a rather feeble trick, and the Government would, therefore have "to continue its income increasing expenditures on a large scale in order to prevent actual recurrence of a decline in business activity"। पिचकारी-भरन-कार्य उसी समय सफल होगा जब वह व्यक्तियों में आशावाद का संचार कर जितना ही कम खर्च सरकार को व्यक्तिगत पूँजी-योग को बढ़ाने में करना पड़े उतना ही घाटापूर्ण व्यय और पिचकारी-भरन-कार्य सफल होगा। अधिक सरकारी खर्च से तो लोगों को भावी करों और मुद्रा-स्फीति की आशंका रहती है, भले ही यह आशंका निमूर्ल प्रतीत हो। व्यक्तिगत पूँजी-योग जितनी ही देर से प्रोत्साहित होगा उतना ही अधिक काल तक घाटा-पूर्ण व्यय को बढ़ाना पड़ेगा। घाटापूर्ण व्यय की नीति उसी हालत में खूब सफलीभूत हो सकती है और जलानेवाली चिनगारी का काम कर सकती है जब उसे साहसपूर्वक पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत किया जाय।

अच्छी-से-अच्छी हालतों में भी हम पिचकारी-भरन-कार्य से अधिक-से-अधिक यही उम्मीद रख सकते हैं कि वह व्यापारिक उत्थान का बीजारोपण करेगा। उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं जो ऐसा

प्रसारण शुरू करे जिसका अन्त स्थिर और दृढ़पूर्ण रोजी के संतुलन में हो।

घाटापूर्ण व्यय को मुआवजा से संबंधित व्यय का पीछा करना पड़ता है। सरकार व्यापारिक पतन (सस्ती) को दूर करने के लिये सामान्य काल में कितना खर्च करती है उससे अधिक खर्च व्यापारिक पतन के समय करती है और घाटापूर्ण व्यय की नीति अपनाती है। सरकार व्यापारिक धूम (महँगी) से छुटकारा दिलाने के लिये उस काल में सामान्य खर्च से कम खर्च करती और अवशेष-पूर्ण बजट बनाती है। सरकार के बहुत खर्च चालू खर्च हैं और उन्हें स्थगित नहीं किया जा सकता, लेकिन कुछ ऐसे खर्च हैं (जैसे सार्वजनिक मकान, सामाजिक घर, सड़क, बनाने के कार्य, बाढ़ रोकने, प्राकृतिक साधनों का संरक्षण करने के कार्य—इनमें जो खर्च होते हैं जिनको सरकार कम-बेश कर सकती है। जब दूसरे क्षेत्रों में वैयक्तिक खर्च (या पूँजी योग) कम है तब वह इन खर्चों को बढ़ा सकती है और जब वैयक्तिक खर्च अधिक हैं तब वह इन खर्चों को कम कर सकती है। लेकिन लोगों को सरकारी नीति के प्रति सन्देह हो जाता है। जब मन्दी में, कठिन दारूण परिस्थिति में सरकार घाटा उठाती, अत्यधिक व्यय करती है तब लोग सन्देह करने लगते हैं। लेकिन गंभीरपूर्वक विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि घाटापूर्ण व्यय एक उपयोगी साधन है। "Deficit budgeting during depressions is a virtue rather than a sin"। व्यापारिक चक्रों के खिलाफ जो कदम उठाया जाता है उसका प्रधान लक्षण घाटा का पत्रक मन्दी के वक्त में और अवशेष का पत्रक महँगी के वक्त में बनाना है। विश्लेषणात्मक व्यय के लिये चक्रीय अवस्था की भी ध्यान पूर्वक परीक्षा होनी चाहिये। इसके लिये भूतदर्शिता और भविष्य दर्शिता दोनों प्रकार के गुणों की आवश्यकता है।

पूर्ण रोजी की स्थापना के लिये आवाज उठाने वाले पूर्ण-रोजी का एक बजट बनाने की सलाह देते हैं। लेकिन इस तरह का बजट

अपने कोई रामवाण नहीं है। यह देश की रोजी की अवस्था का एक चित्र उपस्थित करता है। यह माना जा सकता है कि पूर्ण रोजी कायम रखने पर व्यवसाय-चक्र का अस्तित्व जाता रहेगा और वास्तविक राष्ट्रीय आय भी स्थिर रहेगी। पूर्ण रोजी रहने पर कीमतों और उत्पादन के साधनों की गत्यात्मकता कम हो जा सकती है। मुद्रा-स्फीति का भी भय रहता है। जब मुद्रा-स्फीति पैदा हो जाती है तब आर्थिक प्रणाली युद्धकालीन प्रणाली का रूप धारणकर लेगी और परिस्थिति तब संगीन बन जाएगी। (पढ़िए मुद्रा-स्फीति शीर्षक लेख)। युद्ध चलाना और मुद्रा-स्फीति की सृष्टि करना भी मौद्रिक नीति का एक इरादा हो सकता है। मुद्रा-स्फीति वाले अंश में इस पर काफी प्रकाश डाला गया है। युद्धकालीन और शांतिकालीन अवस्थाओं के बीच की अवधि (जिसे संक्रमण काल कहते हैं) में सरकार को मौद्रिक नीति का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है, जिससे आर्थिक प्रणाली का सुधार और विकास हो सके। इसके लिए सरकार को रैशनिंग, मूल्य-नियन्त्रण, मजदूरी-नियंत्रण, उत्पादन-लागत का नियंत्रण, प्रभृति साधनों को अपनाना पड़ता है।

चैन्डलर के शब्दों में मौद्रिक नीति का अन्तिम उद्देश्य आर्थिक प्रणाली के प्रयोजनों की उपलब्धि करना होना चाहिए—यथा संभव कम सामाजिक व्यय पर उपयोगी वस्तुओं और सेवाओं के भंडार का उत्पादन और उसका समाज के व्यक्तियों के बीच न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए। चैन्डलर का भी मत है कि मौद्रिक नीति ही सब कुछ नहीं है। यह अकेले सब कुछ की प्राप्ति नहीं कर सकती और न यह सभी आर्थिक बुराइयों को दूर ही कर सकती है। बहुत सफल मौद्रिक नीति के तत्वावधान में भी कुछ आर्थिक प्रश्नों का समाधान करना रहता है—सम्पत्ति और आय के समुचित वितरण का प्रश्न, अपर्याप्त सम्पूर्ण उत्पादन का प्रश्न, उत्पादित वस्तुओं के अनुपातों में फर्क, अविज्ञ उपभोग संबंधी आदतों का प्रश्न, आदि। मुद्रा को इन प्रश्नों को हल करने में मदद पहुँचानी चाहिये। मुद्रा को तटस्थ

(Neutral) रहना चाहिये। उसे ऐसा रहना चाहिए कि उसके सहारे परिस्थितियों की कठिनाइयों का सुधार हो सके। चैन्डलर ने मौद्रिक नीति के मौद्रिक इकाई का निम्नलिखित सन्निकट उद्देश्यों का उल्लेख किया है।

मौद्रिक इकाई का किसी वस्तु के रूप में स्थिरीकरण

किसी वस्तु के रूप में स्थिरीकरण—बहुत काल से मुद्रा की इकाई को—मूल्य को सोना या चाँदी या दोनों के मूल्यों के रूप में स्थिर रखने का प्रयास होता आया है। इस दृष्टि से मुद्रा के परिमाण पर अंकुश रखा गया है। इससे देश के भीतरी और बाहरी व्यापार में सुविधा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन भी ठीक तरह से चलता है। लेकिन इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। हम पीछे स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) के सिलसिले में बहुत कुछ लिख आये हैं। उसमें बतलाया जा चुका है कि उसके दोष क्या हैं और क्योंकर उसका परित्याग करना पड़ा। इस असफलता से उक्त वर्णित मौद्रिक नीति भी व्यर्थ प्रतीत होती है।

मूल्य-तल का स्थिरीकरण

मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य की भी काफी लोकप्रियता रही है। बहुतेरे अर्थशास्त्रियों ने इसका समर्थन किया है। वास्तविक अनुभव से तो यह उद्देश्य आकर्षक जान पड़ता है। मूल्यों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों से समाज के विनिमय वर्गों पर जो प्रभाव पड़ते हैं वे अनजान नहीं और पीछे हम उनका वर्णन भी कर चुके हैं। जब कीमतों का पतन-चक्र आरंभ होता है तो उससे आर्थिक जीवन में गतिरोध पैदा हो जाता है और आय एवं सम्पत्ति के वितरण में हलचल, उथल-पुथल उत्पन्न होती है। यही बात कीमतों के उत्थान-चक्र के साथ भी है। स्थिर कीमतों के तत्वावधान में समाज में अधिक प्रगति होती है। लेकिन कीमतों के स्थिरतल का

निर्धारण करना कठिन है। इसके संबंध में मतों का ऐक्य नहीं। किन कीमतों को स्वीकार किया जाय—थोक, खुदरा या प्रतिभूतियों की कीमतों को ? देशनांक (Index Number) का निर्माण करना भी दिक्कतों से भरा है। दूसरी बात यह है कि कीमत-तल की उथल-पुथल लक्षण है, कारण नहीं। यदि ऐसी बात हो तो हम लक्षण की भर्त्सना कैसे कर सकते हैं ? तीसरी बात यह है कि कीमतों में हेर-फेर होना कभी-कभी आवश्यक भी होता है। आर्थिक पद्धति के विकास के साथ एक नूतन मूल्य-तल की जरूरत पड़ती है जिससे वह बदले लागत-तल से समन्वित किया जा सके।

मुद्रा के परिमाण का स्थिरीकरण

इसके अनुसार मुद्रा के समस्त परिमाण को स्थिर रखना चाहिये। मुद्रा के समस्त परिमाण में नकद मुद्रा (Cash) और चालू बैंक-जमा (Deposits) आते हैं। लेकिन मुद्रा की माँग बदलती रहती है। उसके अनुरूप ही मुद्रा की पूर्त्ति होनी चाहिए। इस दृष्टि से वही मौद्रिक नीति उचित कही जायगी जो उत्पादन के अनुसार मुद्रा की माँग के बराबर मुद्रा की पूर्त्ति करने के विचार के अनुसार बदलती है। मौद्रिक नीति का यह उद्देश्य भले ही आग्रह्य हो फिर भी यह मुद्रा की पूर्त्ति में होनेवाले अनावश्यक परिवर्त्तनों को अनावश्यक बतला कर चेतावनी देना चाहता है।

सम्पूर्ण मुद्रा-व्ययों (M V) का स्थिरीकरण

इस उद्देश्य के अनुसार मुद्रा की प्रभावोत्पादक पूर्त्ति के स्थिरी-करण का प्रबन्ध किया जाता है। मुद्रा-व्ययों के परिमाण पर चलन-वेग और मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। यह उद्देश्य भी निरपेक्षतया ग्रहण नहीं किया जा सकता।

चालू (Current) उत्पादन के लिए मुद्रा-माँग का स्थिरीकरण

स्थिर प्रणाली (*जिसकी उत्पादन-शक्ति स्थिर है) के लिए यह एक अच्छा उद्देश्य है। लेकिन इसको मान लेने पर उद्योग-प्रवर्तकों

के मुनाफे को स्थिर रखना होगा। आगे चलकर स्थिर मूल्यतल की भी जरूरत पड़ जाएगी। यह भी एक झमेला ही है।

मौद्रिक नीति का एक गौण उद्देश्य **उत्पादन के प्रत्येक साधन की औसत मौद्रिक आमदनी का स्थिरीकरण**:—तदनुसार उत्पादन के साधनों की पूर्त्ति के मुताबिक उत्पादन के लिये होने वाली मौद्रिक माँग में वृद्धि होना आवश्यक है। लेकिन आधुनिक अर्थ-अव्यवस्था में, जो संघर्षणात्मक है, जिसमें पूर्ण प्रतियोगिता का सर्वथा अभाव है, इस तरह की वस्तु संभव नहीं है।

हाल में कुछ अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने जिनमें इरविंग फिशर और हैनसेन अग्रगण्य हैं १०० % नकद मुद्रा रखने की सिफारिश की है। अभी जो १० या ११ % प्रतिशत या ३० % या ४० % नकद मुद्रा क्रमशः इंगलैंड और अमेरिका के बैंकों में जमा करके रखी जाती है, उससे असंतुष्ट होकर ये लोग बैंकों को १०० % नकद मुद्रा-प्रणीधि (Assets) के रूप में रखने की राय देते हैं। यदि इसे मान लिया जाय तो उसका अर्थ ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के माध्यम से सरकार वही काम कर सकती है जो बैंकों को १०० प्रतिशत नकद मुद्रा प्रणीधि में रखने के लिए बाध्य कर सकती है।

कोलबर्न ने "मौद्रिक नीति" के अध्याय में बतलाया है कि सबसे प्राचीन मौद्रिक नीति मरकैन्टीलिज्म—व्यापारवाद था। व्यापारवाद के अनुयायी देश में पर्याप्त मुद्रा-कोष रखना चाहते थे जिससे वे अपस्फीति (Deflation) से बचे रहें। लेकिन वे आत्मपक्षी अतिक्ति-व्यापार लेखा के एकान्त साधन द्वारा ही मुद्रा-कोष को संवृद्ध बनाना चाहते थे। उनका सिद्धान्त रूढ़ि (Dogma) बन गया था और रूढ़ि बेसमझ, अन्धी और खूँखार होती है। अदमस्मीथ ने इसके दकियानूसीपन को हटादिया। स्वेडिश अर्थ-

शास्त्री व्यापार-चक्रों के निराकरण को मौद्रिकनीति का प्रधान उद्देश्य मानते हैं। आस्ट्रियन स्कूल के अर्थशास्त्री "तटस्थ" (Neutral) का समर्थन मुद्रा करते हैं। वे साख की लोच को परिमित करने के पक्ष में हैं क्योंकि यह बाधा डालने वाली—Destabilising Factor—शक्ति है। कोलबर्न का निर्णय है कि मौद्रिक नीति के तीन समन्वित उद्देश्य हो सकते हैं—व्यापारिक चक्रों का निराकरण+स्थिर दाम या आय+पूर्ण रोजी की उपलब्धि। केनेसियन स्कूल के लोग पूर्णरोजी की स्थापना को मौद्रिक नीति का प्रमुख ध्येय बतलाते हैं, लेकिन वे इसके साथ व्यापार-चक्रों के निराकरण को नजर से ओझल नहीं करते। उनके विचार से व्यापार-चक्र के निराकरण और पूर्णरोजी की स्थापना के लिए केवल मौद्रिक नीति से ही काम नहीं चल सकता, बल्कि सार्वजनिक व्यय-नीति का सहयोग भी अनिवार्य है। (सप्तदश अध्याय को इसके लिये पढ़िये।)

क्रौथर ने अपने ग्रन्थ में स्थिर कीमतों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि मुद्रा का आविष्कार ही उसे "तटस्थ" (Neutral) बने रखने की आशा से हुआ था। मुद्रा को मध्यस्थ या साधन के रूप में काम करना था। यदि मुद्रा आज अपने उचित पथ से भ्रमित हो गई है तो यह समाज के कल्याण में बाधक होगा। यदि कीमतों में होने वाले परिवर्तनों को हटाना है तो हमें अल्पकालीन और दीर्घकालीन परिवर्तनों को हटाना होगा। अल्प-कालीन परिवर्तन कतिपय कारणों से हो सकते हैं। लेकिन दीर्घ-कालीन परिवर्तन मुख्यतया व्यापारिक चक्रों की उपज हैं और व्यापारिक चक्रों की उत्पत्ति को रोककर हम इन परिवर्तनों के आगमन को भी रोक सकते हैं।

समस्त समाज की तकलीफें केवल मौद्रिक नीति से दूर होने की नहीं। उन्हें सरकारी नीति की भी अपेक्षा है। जब तक मौद्रिक नीति और सरकारी नीति का पूरा सम्मिश्रण नहीं होता तब तक समाज

से दुःख दारिद्रय का अन्त नहीं हो सकता। पूँजीवादी समाज में मौद्रिकनीति की प्रधानता रहती है, समाजवादी समाज में सरकारी नीति सर्वस्व होती है। लेकिन इन दोनों से काम चलने का नहीं। हमें मिश्रित अर्थ-प्रणाली चाहिए जिसमें मौद्रिक नीति और सरकारी नीति का अधिक संबंध संभव है, अन्यथा नहीं।

—०::❀::०—

द्वितीय भाग
(*PART TWO*)

बैंक-शास्त्र
(BANKING)

द्वितीय भाग

एकादश अध्याय

बैंक-शास्त्र

(Banking)

बैंक की परिभाषा

(Definition of a Bank)

जब पार्लियामेंट को बैंक की परिभाषा करनी पड़ी तो उसने इसकी परिभाषा में कहा कि यह वह फर्म या संस्था है जो सच्चे रूप से (Bonafide) बैंकिङ्ग वाला व्यवसाय करती है। परिभाषा करने की अपेक्षा अधिक साफ और बोधगम्य बात तो यह है कि बैंकर कर्जों का रोजगार या काम करनेवाला है। वह अपने और दूसरे लोगों के ऋणों में व्यवसाय करता है। बैंक के कर्ज सबको स्वीकार होते हैं। उनके सहारे लोग लेन-देन सम्पन्न करते हैं। अतः वे मुद्रा के समकक्ष हो जाते हैं, बैंकर का काम दूसरों के कर्ज को लेकर बदले में अपना कर्ज देना है। ऐसा करके वह मुद्रा की सृष्टि करता है। उसका ऋणत्व सम्पत्ति की विपरीत वस्तु है। बैंकर सम्पत्ति को प्रवहनशील बनाने वाला है। बैंक जनता के विश्वास के कारण ही चलता है। लोग विश्वास करते हैं कि बैंक माँगने पर करेंसी देगा। इस तरह बैंक साख पर ही निर्भर है।

आधुनिक बैंकर के तीन पूर्वज विचारणीय हैं। एक तो व्यापारी ही है जो विस्तृत ख्यातिवाला व्यक्ति है और जिसके लिखे कागज

मुद्रा के समकक्ष माने जाते हैं और सभी जगह ले जाये जाते हैं। बहुत ही शुरू में सौदागर लोग वस्तुओं का व्यापार करते थे। पीछे चलकर वे मुद्रा में व्यापार, लेन-देन करने लगे। बैंकर के दो और पूर्वज महाजन (Money Lender) और स्वर्णकार थे। महाजनी काम तो बहुत दिनों से होता आ रहा है। देहाती महाजन तो विश्व-विश्रुत ही हैं। वह अपनी नृशंसता के लिये प्रसिद्ध है। उसकी सेवाएँ फिर भी समाज के लिए बड़ी हैं। विषम आमदनी के कारण चिरकाल से लोग कर्ज लिया-दिया करते थे। ज्यादेतर महाजन अपनी ही पूँजी से कर्ज लेता-देता है। फिर भी समाज के कितने लोग जिनके पास अधिक पूँजी रहती है और जो उसका उपयोग करना नहीं जानते, उसके पास उसे जमा करते हैं और करते थे। इस तरह महाजन कर्जदाता और कर्जदार दोनों ही बन जाता है। वह रुपया जमा करनेवालों को थोड़ा-सा सूद भी देता है। वह अपने मुवक्किलों को कर्ज देकर अधिक सूद लेता है। इससे उसे मुनाफा होता है।

इसी तरह की हालत समूचे मध्ययुग में रही। लोग उसकी क्रूरता की निन्दा करते थे। उन दिनों भी शासकों ने उसकी नृशं-सता को रोकने के लिये कुछ कड़े कानून बना दिये थे। इन दिनों भी सरकार महाजनों के विरूद्ध कुछ कानून पास करती है। ठीक महाजन की तरह आज का बैंक उनलोगों से रुपया वसूल कर अपने पास रखता है जिन्हें अधिक रुपया रहता है या जो रुपया बचाना चाहते हैं। अपने पास रुपया जमा करके वह उन लोगों को कर्ज देता है जिन्हें उसकी जरूरत होती है। वर्तमान युग में बैंक का काम संश्लिष्ठ हो गया है। कितने बैंक इतना ही काम करते हैं। सेविङ्ग बैंक का काम भी इतना ही है। पर वह उद्योग-धंधों आदि में रुपया लगाने के लिये ही कर्ज देता है, सार्वजनिक लोगों को नहीं। मोरगेज या गिरवी वाला बैंक दूसरों की बचतों को जमा करता है और उन्हीं

लोगों को कर्ज देता है जो घर खरीदना या बनवाना चाहते हैं। बहुत से आम बैंकों का यही धंधा है।

परन्तु बैंकों का काम इतना ही नहीं है। "वे केवल लोगों की पूँजी एकत्र करके उसे उधार ही नहीं दिया करते, बल्कि वे समाज की मुद्रा की पूर्ति की सृष्टि या निर्माण भी करते हैं।" (शेयर्स) किसी सेविङ्ग बैंकका "मुझे आपको इतना देना है" (I O U) मुद्रा की भाँति नहीं चलता। बैंक का बकाया मुद्रा की भाँति चलता है। मुद्रा के दो तत्व हैं। फ्लैट होने पर मुद्रा जमा की जाती है। राउन्ड या गोल होने पर यह चल सकती है। महाजन की संतति फ्लैट मुद्रा से सरोकार रखती है। स्वर्णकार की संतति गोल मुद्रा से संबंधित है। आज के बड़े बैंक दोनों काम करते हैं।

कितने लोगों का कहना है कि बैंक का तीसरा पूर्वज—स्वर्ण कार केवल इंगलैंड में ही पाया जाता है। वहाँ स्वर्णकार चलने वाली मुद्रा दिया करते थे। वे अपना कुछ कोष सन्दूक में रखा करते थे। इसके बिना व्यवसाय में ठहरना कठिन था। आज भी स्वर्णकार अपने सौदागरों (Customers) को उनका सोना या चाँदी अपनी सन्दूक में रखकर अनुगृहीत कर सकता है। पहले केवल सोना या चाँदी के ही सिक्के चलते थे। लोगों के पास अपेक्षाकृत अधिक सोना या चाँदी था। लोग सोनारों के पास इसे रखकर आसानी से एक रसीद लेते थे। कुछ दिनों के बाद धरोहर की रसीद मुद्रा की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने लगीं। स्वर्णकार से सोना लेकर किसी को देने की अपेक्षा रसीद को देना बहुत ही जरूरी था। स्वर्णकार के लोगों में विख्यात् होने पर उसकी रसी दमजे में मुद्रा की तरह चलती थी। यही रसीद बैंक नोट का सूक्ष्म रूप थी। कुछ और दिनों के बाद रसीद की भी कोई जरूरत नहीं जान पड़ी। स्वर्णकार को केवल एक चिट्ठी के द्वारा आदेश किया जा सकता था कि वह अमुक आदमी के नाम से अमुक रकम को ले अमुक आदमी को दे दिया जाय। यहीं

से चेक का जन्म हुआ। वही पुराना स्वर्णकार आज बैंकर बन बैठा है और वह सोना के स्टॉक से अधिक धरोहर की रसीदें चला सकता है। ऐसा कर चुकाने पर वह मुद्रा की सृष्टि कर ही बैठता है। मुद्रा सृष्टि में पहले स्वर्णकार को नाना प्रकार की शंकाएँ होती थीं। कुछ ही दिनों के बाद वह अपनी धाक जमाता गया। उसका विश्वास अपनी ताकत में बढ़ता गया। शीघ्र ही उसने अनुभव के बल पर यह तय कर लिया कि उसको कितना सोना अपने खजाने में रखना चाहिए और कितनी रकम तक वह उधार लगा सकता है।

व्यापारी की तरह आज का बैंकर विदेशी व्यापार का प्रबन्ध करता है। इसके लिए वह विनिमय-बिल के समान साधन काम में लाता है। महाजन की तरह वह एक वर्ग के लोगों की बचतों को जमा करके दूसरे वर्ग के लोगों को उन्हें उधार देता है। उसकी धरोहरों का अधिकांश भाग ऐसी ही बचत वाली धरोहरों की समष्टि है। इन्हें केवल चेक काटकर ही नहीं निकाल सकते। इन्हें निकालने के लिए पूर्व विज्ञप्ति (Notice) देनी पड़ती है। बैंक का अप्रतिम काम जो तीसरा काम है, सुविधाजनक साधन को प्रदान करना है जिसके द्वारा लोग एक द्वार से दूसरे द्वार पर गए बिना परस्पर लेन-देन, आदान-प्रदान कर सकें। इस साधन को प्रदान करने के लिए वह मुद्रा की सृष्टि करता है।

मुद्रा की सृष्टि

(Creation of Money)

शेयर्स महोदय कहते हैं कि "बैंक केवल मुद्रा के प्रदानकर्त्ता ही नहीं है, बल्कि मुद्रा का सर्जक भी है।" बैंक पूँजी का बाजार या इश्यूइङ्ग हाउस नहीं है। मुद्रा के प्रवाह पर ही उत्पादन के साधन

आश्रित रहते हैं। समाज की आर्थिक प्रणाली का अवलोकन करने से ज्ञात होगा कि बैंक वाली मुद्रा या साख के परिवर्तित होने पर समाज की नीति में भी परिवर्तन होता है। सभ्य देशों में मुद्रा का अधिकांश भाग बैंक धरोहरों या जमा (जिन्हें बैंक मुद्रा भी कहते हैं) का बना होता है। इससे स्पष्टतया जान पड़ता है कि बैंक मुद्रा की सृष्टि करते हैं। यहाँ यही देखना है कि वे किस तरह मुद्रा की सृष्टि करते हैं।

उदाहरण के लिए यदि आप किसी बैंक के पास १०० रु० कर्ज लेने जावें तो आप बैंकर को विश्वास दिलावेंगे कि आप के हाथ में कर्ज सुरक्षित रहेगा और आप निश्चित अवधि के बाद सूद के साथ मूलधन वापस लौटा देंगे। बैंकर तुरन्त आपको चाँदी के १०० रुपया नहीं देता। यदि उसे राज्य की ओर से नोट चलाने की अनुमति मिली है तो वह १०० रु० का नोट आपको दे सकता है। बहुधा बैंकर आपके नाम पर अपने खाते में १०० रु० जमा कर देगा। आप कुछ रकम रुपयों में ले लेगें और बाकी रकम के बदले बैंकर आपको चेक-बही देगा। आप चेक काटकर ही दूसरों को रुपया देते रहेंगे और बैंकवाला आपके नाम पर से उनके नाम पर रुपया जमा कर देगा या उन्हें चेक या रुपया देता रहेगा। बैंकवाला अपना ऋण बढ़ाकर ही कर्ज देता है। आप रुपया लौटा देने का वचन देते हैं। आपको सूद भी देना पड़ेगा। परन्तु कर्ज देने से बैंक वाले का तो ऋण बढ़ गया। पुराने बैंकिङ्ग कहावत के अनुसार प्रत्येक कर्ज से जमा की सृष्टि होती है। (यहाँ कर्ज का अर्थ उधार अर्थात् (Loan) है और ऋण से Debt और जमा से Deposit समझना चाहिए)। बैंकर के ऋण मुद्रा की तरह काम देते हैं। उधार देने के फलस्वरूप १०० रुपया का जन्म हुआ है। जब उधार लिया धन लौटा दिया जाता है तब उधार लेने वाले के खाते से १०० रु० घटा दिया जायगा और इस तरह अस्तित्व से १०० रु० निकल जायगा।

उधार या कर्ज देकर ही धरोहरों या जमा की सृष्टि नहीं होती। बैंक पूँजी-पत्र खरीद लेते हैं और विक्रेता की रकम अपने खाते पर

चढ़ा देते हैं। इस तरह वे अपनी धरोहरों को जो मुद्रा ही हैं उतनी रकम के बराबर बढ़ा देते हैं। विक्रेता किसी बैंक का सदस्य हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। विक्रेता बैंक के द्वारा दिए गए चेक को किसी बैंक के साथ जमा कर देगा। इस तरह किसी भी बैंक को धरोहरें उतनी रकम के बराबर बढ़ सकती हैं। पूँजी पत्र खरीदना या और कोई पूँजी (Asset) खरीदना बराबर ही है। बैंक अपनी साख या I O U देकर कोई भी चीज खरीद सकता है। यह खुशी की बात है कि बैंक के I O U मुद्रा की तरह चलते हैं।

परन्तु जिस मुद्रा की सृष्टि बैंकवाला करता है वह उसका दायित्व (Liability) है। समस्त प्रणाली ही इस बात पर अवलम्बित है कि बैंक के बहुत थोड़े ही IOU's के बदले करेन्सी पाने की कोशिश की जाएगी। समाज को कुछ करेन्सी (Hard Cash) की हमेशा जरूरत रहती है और वह इसकी माँग करेगा। इतना ही नहीं धरोहरें एक बैंक से दूसरे बैंक में आती-जाती हैं। एक बैंक दूसरे बैंक पर चेक काटता रहता है। ये चेक किलियरीङ्ग घर में जमा होते हैं, जहाँ उनका हिसाब होता है और जिस बैंक के नाम पर बाकी गिरता है उसे उसको अदा करना पड़ता है। इसके लिए बैंक के पास करेन्सी का कुछ कोष रहना परमावश्यक है। इस प्रकार बैंकों को दो तरफों से होने वाली करेन्सी की माँग को पूरा करना पड़ता है। उसे जनता की माँग को पूरा करना पड़ता है, क्योंकि उसे प्रतिदिन के काम को सम्पादित करने के लिए कुछ करेन्सी की जरूरत पड़ती है। उसे अपने संगी बैंकों की माँग को पूरा करना पड़ता है, क्योंकि उसे पावना चुकाना पड़ता है। फिर भी इन दो देनों में समाज की समूची मुद्रा का लघु हिस्सा ही लगता है। अनुभव से यह प्रतीत होता है कि बैंक की समूची धरोहरों के लघु हिस्से को ही इन दो कार्यों के लिए नकद मुद्रा में रखना पड़ता है। बैंक आवश्यकता से कुछ अधिक ही नकद मुद्रा रखते हैं। इंगलैंड में नकद मुद्रा सम्पूर्ण धरोहरों का १० या ११ प्रतिशत होती है।

जो कुछ भी हो, बैंक की मुद्रा-सृष्टि की शक्ति पर इस आवश्यकता के द्वारा एक प्रतिबन्ध लग जाता है। बैंक कैस रिजर्व को अपनी धरोहरें के १० प्रतिशत से कम नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करे तो जनता को बैंक की आर्थिक समर्थता में सन्देह होने लगेगा। जनता उस अनुपात से अभ्यस्त हो गई है। बैंक कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे उसकी स्थिति खतरे में आ जाय। उसका पूरा व्यवसाय इसी विश्वास पर निर्भर है कि बैंक माँगने पर रुपया लौटा ही देगा। यदि एकाएक सभी लोग बैंक से अपना-अपना हक माँगने लगें तो वह किसी को रुपया नहीं लौटा सकता। यह उसकी विवशता है। अतः जितना ही अधिक कैस बैंक के पास रहेगा उतना ही कम वह उसे चाहेगा। जितना ही कम कैस उसके पास रहेगा उतना ही अधिक वह उसे चाहेगा।

अतएव प्रत्येक बैंक एक निश्चित कैस को अपने पास रखता है। वह उसको नहीं कम करेगा। कुछ देशों में सरकार कैस के अनुपात को निश्चित कर देती है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की फेडरल रिजर्व प्रणाली के प्रत्येक सदस्य बैंक को काल जमा (Time Deposits) के तीन प्रतिशत और दूसरे जमा (Demand Deposits) के ७ से १३ प्रतिशत को कैस में रखना पड़ता है। इस अनुपात को फेडरल रिजर्व बोर्ड बढ़ा भी सकता है।

बैंक इस तरह अपने कैस रिजर्व से लगभग दस गुनी मुद्रा की सृष्टि कर सकते हैं। कैस की परिभाषा यों की गई है, "यह वह मुद्रा है जिसकी सृष्टि बैंक स्वयं कर सकता है या अपनी इच्छा से बढ़ा सकता है।" कैस मुद्रा का वह भाग है जिसकी माँग होने पर बैंक देकर अपनी देय-सामर्थ्य (Solvency) साबित कर सके। कैस की रकम का निर्णय या संचालन बैंक की शक्ति से परे है। इस तरह मुद्रा सृष्टि की ताकत जो बैंक के पास है, वह कैस की मात्रा द्वारा परिमित होती है।

जिस क्रिया से धरोहरें अस्तित्व में आती हैं, उसकी प्रकृति के

द्वारा ही दूसरी बाधा या परिमितता उत्पन्न होती है। धरोहरें किसी न किसी साधन-Asset को प्राप्त करने पर ही उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक एसेट सम्पत्ति का एक रूप ही है। बैंक अकसर कोई उधार या ऋण मूल्यवान प्रतिभूति की जमानत पर ही देता है। जमानत नहीं होने पर भी उधार लेने वाले की कर्तृत्व-शक्ति ही सम्पत्ति का एक रूप हो सकती है। इस तरह बैंक मुद्रा की सृष्टि "खाली हवा" (Thin Air) से नहीं करता। यह सम्पत्ति के किसी रूप को मुद्रा में परिणत (Trans muty) कर सकता है। "The banker's power is not even so great as this, for he cannot change a worthless substance into a valuable one. But he can turn immobile wealth into the mobile (or "liquid) form of wealth known as money." । वह अगतिशील सम्पत्ति को अपने संबल, अपने एसेट के रूप में ग्रहण कर लेता है और बदले में अपना I O U दे देता है। यही बैंक के व्यवसाय का सार (essence) है।

आम जनता के लिए बैंक नोट एसेट या प्रणिधि का प्रतिनिधि है, परन्तु बैंक के लिये वह लाइवलिटी या दायित्व का प्रतिनिधि है। जब बैंक अपनी धरोहरों या नोटों को बढ़ाता है तब वह अपने ऋण को ही बढ़ाता है और इसके लिए उसे मुआवजा मिलना चाहिये। यह स्पष्ट है कि किसी बैंक की धरोहरें या नोट जितने ही अधिक होते हैं, उसके मुनाफे उतने ही अधिक होते हैं। यही कारण है कि बैंक अपने दायित्व या ऋण बढ़ाने के लिये चिन्तत रहते हैं। बैंक लोगों की प्रतिज्ञाओं से ही अपनी आमदनी बढ़ाता है।

कुछ व्यक्तिगत बैंकवाले कहते हैं कि इस प्रकार के कथन से उनके अधिकारों की अत्युक्ति की गई है। उदाहरणार्थ, किसी देश में पाँच बैंक हैं। मान लीजिये, बैंक 'क' के जिम्मे १० रु० अधिक (कैस में) हो जाता है। वह अपनी धरोहरों को १०० रु० तक उधार देकर बढ़ा देता है। लेकिन जिन लोगों ने रुपया उधार लिया है वे उसे कई

मदों में खर्च करने लगेंगे। हो सकता है कि वे लोग जो चेक पाते हैं दूसरे बैंकों के साथ—ख, ग, घ, च, जमा कर दें। इस तरह 'क' के जिम्मे इन चार बैंकों का ८० रु० बाकी रहेगा। क बैंक को केवल १० रु० ही नहीं खोना होगा, बल्कि ७० रु० और भी। इसी बात को लक्ष्यकर बैंकवाला कहता है कि मुद्रा-सृष्टि की चर्चा करना असंगत है तथा बैंकवाले उन्हीं धरोहरों को ऋण में देते हैं जो अन्य व्यक्तियों द्वारा जमा की जाती हैं।

बैंकवाले के इस कथन के लिए दो उत्तर दिये जा सकते हैं। पहला सिद्धान्तगत उत्तर है। वह यह है कि बैंकर ने अपने विश्लेषण को विशद नहीं किया है। २० रु० जो क बैंक द्वारा ख, ग, घ, और च बैंकों को मिलेगा उसके आधार पर वे भी मुद्रानिर्माण करेंगे और उनके दिये हुए कुछ चेक 'क' बैंक के पास आवेंगे और वह अपना कुछ कैस वापस लौटा लेगा। यदि पहले का १० रु० बैंकिङ्ग प्रणाली के बाहर से आता तो वह किसी बैंक के कैस रिजर्व को बढ़ा देता और जब तक १०० रु० की नई धरोहरें नहीं सृष्टि की जातीं तो सभी सभी पाँच बैंकों के कैस रिजर्व के अनुपात पहले की अपेक्षा अवश्य-मेव अधिक होते। डिपोजिटों जमा का विस्तार और कैस का कम-वेश करना जरुर जारी रहता, जब तक १०० रु० और न सृष्ट हो जायँ।

दूसरा उत्तर व्यावहारिक है। सितम्बर १९४० में ब्रिटिश बैंकों की कुल धरोहरें २४००० लाख पौंड थीं और कैस की कुल रकम देश में ६००० लाख पौंड से कभी भी अधिक नहीं थी और बैंकों के कोष में २५०० लाख पौंड कैस था। यदि बैंकों ने मुद्रा की सृष्टि नहीं की तो यह २१५०० पौंड आया कहाँ से? अतः यह स्वतः सिद्ध है कि बैंकों में मुद्रा-निर्माण की क्षमता हैं।

वाणिज्य-बैंक के लेखापत्र का एक नमूना

(Balance sheet of a Commercial Bank)

बैंक के लेखा का एक छोटा-सा नमूना नीचे दिया जाता है। यह

मई १६३६ के लन्दन किलयरीङ्ग बैंक के मासिक बयान से उद्धत किया गया है।

दायित्व या ऋण (Liabilites) (पौंड में)

पूँजी औररिजर्व कैस	१३८७८४०००
धरोहरें या जमा	२१६६७६३०००
भ्रमण में नोट	१४१४०००
दूसरे मद	३०००००
मिजान	२३०७२६१०००

प्रणिधि या पूँजी (Assets) (पौंड में)

सिक्का, बैंक नोट और बैंक ऑफ इंगलैंड के साथ जमा (Deposits)	२३६१३३०००
एकत्र किया हुआ चेक आदि	६५७६६०००
माँग और छोटी विज्ञप्ति पर की मुद्रा (Call & short Notice Loans)	१४३४७६०००
बट्टा या कटौती किये गये बिल (Discounted Bills)	२००७२२०००
उद्योग,व्यापारमें पूँजी-योग-इनमस्टनेंटस	६०४५३८०००
दीर्घकालीन ऋण—एडभानसेज	६८७६७२०००
अन्यान्य मद	६८६५४०००
मिजान	२३०७२६१०००

जून ३०, १६३९ की अमेरिकन फेडरल रिजर्व प्रणाली के सदस्य बैंकों का बैलेंस सीट :—

दायित्व या ऋण (Liabilities) (डॉलर में)

पूँजी और रिजर्व	५४६६०००००
धरोहरें या जमा	४३६६१००००००
फेडरल रिजर्व बैंक से लिया उधार	५०००००
	४६१६१००००००

प्रणिधि या पूँजी (Assets) (डॉलर में)

तिजोरी में का कैस	७१२००००००
फेडरल रिजर्व बैंक के रिजर्व	१००११००००००
दूसरे बैंकों के साथ जमा	४६७४००००००
इनभेस्टमेन्टस (पूँजी-योग)	१६४६२००००००
एडभानसेज (दिये ऋण)	१३१४१००००००
दूसरे मद में	११६१००००००
	४६१६१००००००

किसी बैंक का समूचा व्यवसाय उसके बैलेंस सीट द्वारा जाना जा सकता है। बैंक के दो प्रधान सिद्धान्त हैं :—अनुपातों का सिद्धान्त और पूँजी-ऋण की समानता का सिद्धान्त। बैंक की डिपोजिटें (धरोहरें) उसकी बही में समाविष्ट प्रवेशमात्र हैं। बैंक के ऋण लोगों के द्वारा दी पूँजी पर दिये जाते हैं। जितनी ही बड़ी पूँजी होगी उतने ही अधिक ऋण होंगे। एसेट ही ऋण की सृष्टि के संबल हैं। पूँजी बैंक के शेयराधिपतियों द्वारा दी जाती है। कुछ मुनाफा भी रिजर्व में शामिल रहता है। सबसे बड़ा ऋण जनता के प्रति होता है। यह डिपोजिटों और नोटों का बना होता है। अमेरिका में बैंक सीधे "फेडरल रिजर्व बैंक" से उधार ले सकते हैं। बैंक अपने कतिपय कार्यों से अन्तिम मिश्रित ऋण करते हैं।

इंगलैंड में डिपोजिटें दो प्रकार की होती हैं। एक प्रकार की वे चलते खाते की डिपोजिटें होती हैं (Current Deposits) जिन्हें दर्शनी चेक द्वारा हस्तान्तरितकिया जा सकता है। दूसरे प्रकार की वे "डिपोजिट खाते" (Deposits Fixed) की डिपोजिटें होती हैं जिन्हें हस्तान्तरित करने के लिए पूर्व नोटिस देनी पड़ती है।

बैंक के बैलेंस सीटका एसेट वाला पक्ष बहुत ही जटिल होता है। बैंकअपने उपादानों को पूँजी या ऐसेट्स के विभिन्न रूपों में इस प्रकार बाँटता है कि एक तो उसकी ऋण चुकाने की शक्ति (Solvency) बनी रहे और दूसरे उसे मुनाफा भी हो। जब लोग अपना हक

लेने आवें तो वह उसे अदा कर सके। इसके निमित्त बैंक कैस रखता है। वह कम समय के लिए लोगों को रकमें उधार भी देता है जो एक दिन के बाद ही वापस कर ली जाती हैं। मुद्रा-बाजार के बहुतेरे लोग उन्हें सानन्द लेते हैं। बैंक की स्थिति को मजबूत बनाने में Cash और Short Loans का पूरा हाथ है। बैंक को अपने कर्मचारियों का वेतन देना पड़ता है, अपने सदस्यों को मुनाफा देना पड़ता है और कुछ मुनाफा अपने लिए रखना पड़ता है जिससे वह अपनी प्रगति सोच सके। बैंक के पास जो सिक्का, बैंक नोट और केन्द्रीय बैंक के साथ जमा की हुई पूँजी रहती है, इनसे तो बैंक को कोई लाभ नहीं होता। अल्पकालीन उधार पर बैंक बहुत कम सूद लेता है,इनसे उसको काफी लाभ नहीं हो सकता। इसलिए दूसरे एसेटों का प्रबन्ध इस प्रकार पड़ता है चाहिये कि अपेक्षित नफा हो। पर यह जान लेना चाहिये कि जिस एसेट से ज्यादा नफा होता है, वह देर तक लोगों के पास रहता है। "The better the return, the less possible it is to get your money back quickly"। उसके एसेटों के पीछे बैंक का ऋण भी है। इसलिए वह अपने एसेंटों को ऐसी जगह में नहीं दे सकता जहाँ से जरूरत पड़ने पर उन्हें निकालना मुश्किल हो।

इस तरह लिक्वीडिटी और प्रोफीटैबिलीटी—प्रवहनशीलता और मुनाफा-परस्पर विरोधी सिद्धांत हैं। कैस की प्रवहनशीलता सबसे अधिक है, परन्तु उससे कोई आमदनी नहीं होती। कुछ ऐसे उधार हैं जो बहुत सूद देते हैं, परन्तु वे एकदम प्रवहनशील नहीं। अतः बैंक अपने रिसोर्स (उपादानों) को इस प्रकार विभिन्न एसेटों में बाँटता है कि लिक्वीडिटी और प्रोफीटैबिलीटी में ठोस संतुलन हो सके। बिल, इनभेस्टमेन्टस और एडवान्सें तीन अन्य एसेंट हैं। बिल से सबसे कम और एडवान्स से सबसे अधिक मुनाफा होता है। बिल विख्यात बैंकिङ्ग हाउसों या व्यापारियों या सरकार के I OU's

हैं जिनकी अवधि तीन से छव महीनों की होती है। बिलों पर बैंक कटौती या बट्टा (Discovnt) लेते हैं। कटौती की दर प्रचलित सूद की दर और बिलों की अवधि पर निर्भर करती है। बिलों की लिक्वीडिटी बहुत ही अधिक होती है। वे एक बैंक से दूसरे बैंक के पास पहुंचते रहते हैं। बैंक इन बिलों को लेकर बदले में अपनी डिपोजिटें दे देता है। अवधि पूर जाने पर बिल की निकासी करने वाले बिल पर लिखे मूल्य को वापस कर देते हैं। बिल देने की एक प्रतिज्ञामात्र है। ब्रिटिश बैंक के लिए इनभेस्टमेंट ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को पूँजी सेक्यूरिटी का प्रतीक है। ये पूँजीपत्र बहुत वर्षों के लिए होते हैं। बहुत सुरक्षित प्रतिभूतियों (Securities) में इन्भेस्टमेन्ट हो सकते हैं। उनसे बिल की अपेक्षा अधिक आमदनी होती है। फिर भी जो सूद मिलता है वह कम नहीं होता। जब कोई बैंक सरकारी सेक्यूरीटी खरीदता है तो वह उसके बदले में अपनी डिपोजीट देता है। जब वह स्टॉक एक्सचेञ्ज से पुरानी सेक्यूरीटी खरीदता है तो वह विक्रेता को दाम में अपनी डिपोजीट देता है। बैंक का अन्तिम प्रधान एसेट एडभान्सें हैं। ये दीर्घकालीन और बड़े उदार हैं। इनमें Overdraft भी सम्मिलित रहते हैं। बड़े-बड़े उद्योगपतियों को बड़ी-बड़ी रकमें दी जाती हैं। एडभान्से सबसे कम प्रवहनशील होते हैं। फिर भी कितने बैंक अधिक दिनों के लिये उधार नहीं देना चाहते। वे अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए ऋण देते हैं। इतना है कि एक वर्ष के बाद वे फिर उन्हें बही में दर्ज कर देते हैं।

जिन अनुपातों में बैंक अपने एसेटों को उक्त पाँच भागों में विभक्त करते हैं, उसका एक नमूना नीचे दिये जाता है।

प्रणिधि [एसेंट] का विभाजन

	अनुपात	आमदनी
नकद मुद्रा (Cash) ···	११ प्रतिशत	(शून्य)
अल्पकालीन कर्ज (Call and		

Short Notice Loans) .... ७ .... (३½ प्रतिशत)
बिल (Bills) .... १५ .... (४ ")
इनभेस्टमेनट्स (Investments) १२ .... (४½ ")
दिये ऋण (Advances)... ५५ .... (५½ ")

ऊपर आमदनी का जो ब्योरा दिया गया है उससे पूर्णरुपेण स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम दो मदों से सबसे अधिक आमदनी होती है। जब सूद की दर अधिक होती है तब आमदनी भी अधिक होती है, जब सूद की दर कम होती है तब आमदनी भी कम होती है। मन्दी के समय जब व्यापारी लोग एडवान्स को लौटाने लगते हैं तब बैंक भी उनकी जगह इनभेस्टमेन्ट और अन्य एसेटों की संख्या बढ़ा देते हैं। बैंक ऋण का ही व्यापारी है। समग्र प्रणाली ही कर्ज या साख लौटाने की प्रतिज्ञाओं की बनी होती है और उसकी नींव थोड़ा-सा कैस होता है। लिक्वीडिटी की सीमाओं के भीतर बैंक कैस के अनुसार अपने बैलेंस सीट को जैसा चाहे बना सकता है। कैस ही समस्त प्रणाली की धुरी (Crux) है। कैस को बढ़ाकर समूची बैंक की प्रणाली को बढ़ाया जा सकता है। इसके प्रतिफल समाज में मुद्रा का भंडार अनुपाततः बढ़ सकता है। कैस को घटाकर समूची प्रणाली को संकुचित किया जा सकता है और इसके प्रतिफल मुद्रा का भंडार घट सकता है। कैस के बढ़ने-घटने से बैकिङ्ग प्रणाली बढ़ती -घटती है। यह संभव है कि कैस बढ़ने या घटने पर सभी एसेटों को समान अनुपात से नहीं बढ़ा या घटा सके। यदि कैस कम हो जाय तो एसेटों को भी कम कर देना होगा। इसलिए क्रौथर के शब्दों में हम कह सकते हैं :—यह घोंघे की तरह जब अपने को फैलाता है तो समाज के अन्दर साख की राशि बढ़ जाती और जब वह अपने को सिकोड़ लेता है तब उसकी राशि घट जाती है।

"The banks' Cash is thus the lever with which the whole gigantic system is manipulated".

संयुक्त-पूँजी या वाणिज्य-बैंकों के कार्य

(Functions of Commercial or Joint Stock Banks)

बैंक से यहाँ मतलब वाणिज्य या सम्मिलित-पूँजी के बैंक से है। इसके प्रधान कार्य निम्नलिखित हैं :

(क) जनता की बचतों को संग्रहीत करना—(To keep the savings of the public)

(ख) जमा को रखना—(To keep deposits)

(ग) उधार देना—(To lend Credit)

(घ) बिलों की कटौती का कार्य करना–(To discount Bills)

(च) नोटों को चलाना—(To issue notes)

(छ) प्रचलित दरों और मुद्रा-राशि का निर्धारण करना—(To determine the rates and the volume of Money)

(ज) मिश्रित कार्य—(Miscellaneous Functions)

(क) जनता की बचतों (Surpluses) को एकत्र करना

बैंक जनता की बचतों को एकत्र करता है। इसके सदस्य अपनी पूँजी उसके साथ जमा करते हैं। व्यावसायिक संस्थाएँ और सार्वजनिक संस्थाएँ भी अपनी-अपनी पूँजी जमा करती हैं। बैंक जमा करके इनको चेक-बही दे देता है और सदस्य चेक काटकर और लोगों को जरूरत पड़ने पर दिया करते हैं।

(ख) जमा को रखना

एक चलती डिपोजीट (Current Deposit) होती है जिसके अनुसार जरूरत पड़ने पर सदस्य चेक काटकर अपना रुपया निकासी करा सकते हैं। इस डिपोजीट पर बैंक आम तौर से कोई सूद नहीं देता। दूसरी स्थिर डिपोजीट (Fixed Deposit) होती है। इसका समय निश्चित रहता है। इसकी निकासी कराने के पूर्व नोटिस देनी

पड़ती है और समय पूरने पर उसे निकाला जा सकता है। इस पर बैंक कुछ सूद देता है। अकसरहा, डिपोजीटों का थोड़ा ही भाग किसी समय निकाला जाता है। इसलिए बैंक को कुछ कैस रखना पड़ता है और एसेटों में प्रवहनशीलता का गुण लाया जाता है। डिपोजीटों की सृष्टि (ग) कार्य से भी होती है।

(ग) उधार देना

यही तो बैंक का प्रधान कार्य है। इसलिए इसमें उसका दायित्व भी बहुत ज्यादा रहता है। पीछे लिखा जा चुका है कि किस प्रकार बैंक मुद्रा की सृष्टि करते हैं। वे अपनी साख, चेक आदि लोगों को देते हैं। लोग बदले में कुछ सूद भी देते हैं। सूद आदि से ही तो बैंक को नफा होता है। अतएव मुनाफा का प्रश्न उधार देने की क्षमता और योग्यता पर निर्भर रहता है। बैंक दूसरों की सम्पत्ति से काम चलाता है। इसलिए उसकी संरक्षता और विकास का ध्यान रखना भी उसे जरूरी है। बैंक लोगों के द्वारा जमा की गई मुद्रा को ही उधार नहीं देते। वे साख के आधार पर धरोहरों अर्थात् डिपोजीटों की सृष्टि करते हैं। डिपोजीटों की सृष्टि उधार लेनेवालों के द्वारा दिए गए एसेटों के आधार पर ही होती है। बैंक एसेटों की सत्यता और उपादेयता विचार लेते हैं। उधार लेनेवाले व्यक्ति को विश्वासी होना चाहिए। बैंक द्वारा दी गई डिपोजीटें इसलिए लेन-देन में चलती हैं, क्योंकि लोगों को बैंक के उत्तरदायित्व में अस्था होती है। (विशेष ज्ञान के लिए 'मुद्रा-सृष्टि' अध्याय को देखिये)। जब चेक लेकर कोई आता है तब बैंक उसके कहने पर उसके नाम पर उतनी रकम जमा कर लेता है अथवा मुद्रा (करेंसी) में उसे रकम चुका देता है। बैंक बिल वालों, उद्योगपतियों, परिवार के मालिकों आदि को उधार देता है। बिल पर बट्टा लेकर, एडवान्स देकर और Overdraft की सुविधा देकर बैंक अपनी डिपोजीटें उधार देता है।

(घ) बिलों से बट्टा लेना

(Discountinig of Bills)

बिलों पर बट्टा लेकर थोड़े समय के लिए उधार दिया जाता है। कोई व्यापारी अपने कर्जदार पर विनिमय-बिल को काट सकता है। कर्जदार या तो स्वयं उसको लेगा या बैंक उसके बदले में लेगा और अपने बैंक को वह उसकी कटौती करने के लिए दे देगा। बैंक व्यापारी को रुपया भेज देगा। कर्जदार अपने बैंक को तीन महीने के बाद बट्टा या कटौती के साथ बिल की कीमत को लौटा देगा। व्यापारी को बिल का मूल्य बैंक कमीशन और सूद की रकम काटकर भेज देता है। इस तरह बैंक से व्यापार में सहायता मिलती है। बैंक को बिल की अवधि समाप्त होने पर रकम भी वापस हो जाती है और समय भी इसमे कम लगता है। बिल बैंक की निधिक (एसेंट) है। बिल की ठोसता साबित करने के लिए लब्ध प्रतिष्ठित व्यापारी या सदस्य जिस का संबंध बैंक से हो और केन्द्रीय बैंक का हस्ताक्षर भी जरूरी होता है।

(च) नोटों को चलाना

बहुत से बैंकों को सरकारी अधिकार पत्र द्वारा नोट चलाने की सुविधा प्राप्त होती है। परन्तु सभी बैंकों के नोट कोशप्रवेश्य नहीं होते। ज्यादेतर केन्द्रीय बैंक को ही नोट चलाने की मोनोपोली या एकाधिकार प्राप्त होता है। नोटों का जन्म बहुत पहले ही हुआ। नोटों की बाढ़ न हो इसलिए देश की सरकार कुछ सोना या चाँदी को कोष में रखना जरूरी कर देती है। इंगलैंड में १० प्रतिशत सोना रखना आवश्यक है। प्रतिशत का हिसाब बैंक की समूची धरोहरों के आधार पर लगाया जाता है। कहना नहीं होगा कि नोटों के प्रचलन से ही किसी देश का मुद्रा-भंडार इतना बड़ा होता है। नोटों और दूसरी डिपोजीटों का शासन करना केन्द्रीय बैंक के हाथ में रहता है।

(छ) प्रचलित दरों (Monetary Rates) का निर्धारण

यद्यपि बैंक-रेट जो केन्द्रीय बैंक के द्वारा शासित होती है किसी देश के मुद्रा-बाजार की गति पर अंकुश रखती है तथापि सम्मिलित पूँजी के बैंकों का हाथ भी नीति-निर्माण में कम नहीं रहता उनका बहुत जनता से संबंध रहता है। केन्द्रीय बैंक के सदस्य सीमित होते हैं। उसकी शरण व्यापारी लोग खास-खास हालतों में लेते हैं, नहीं तो ये ही बैंक उनका समूचा काम करते हैं—उन्हें कर्ज देते हैं, उनके बिल लेते हैं; आदि। केन्द्रीय बैंक का संबंध सरकार से होता है। इसलिये जनता के सच्चे सेवक ये ही बैंक हैं।

(ज) मिश्रित कार्य

ये बैंक अपने सदस्यों की बहुमूल्य चीजों के संरक्षक का काम करते हैं। ये पूँजी पत्र, बोन्ड, सम्पत्ति के कागज-पत्रों में भी व्यापार करते हैं। इनके द्वारा सौदागरों की चीजें विदेशों से आती हैं। सरकार इनके द्वारा टैक्स आदि वसूलती है। इन्हें कितनी कम्पनियों के डिविडेन्ड को शेयर होल्डरों में बाँटना होता है। कम्पनियों को पूँजी देकर सूद लेना होता है। ये शेयर और स्टॉक भी बेचते हैं। वे विदेशी विनिमयों में मध्यस्थ का काम करते हैं। ये विश्वासी लोगों और सदस्यों की जमानतें लेते हैं। ये दातव्य संस्थाओं का समय-समय पर चन्दा दिया करते हैं। इनके द्वारा सदस्यों को कई प्रकार की खबरें मिलती हैं।

अब तक जो वर्णन किया गया है उससे साफ पता चलता है। कि किसी देश के आर्थिक विकास में बैंकों का कितना प्रमुख हाथ है। वे क्रय-शक्ति के निर्माता हैं। वे बैंक नोट, चेक बिल और ड्राफ्ट के द्वारा मुद्रा के भंडार को बढ़ा देते हैं। इससे मूल्यवान धातुओं का व्यय कम होता है। वे मुद्रा की गतिशीलता बढ़ा देते हैं। उनका काम मुद्रा उधार लेना और देना दोनों ही है। उनके द्वारा फंड एक

जगह से दूसरी जगह घूमता रहता है। सभी लोग उससे लाभान्वित होते रहते हैं। इसमें सुगमता होती है और कम खर्च होता है। वे लोगों की बचतों को बढ़ा देते हैं। लोग वाणिज्य-व्यवसाय में रुपया लगाने के लिये प्रोत्साहित होते हैं। इससे देश की उत्पादनशीलता बढ़ जाती है। जिस देश में बैंकिङ्ग का कम विस्तार होता है, वह देश पूर्णतः विकास नहीं कर पाता। बैंक-प्रवहनशील पूँजी के संचयकर्त्ता, सरंक्षक और वितरणकर्त्ता हैं। ऐसी पूँजी किसी देश की वाणिज्य और औद्योगिक जिन्दगी का जीवन-रक्त होती है। उनके सुन्दर संचालन पर ही राष्ट्र की आर्थिक उन्नति टिकी रहती है।

यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि इन सम्मिलित पूँजी के बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक में क्या मोटा-मोटी विभेद है। पहला अन्तर तो यही है कि संयुक्त पूँजी के बैंकों का ध्येय लाभ उठाना है, परन्तु केन्द्रीय बैंक आर्थिक प्रणाली के ऊपर अपने कार्यों का प्रभाव भी देखता है। दूसरा अन्तर यह है कि पहली कोटि का बैंक अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये कुछ समय के लिये लाभ उठाने का विचार छोड़ भी सकता है। फिर भी वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि इसकी दूरदर्शिता और त्याग-भावना अन्य बैंकों की तरह ही होती है। उसे अपने शेयर होल्डरों को प्रतिवर्ष कुछ मुनाफा देना पड़ता है। कितने केन्द्रीय बैंक भी ऐसे हैं जिनको अपने शेयर होल्डरों को कुछ डिविडेन्ड देना पड़ता है, परन्तु बहुत-से केन्द्रीय बैंकों ने अब इस सिद्धान्त से अपना नाता तोड़ लिया है। तीसरा अन्तर यह है कि ज्वाएन्ट स्टॉक बैंक किसी देश में बहुत होते हैं, परन्तु केन्द्रीय बैंक केवल एक ही रहता है। पहले बैंक आम जनता के साथ व्यवहार रखते हैं। केन्द्रीय बैंक आम जनता के साथ कम व्यवहार रखता है। इसका प्रमुख कार्य देश की बैंकिङ्ग प्रणाली का नियंत्रण करना है। ज्वाएन्ट स्टॉक बैंक जनता में विश्वास जमाने के लिये चार उपाय काम में लाते हैं। वे ये हैं—(१) कोष को सरकारी आदेशानुसार रखकर।

(२) अपने हिसाब-किताब का प्रकाशन कर
(३) सामयिक नियमनों द्वारा
(४) उधार की रकमों का इन्तजाम करके

केन्द्रित और विकेन्द्रित बैंक-प्रणालियाँ

(Unit and Branch Banking Systems)

ज्वाएन्ट स्टॉक बैंक के द्वारा इंगलैंड में वाणिज्यवाले बैंक और अमेरिका में इसके द्वारा मेम्बर बैंक का बोध होता है। अमेरिका में कुछ बैंक हैं जो सदस्य बैंक नहीं और वाणिज्यवाले बैंक हैं। बहुत देशों में वाणिज्यवाला बैंक कई शाखाओं वाला बैंक होता है जो देश के कोने-कोने में फैला होता है। इस प्रकार की बैंक प्रणाली को शाखा वाली बैंकिङ्ग प्रणाली कहते हैं। ऐसी प्रणाली इंगलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया और भारत, आदि देशों में प्रचलित है। इंगलैंड में महत पंच बैंक पर्याप्तकाम करते हैं, बाकी काम अन्य छोटे-छोटे बैंकों द्वारा होता है। संयुक्तराष्ट्र में अभी तक यूनिट (इकाई) बैंकिङ्ग की प्रणाली ही प्रचलित है। इसके अनुसार बैंक का काम एक ही ऑफिस के द्वारा होता है। कुछ बैंकों को संकुचित क्षेत्र में शाखा रखने की अनुमति दे दी जाती है। संयुक्तराष्ट्र का केन्द्रीय बैंक बारह बैंकों का एक फेडरेशन है। प्रत्येक बैंक अपने-अपने भूभाग में काम करता है। ये बैंक कोरेसपोन्डेन्ट बैंक प्रणाली द्वारा जुड़े रहते हैं। देहात के बैंक अपना कुछ फंड निकट के शहर के बैंक में रखते हैं। बड़े बैंक अपने कुछ फंडों को बड़े केन्द्रों में भेज देते हैं। इस तरह एक कोने से दूसरे कोने तक कोरेसपोन्डेन्ट प्रणाली द्वारा फंड एक जगह से दूसरी जगह में भेजा जा सकता है। इसके द्वारा यूनिट बैंकों को ब्रैंच बैंकों की-सी सुविधा प्राप्त होती है। यूनिट बैंक की प्रणाली छोटे पैमाने पर और ब्रैंच बैंकिंग बड़े पैमाने पर बनी होती है।

ब्रैंच बैंक प्रणाली को बड़े पैमाने के उत्पादन की कुछ बचतें होती हैं। इसे श्रम-विभाजन की सुविधा प्राप्त है। इसकी प्रत्येक शाखा इकाई बैंक के डीलडौल की होती है। इस प्रणाली के अनुसार रिजर्व रखने में बचत होती है, क्योंकि एक शाखा से जरूरत पड़ने पर दूसरी शाखा में मुद्रा भेजी जा सकती है। अतएव प्रत्येक ऑफिस में थोड़े कैस के रहने पर भी काम चल सकता है, सभी ऑफिस परस्पर सहयोग से कम रिजर्व से ही अपना लेन-देन सम्पन्न कर सकते हैं।

इस प्रणाली से आपत्तियाँ एक ही जगह पर केन्द्रित रहती हैं। मान लीजिये किसी देश में व्यापार-चक्र के कारण कुछ भागों में मन्दी फैल जाती है। इसका नतीजा यह होगा कि उन भागों में बैंक की शाखाओं को घाटा होगा। बैंक की दूसरी शाखाएँ इस मन्दी से बची रहेंगी। यदि मन्दी सारे देश में फैले तब तो सभी शाखाएँ नुकसान उठावेंगी। फिर भी यह समझ लेना चाहिये कि व्यापार-चक्र के कारण ही नुकसान नहीं होता। मन्दी के समय भी बैंक की शाखाएँ उससे बच सकती हैं। मन्दी के देश-भर में फैलने पर भी कुछ भाग में व्यापार का रुख अच्छा रहता है इसलिए वहाँ की शाखाओं के नफा से कुछ हानि को पूरा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, लंकाशायर कॉटन इन्डस्ट्री में अँगरेजी ब्रैंच बैंक घाटा उठा रहे थे, परन्तु उनकी शाखाएँ उद्योग के अधिक उन्नत-भागों में अच्छा रोजगार कररहे थे इसलिए उनका व्यवसाय एकदम नष्ट नहीं हो सका।

इन लाभों से यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रैंच बैंक को किसी बाधा का सामना ही नहीं करना पड़ता है। बात यह है कि एक ही देश में विविध प्रकार के वाणिज्य-नियम, व्यवसाय-रीतियाँ, स्थितियाँ, और भाषाएँ होती हैं जिनका सामना शाखा बैंकों को करना पड़ता है। फिर भी अँगरेजी शाखा बैंकों ने परिस्थति के साथ अपने को मिला देने की कुशलता प्राप्त कर ली है। हेड ऑफिस

प्रधान कार्यालय के दूर होने से शाखा बैंक का मैनेजर किसी आदमी को उधार देने का मन नहीं रहने पर यह बहाना करके टाल सकता है कि वह प्रधान कार्यालय से पूछेगा, तब कुछ करेगा, क्योंकि उसे कर्ज देना मना कर दिया गया है।

यूनिट (इकाई) बैंक को अधिक कैस रखना पड़ता है, क्योंकि उसको दूसरी जगह से कैस मँगाने की सुविधा नहीं रहती। हाँ, कौरस्पोन्डेन्ट बैंक की प्रणाली से इस अभाव की कुछ पूर्ति हो जाती है। इस प्रणाली के द्वारा यूनिट बैंक अपने सदस्य की मदद दूसरी जगहों में कर सकता है। मन्दी के समय में यूनिट बैंक को काफी नुकसान पहुँचता है, क्योंकि वह खास स्थानों में केन्द्रित रहता है। सन् १९२९ की मन्दी में ऐसे कितने बैंक नष्ट हो गये। जहाँ बाजार की स्थितियाँ विशिष्ट स्वभाव की होती हैं वहाँ के लिये यूनिट बैंक ही अच्छा होता है, क्योंकि उसे वहाँ की पूरी जानकारी रहेगी।

इस तरह जान पड़ता है कि शाखा बैंक की प्रणाली ही अधिक अच्छी है। इसलिये बहुत देशों में इसी का प्रचलन है। भारतवर्ष में यूनिट बैंक की प्रणाली की ही विशेषता है।

सम्मिलित पूँजी के बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Joint stock or Commercial Banks)

कहा जाता है कि ज्वाएन्ट-स्टॉक बैंक आज अपना काम कम निपुणता के साथ करते हैं, परन्तु जब उनका राष्ट्रीयकरण होगा तब वे अधिक निपुणता के साथ देश का काम सम्पन्न कर सकेंगे। व्यक्तिगत संस्था होने के कारण ज्वाएन्ट-स्टॉक-बैंक उधार देने वाले फंडों का वितरण और डिपोजीटों का हस्तान्तरण उस निपुणता से नहीं करते जिस निपुणता के साथ सार्वजनिक संस्था होने पर वे कर सकते हैं। आज जितना नुकसान उनके द्वारा समाज को होता है सर्वथा उससे

कम नुकसान उनका राष्ट्रीयकरण हो जाने पर होगा। बैंकों की निपुणता की कमी दो तरहों से बतलाई जा सकती है। एक तरह यह है कि उनको अधिक खर्च बैंकों का संचालन करने में पड़ता है। दूसरे, उन्हें इतना मुनाफा होता है कि उससे समाज की काफी क्षति होती है। जो लोग इस प्रस्ताव की आलोचना करते हैं वे कहते हैं कि ये बैंक संचालन के व्यय को सर्वदा कम करने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें लाभ होता है तथा इसके फलस्वरूप उसकी निपुणता कम नहीं होती।

इनके राष्ट्रीयकरण के संबंध में दूसरा प्रस्ताव समन्वय का है। इसका कथन यह है कि स्वतंत्र वाणिज्य वाले बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा ठीक तरह नहीं नियंत्रित किए जा सकते। कुछ लोग कहते हैं कि यदि केन्द्रीय बैंक के शस्त्र अत्यधिक और समर्थ हों, और यदि उन्हें हम बढ़ा सकें तो राष्ट्रीयकरण की कोई जरूरत नहीं है। फिर भी यदि केन्द्रीय बैंक को हम सर्वसाधारण की संस्था बनाने का प्रयत्न करते हैं तो बरबस हमें ज्वाएन्ट स्टॉक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना ही होगा। तीसरा प्रस्ताव यह है कि मुद्रा की सृष्टि करने का अधिकार राज्य को ही है और चूँकि आजकल के जमाने में ये बैंक मुद्रा की सृष्टि कर रहे हैं, इसलिए उनका यह अधिकार छीन लेना चाहिए और मुद्रा की सृष्टि से जो नफा हो उसे राज-कोष में जाना चाहिए। यह तो विवादहीन है कि बैंक की डिपोजीटें मुद्रा का काम करती हैं और डिपोजीटों की सृष्टि की क्षमता बैंकों में है।

यदि हम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आरंभ कर देते हैं तो बैंकों के पृथक रहने से इस कार्य में बाधा हो सकती है। समाजवाद लाने के लिए इनका भी राष्ट्रीयकरण नितान्त आवश्यक है। इस बात को मानना या न मानना व्यक्ति के राजनैतिक विचार पर निर्भर करता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए हमें आम जनता की प्रक्रिया का भी ख्याल करना होगा। यदि बैंकों के अधिपति इसका अनुमोदन

करते हैं तो कोई रुकावट नहीं हो सकती है। यदि केवल वे ही लोग जिनका बैंक के स्वरूप में कोई हाथ नहीं इस योजना को अपनाते हैं तो संघर्ष का होना आवश्यमभावी है। हो सकता है कि कुछ लोग बैंक की डिपोजीटों को विदेशों में बेच दें। इसलिए कि वे ऐसा न करें, प्रतिरोध की जरूरत पड़ेगी। प्रो० शेयर्स के यही तर्क हैं।

इंगलैंड में बैंकों का संगठन बहुत दिनों से जारी है। इसीसे वहाँ के इन बैंकों की संख्या अब केवल १३ ही है। फिर भी कुछ बैंक आपस में प्रतियोगिता भी करते हैं। कोल कहते हैं, "यह होने पर भी वे एक साथ काम करते हैं, और एकमत का अनुसरण करते हैं। सभी लगभग एक ही डिविडेन्ड देते हैं। बैंक ऑफ इंगलैंड के शासन में रहकर ये साख के भंडार और वितरण का शासन करते हैं। इसलिए हो सकता है, ये पूर्ण रोजी (Full Employment) की अवस्था की सृष्टि और संरक्षण नहीं कर सकें जो समाजवादियों का विचार है।" इसलिए यदि इनका राष्ट्रीयकरण हो जाय तो बुरा नहीं होगा। इस नीति की आलोचना में कहा जाता है कि लोगों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का पता सरकार को लग जायगा। इसलिए वे लोग इसका विरोध करेंगे। उधार देना सरकार की नीति पर निर्भर करेगा। बैंकिङ्ग प्रणाली में अभी जो सुरक्षा की भावना है वह मिट जायगी। कहना नहीं होगा कि तीनों दलीलें लचर हैं। टैक्सों से बचे रहना मुश्किल है। सरकार कोई भी नीति अधिकृत करे वह अधिकाधिक जनता की भलाई का ध्यान रखेगी। सुरक्षा की भावना खत्म नहीं हो सकती है। राष्ट्रीय संस्था होने पर बैंकों की निपुणता और भी बढ़ जाएगी।

जे० ई० मीड ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण को तीन कारणों से जरूरी माना है। (१) एक ऑफिस कई ऑफिसों से अच्छा होता है। इसमें खर्च कम लगता है। थोड़े ही लोगों से काम निकाला जा सकता है। इस विचार की महत्ता स्वीकार कर, यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाय

तो बैंकों की डिपोजीटें सरकार की अपनी डिपोजीटें हो जाएँगी और करेन्सी और इसमें का भेद जाता रहेगा।

(२) इन बैंकों को अत्यधिक लाभ होता है। इसे आत्मसात् करने के लिये राज्य को इनका राष्ट्रीयकरण करना जरूरी है। ऐसा होने पर केन्द्रीय बैंक इन बैंकों के कैस रिजर्व को घटाने-बढ़ाने की नीति काम में नहीं ला सकेगा। पूँजीपत्रों सेक्यूरिटी की खरीद-बिक्री एक राष्ट्रीय बैंक का काम होगा।

(३) बेकारी की समस्या को दूर करने के लिये और औद्योगिक विशदीकरण के लिये इन बैंकों का राष्ट्रीयकरण बहुत जरूरी है। इसके पूरा हो जाने पर एक ही राष्ट्रीय बैंक सूद की दर के द्वारा बेकारी को दूर कर सकेगा और उद्योगों का विकास कर सकेगा। सरकारी बजट में से इन समस्याओं पर खर्च करने के लिये कम रुपयों की जरूरत होगी।

संयुक्त पूँजी बैंकों अर्थात् वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण के ऊपर हम अभी लिख आये हैं। लेकिन कुछ और ऐसी बातें हैं जिसका भी यहाँ प्रासंगिक उल्लेख करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। सच पूछिये तो ऐसे बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न काफी दिलचस्प भी है और काफी पकड़ से भागने वाला (Elusive) भी है। ऐसा संभव है कि इस प्रश्न पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करने के बदले हम अपने-अपने राजनीतिक दृष्टिकोण से विचार करने लगें। फिर यह प्रश्न बहुत-कुछ आदर्शवादी (Normative) मसला है, यथार्थवादिता (Positivism) की गुंजाइश उसमें खुद-ब-खुद कम है।

अधिकांश देशों में वाणिज्य-बैंक विशुद्धतया वैयक्तिक संस्थाएँ हैं। इङ्गलैंड में १९४६ तक वहाँ के वाणिज्य-बैंकों के ऊपर कोई भी राजकीय नियंत्रण नहीं था। हाँ, युद्धकाल में सरकार को बरबस कुछ अंकुश रखना पड़ता था। लेकिन जभी शान्ति स्थापित होती

वह अंकुश वापस हटा लिया जाता था। इन बैंकों का शासन-कार्य संचालकों के बोर्ड द्वारा चलता है। ये संचालक शेयर-होल्डरों द्वारा निर्वाचित होते हैं। ये बैंक मुनाफा कमाते, डिविडेन्ड की सामयिक घोषणा किया करते हैं। फिर भी ऊपरी लक्षणों के बावजूद भी ये बैंक अन्य साधारण कम्पनियों से भिन्न रहे हैं। वे केवल मुनाफा कमाने के पीछे ही पड़े नहीं रहे हैं। वे विचारशून्य संस्थाएँ नहीं। वे जो डिविडेन्ड अपने शेयरवालों को देते रहे हैं, उनकी दर अपेक्षाकृत स्थिर रही है। यह स्थिरता बैंक ऑफ इंगलैंड की डिविडेन्ड-दर की स्थिरता से बहुत असदृश नहीं कही जा सकती। उन्हें कभी नुकसान भी नहीं हुआ, बराबर सुस्थिर लाभ होता रहा। इसका सुन्दर फल यह हुआ कि वे मुनाफा के पीछे बेचैन नहीं हुए। इन्होंने अपने डिविडेन्ड को गारन्टी दी, उसे बेहद बढ़ाने का प्रयास कदापि नहीं किया।

इंगलैंड में केन्द्रीय बैंक तो एक ही है—बैंक-आफ इंगलैंड। लेकिन संयुक्त-पूँजी के बैंक एक दर्जन से अधिक हैं। उनके अतिरिक्त स्काटलैंड और आयरलैंड में भी ऐसे बैंक हैं। इन बैंकों में सर्वप्रधान "पाँच बड़े" (Big Five) बैंक हैं—Midland, Lloyds, Barclays, Westminster और National Provincial। ये पाँचों छोटे-मोटे बैंकों के समन्वित होने से पैदा हुये हैं। यह ठीक है कि कुछ सीमा तक ये बैंक रोजगार (Custom) के लिये आपस में होड़ लेते हैं, प्रतियोगिता करते हैं और अपने सौदागरों अर्थात् सदस्यों को विभिन्न सुविधाएँ देते हैं। फिर भी वे बहुत मिल-जुलकर काम करते हैं और एक उभयष्टि, समान नीति को अमल में लाते हैं।

हम पीछे राष्ट्रीयकरण के पक्ष में उन तर्कों का जिक्र कर आये हैं जो प्रो० कोल और प्रो० शेयर्स द्वारा दिये हैं। उनके अलावे जो कुछ तर्क हैं उनका वर्णन क्रमशः हम आगे कर रहे हैं। एक तर्क यह दिया जाता है कि डाक घर में जो Saving Department रहता है

उसमें लोग काफी जमा भी करते हैं। यह डाकघर सरकारी महकमा है और उसकी विफलता भी कभी नहीं हुई है। अतएव यदि वाणिज्य बैंक भी सरकारी हो जायँ तो उनकी जो इतनी विफलता हो रही है, वह रुक जाय। दूसरा तर्क यह है कि यदि सरकार उद्योग-धंधों का उत्थान करना चाहती है तो उसे पहले वाणिज्य-बैंकों का समाजीकरण कर लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर यह बहुत-कुछ संभव है कि ये बैंक सरकार (केन्द्रीय या राजकीय) की औद्योगिक नीति को शुरू में कुचल डालें। फिर, अब की सरकारें योजनाकरण (Planning) और सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ अपना रही है और इसके लिये काफी पूँजी की जरूरत है। इन बैंकों के सरकार के कब्जे में आ जाने पर काफी साख सरकार के हाथों में आ जाएगी और जो मुनाफा इन बैंकों को अभी होता है वह सरकार को मिलने लगेगा। बहुत-से व्यक्ति धन गाड़कर (Hoarding) रखते हैं। सरकार को उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहिये, क्योंकि यह धन की बर्बादी है या कह सकते हैं कि अपव्यय या दुरुपयोग है। धन को उद्योग-धंधों में लगाना लाभदायी होता है। इससे समाज की आमदनी बढ़ती है। एक अन्य तर्क अमेरिका का अनुभव है। जब तक फेडरल रिजर्व सिस्टम नहीं कायम हुआ था और बैंक बहुतेरे थे और तितर-बितर थे तब तक अमेरिका में मुद्रा की भ्रमण-गति कम की और वहाँ के मुद्रागत साधनों से पूरा फायदा नहीं होता था। फेडरल रिजर्व सिस्टम कायम होने के बाद मुद्रा की गति बढ़ गई और कैस (नकद मुद्रा) का किफायतशारी के साथ उपयोग होने लगा। इस तरह का लाभ इन वाणिज्य-बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने के उपरान्त उपलब्ध होगा। जो लोग मुद्रा के परिमाण-सिद्धांत (Money Cranks) के अनुयायी हैं उनका कथन है कि बैंक के चेक और साख-पत्र किसी देश की आर्थिक बनावट पर यथेष्ट प्रभाव डालते हैं और इसके फलस्वरूप आर्थिक कार्यों में कभी-कभी गत्यावरोध भी उद्भूत हो जाता है। यदि यह विश्वासास्पद बात है

तो कोई भी उत्तरदायी सरकार बैंकों को इतनी स्वतंत्रता नहीं दे सकती है। उसे उनपर नियंत्रण रखना ही होगा।

खासकर भारत-जैसे देशों में जहाँ अनेकों बैंक फेल हो जाते हैं वहाँ तो लोगों की उगलियाँ जल जाती हैं—वे अच्छे बैंक में भी रुपया जमा करने से भय खाते हैं। ऐसी दशा में बैंकों को कुकुरमुत्ता की तरह पनपने और तुरन्त नष्ट हो जाने (Much room growth and decay) से रोकने को एक अचूक औषध यह है कि सरकार उनको एक में मिला दे और उनके ऊपर अपनी कड़ी निगाह रखे। "The faults of the present banking system are over-caution and excessive margins to cover costs and risks" (कोल)।

पूर्ण रोजी की प्राप्ति के लिये, व्यापार-चक्रों की बाढ़ को रोकने के लिये, देश की सुचारू औद्योगिक प्रगति, मुद्रा-प्रसार (Inflation) और मुद्रा-संकोच (Deflation) को रोकने के निमित्त, संयुक्त - पूँजी के बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। राज्य सार्वभौम संस्था है। अगर वाणिज्य बैंक इतने बेसमझ हैं कि वे राष्ट्रीयकरण के मसले पर सरकार से झगड़ा मोल लें तो उसका नतीजा यह होगा कि सरकार-समाजवादी प्रवृत्ति वाली आधुनिक सरकार तुरन्त उनके राष्ट्रीयकरण करने के बिल को पास कराकर उनके मुँह पर जाली लगा दे।

संयुक्त पूँजी के बैंकों के समाजीकरण की समस्या केन्द्रीय बैंक के समाजीकरण की समस्या से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण उपयोगार्थ उपलब्ध साख की सम्पूर्ण राशि का (और उसके माध्यम से मूल्यों के स्तर को) प्रभावित करता है वहाँ इन बैंकों के आचरण उन जरियों को प्रभावित करता है जिनके द्वारा साख की उपलब्ध पूर्ति विभिन्न दावेदारों (Claimants) में विभक्त होती है। केन्द्रीय बैंक अपने साख-नियंत्रण के उपायों द्वारा समाज के लिए खास रकम की साख को सुलभ बनाता है, प्रदान

करता है, लेकिन ये बैंक तो उपलब्ध साख की समूची रकम को ही समाज के उपयोग में खपाते है, प्रवृत्त करते हैं। यदि वे समूची साख को खपा नहीं दें तो उनके पास इतने ऐसेट जमा हो जायँगे जिनपर उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। इस नीति को अख्तियार कर ये बैंक किसी उद्योग को प्रोत्साहित कर सकते हैं, किसी उद्योग को हतोत्साहित। इस तरह यह जाहिर है कि अगर उद्योगों की प्रगति को अक्षुण रखना है तो इन बैंकों के ऊपर कड़ा नियंत्रण रखना अनिवार्य ही है।

संयुक्त पूँजी के बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति के प्रतिकूल जो तर्क दिये जाते हैं उनमें अधिकांश के ऊपर हम पीछे लिख चुके हैं। यहाँ अवशिष्ट तर्कों पर थोड़ा प्रकाश डालना है। यह कहा जाता है कि दलीय सरकार बैंकों के सार्वजनिक संस्था हो जाने पर उद्योग-उद्योग के बीच पक्षपात करेगी और अपनी दल-नीति को मानने वाले उद्योगों को आर्थिक सहायता देगी और उन उद्योगों को जिनकी प्रवृत्ति उसकी नीति से पृथक है कोई सहायता नहीं मिल सकेगी। इस तरह के अनुचित पक्षपात से समाज में असंतोष बढ़ सकता है और उद्योगों का सुगठित अभ्युदय नहीं हो सकता है। फिर, यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर छोटे उत्पादकों और फर्मों को सरकारी मदद नहीं मिल सकेगी। केवल बड़े उत्पादकों और फर्मों को मदद मिलेगी। फिर, यह तर्क पेश किया जाता है कि इस तरह की नीति अपनाने से बैंकरों की एक स्वतंत्र जाति का खात्मा हो जायगा। यह सर्व स्वीकृत बात है कि ये बैंकर बहुत सुन्दर परामर्श देनेवाले और समाज सेवा करने वाले व्यक्ति हैं। कुछ लोग बतलाते हैं कि इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण होने के पहले नागरिकों में समाजवादी जोश और सुदृढ़ ईमानदारी का परिपाक चाहिये और शासन करने की उनकी योग्यता खूब विकसित होनी चाहिये। तभी राष्ट्रीयकरण जायज होगा। अन्यथा सिविल सेवकों के हाथों में उनका शासन-सूत्र आ जाने से मिथ्या सुरक्षा (False Security) की भावना

बढ़ेगी जिससे कर्त्तव्यपरायणता की भावना घट जायगी। ऐसे व्यक्तियों की कार्यावधि निश्चित रहती है और वे गलतियों के लिए परवाह नहीं करते। अधिकतर वे अपनी गलतियों पर पर्दा डाल देते हैं। "Nationalisation of the commercial banks is good but it may become an engine of oppression if done at an inoppertune time." (Modern Review. Calcutta)

इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध जो वितर्क दिये जाते हैं वे ऐसी अवस्थाओं को अभिव्यक्त करते हैं जिन्हें दूर किया जा सकता है। सरकार के बोझ को अच्छी तरह से विभाजित करके, कर से बचने के लिए जो छल कपट किया जाता है उसको रोक सकती है। फिर, लोगों को इस बात से डरना ठीक नहीं कि उनके द्वारा जमा किए कोष का क्या होगा। आखिर सरकार दीर्घकालिन संस्था है और उसकी प्रतिष्ठा और साख ही संग्रहकर्त्ताओं के दिल में अटल विश्वास उत्पन्न कर सकती है। फिर, सरकार की आँखों से अपनी बचतों को बचा रखने की कोशिश में इसी बात से सफलता नहीं मिल सकती कि राष्ट्रीयकरणकृत बैंकों में लोग अपनी बचतों को जमा न करें, सरकार अपने गुप्तचरों द्वारा पता लगा ले सकती है। इतना ही नहीं, वह आशंका भी भ्रामक है कि छोटे उत्पादकों को सरकारी मदद नहीं मिलेगी, क्योंकि सरकार को तो छोटे-बड़े सभी उत्पादकों और फर्मों को पूर्ण रोजी देनी है और इसलिए यह उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह छोटे लोगों की भी यथासंभव मदद करे। उद्योग-उद्योग के बीच भी पक्षपात करना बुरा नहीं, यदि उससे समाज की आर्थिक भलाई होने को है। आज हम देखते हैं कि ऐसे बहुत से उद्योग अनावश्यक रूप से खुल गए हैं जो आराम और विलास की सामग्रियों की भरमार कर देते हैं और दूसरी ओर जीवन की जरूरीयात और अर्द्ध जरूरियात चीजों का उत्पादन करने वाले उद्योग लड़खड़ा रहे हैं। ऐसी हालत में सरकार को पहली

कोटि के उद्योगों की अपेक्षा दूसरी कोटि के उद्योगों को अधिक मदद देनी ही होगी। उसी में समाज की भलाई है।

जब संयुक्त पूँजी के बैंकों का समाजीकरण होगा तो उसकी रूप रेखा कैसी होगी, यह संदिग्ध है। यह भविष्य की वस्तु है। फिर भी हम प्रो० माथुर ("Introduction to money, Exchange and Banking") की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ- संवरण नहीं कर सकते :—

"There is a certain amount of speculation regarding the shape of the deposit banks after socialisation. Some expect a complete amalgamation of the existing institutions under unified control. This is, however, improbable because such an organisation would be too unwieldy to admit of proper management. In the long run what would probably happen would be that all the existing separate banks would disappear and their places would be taken over by a number of closely selected banking in stitytions which would specialise in particular tppes of finance"

बैंक के भेद

(Kinds of Banks)

बैंक के छव भेद हैं :—वाणिज्य, औद्योगिक, कृषि, विनिमय, सेविङ्ग और केन्द्रीय।

वाणिज्य बंक व्यापार में भाग लेते हैं। इनके बारे में पीछे लिखा जा चुका है। औद्योगिक बैंक उद्योग-धंधों को रुपया-पैसा

देकर उन्हें उन्नत करते हैं। कृषि-बैंक थोड़े और बहुत दिनों के लिये कृषि के लिये उधार देते हैं। दीर्घकालीन कर्ज की जरूरत जमीन को खरीदने और उसका विकास करने के लिये होती है। अल्पकालीन कर्ज, बीज, खाद, मजदूरी, आदि खरीदने के लिये होती है। विनिमय बैंकों का काम विदेशी करेन्सियों से संबंधित कागजों को खरीदना और बेचना है। ऐसे कागज विनिमय-बिल, ड्राफ्ट और तार-सम्बन्धी हस्तान्तरण हैं। सेविंग बैंक द्वारा कम बचतों वाले लोगों को उन्हें जमा करने की सुविधा दी जाती है। केन्द्रीय बैंक सभी बैंकों के ऊपर होता है। यह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे बैंकों के कार्यों पर अंकुश रखता है। इस तरह छव बैंक अलग-अलग काम में भाग लेते हैं। कुछ बैंक एक ही प्रकार का काम नहीं करके दो-चारप्रकार के कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इस तरह दो-तीन कार्यों का सामंजस्य भी हो जाता है।

शोधन गृह या किलीयरिङ्ग हाउस
(Clearing House)

यह बैंकों की एक सामान्य संस्था है जहाँ बैंकों का आपसी लेन-देन दुरुस्त होता है। इसमें चेक जमा होते हैं। किसी बैंक के पास दूसरे बैंकों पर काटे चेक आते हैं और वह बैंक उसको किलीयरिङ्ग हाउस में भेज देता है। वहाँ इसका हिसाब-किताब होता है। मान लीजिये भारत बैंक के पास बिहार बैंक पर काटे चेक आते हैं और बिहार बैंक के पास भी भारत बैंक पर काटे चेक आते हैं। दोनों किलीयरिङ्ग हाउस में अपने-अपने चेक भेज देते हैं। मान लीजिये भारत बैंक को बिहार बैंक से ४००० रु० लेना है और बिहार बैंक को भारत बैंक से ३००० रु०। किलीयरिङ्ग हाउस में काट-छाँटकर भारत बैंक को बिहार बैंक से १००० रु० प्राप्त होगा। इस हाउस के द्वारा आसानी से बैंक आपसी हिसाब-किताब ठीक कर लेते हैं।

द्वादश अध्याय

केन्द्रीय बैंक

(Central Banking)

केन्द्रीय बैंक सभी बैंकों का शिरोमणि है। यह अपने देश की आर्थिक स्थिरता के लिए उत्तरदायी होता है। इसका काम देश की सम्पत्ति का संचालन करना तथा सभी रिजर्वों को रखना है। उसके ऊपर ही क्रय-शक्ति की कमी-बेशी अवलम्बित है। उसके संकेतों पर दूसरे बैंक मुद्रा-निर्माण की नीति बदलते रहते हैं। सरकार का अपना बैंक केन्द्रीय बैंक ही होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद से केन्द्रीय बैंकों का आविर्भाव और विकास बड़े वेग से हुआ है। उनकी मर्यादा और स्वत्व बढ़ गया है। धीरे-धीरे आर्थिक जीवन परावलम्बी हो गया है। कीमतों की अनियंत्रित उथल-पुथल से जो समाजिक अव्यवस्था जनमती है उसको दूर करने के लिए केन्द्रीय बैंक का अस्तित्व बहुत ही जरूरी है। देश की सरकार करेंसी का नियंत्रण और प्रबन्ध बहुत ही आवश्यक समझने लगी है। युद्धोत्तर करेंसी संबंधी गड़बड़ी और विनिमय की दरों का अनावश्यक परिवर्तन जन कल्याण के विरुद्ध रहा है। व्यापारिक सस्ती और महँगी को दूर करना, योजना करना, विभिन्न संस्थाओं की देख-भाल—ये सब कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा पूरी निपुणता के साथ सम्पन्न हो सकते हैं। इन्हीं बातों का अनुभव करके कितने देशों ने केन्द्रीय बैंकों की स्थापना शुरू कर दी। बैंक ऑफ इङ्गलैंड सन् १८६४ में ही कायम हुआ था। महायुद्ध के पहले ही यूरोप के बड़े-बड़े देशों ने केन्द्रीय बैंक स्थापित कर लिये थे। सन् १९१४ में संयुक्त राष्ट्र में "फेडलर रिजर्व सिस्टेम" कायम हुआ। केन्द्रीय बैंक को ईमानदार समझा गया

है। यह आशा की गई है कि उसके द्वारा देश अपने उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं। सन् १६२० ई० में ब्रुसेल्स में एक कान्फरेंस हुआ था। उसमें यह तय किया गया कि सभी औद्योगिक देशों में एक-एक केन्द्रीय बैंक का होना बहुत जरूरी है। अब तो शायद सभी देशों में केन्द्रीय बैंक है। भारतवर्ष में भी सन् १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई जो भारतीय केन्द्रीय बैंक है। पीछे केन्द्रीय बैंक और ज्वाएन्ट स्टॉक बैंकों के उद्देश्यों के बीच जो विभेद हैं उन्हें प्रदर्शित किया जा चुका है। केन्द्रीय बैंक का प्रधान सिद्धान्त जनता के हित का ध्यान रखना, देश की भलाई का प्रबन्ध करना और मुनाफा उठाने का कोई ख्याल नहीं करना है। देश की शासक-मंडली की छत्र छाया में इसे अपना काम करना पड़ता है। इसे उद्योग-धंधों में व्यापार करने की मनाही होती है। ज्वाएन्ट-स्टॉक-बैंक केन्द्रीय बैंक के साथ कुछ कैस जमा कर रखते हैं। केन्द्रीय बैंक द्वारा चलाए नोट कैस के बराबर समझे जाते हैं और दूसरे-दूसरे बैंक अपने कोष में उन्हें रखते हैं, क्योंकि लोगों के द्वारा माँग होने पर वे उन्हें दे सकते हैं। केन्द्रीय बैंकों के विधान प्रत्येक देश के लिए भिन्न होते हैं। सभी देश अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विधान बनाया करते हैं। नीचे हम बैंक ऑफ इंगलैंड, संयुक्तराष्ट्र की फेडरल रिजर्व प्रणाली और भारत के केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया का अलग-अलग वर्णन दे रहे हैं।

ब्रिटेन की बैंक-प्रणाली

(Banking System of Great Britain)

ब्रिटेन की बैंक वाली प्रणाली का शिखर बैंक ऑफ इंगलैंड है। इसकी स्थापना पार्लियामेंट के कानून द्वारा सन् १६६४ में ही हुई। सन् १६६६ में इसे नोट चलाने की आज्ञा दूसरे कानून द्वारा मिली। लंदन नगर से ६५ मील इर्द-गिर्द में नोट चलाने की आज्ञा केवल इसी को मिली। इंगलैंड के किसी दूसरे बैंक को ६ आदमियों के अलावे किसी दूसरे को नोट देने का निषेध हुआ। इस बैंक का

का शासन-भार शेयर होल्डरों में से चुने गए डाइरेक्टरों की एक मंडली को सौंप दिया गया। गवर्नर और डिप्टी गवर्नर बैंक के प्रमुख कार्यकर्त्ता हुए। सन् १७६७ में एक बड़ा संकट उठ खड़ा हुआ। इसके कारण बैंक ने सन् १८२१ तक नोट के बदले कैस देना स्थगित कर दिया। इस २५ वर्ष की अवधि को (Bank Restriction) की अवधि कहते हैं। इस अवधि में इंगलैंड में अपरिवर्तन-शील पत्र-मुद्रा की प्रणाली रही। सन् १८३३ के कानून से इस बैंक के नोट कोष-प्रवेश्य हो गए। ज्वाएन्ट स्टॉक बैंकों की स्थापना सन् १८२८ में कानूनी कर दी गई। वे बैंक ऑफ इंगलैंड की चौहद्दी, जो ठीक कर दी गई थी के बाहर नोट चला सकते थे। इसके बाद बैंक के व्यवसाय ने काफी उन्नति की। बहुत से बैंक कायम हुए। इसके बाद कुछ बैंकों का पतन भी शुरू हुआ। सन् १८३६ से सन् १८४३ के बीच २६ बैंक असफल हुए। इसके कारण सन् १८४० में "बैंक ऐक्ट" पास हुआ। इस कानून के अनुसार बैंक ऑफ इंगलैंड को दो विभागों में बाँट दिया गया। वे इशू विभाग और बैंकिङ्ग विभाग थे। इस बैंक का "साखाश्रित" (फाइडूशियरी) नोट चलन १४० लाख पौंड रखा गया। इसके अलावे एक भी नोट बिना सिक्का या धातु के नहीं चलाया जा सकता। ज्वाएन्ट स्टॉक बैंकों का नोट चलाना एकदम सीमित कर दिया गया। ३ पौं १७ शि० ६ पें के नोट बदले एक औंस सोना मिलने लगा। बैंक के नोट स्वतंत्र रूप से परिवर्तनशील हो गए। यदि किसी बैंक का नोट—प्रचलन फेल हो जाता तो उसका ⅔ हिस्सा बैंक ऑफ इंगलैंड के साखाश्रित परिमाण में जोड़ दिया जाता। प्रथम महायुद्ध के संकट के समय सरकारी खजाना १ पौंड और १० शिलिंग के बराबर के करेंसी नोट चलाने लगा। ऐसे नोटों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। सन् १८४४ में जो बैंक ऐक्ट पास हुआ था उसको सन् १६१४ में हटा दिया गया। उसके बाद सन् १६२८ में करेंसी ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार बैंक का साखाश्रित नोट चलाना (Fiduciary

Issue) २६ लाख पौंड तक निश्चित कर दिया गया। सरकारी खजाना १ पौंड और १० शि० के जो नोट चलाता था उसे बैंक के जिम्मे कर दिया गया। खजाने की राय से बैंक निश्चित रकम को बढ़ा-घटा सकता था। ८ मई, १९४६ के दिन फाइडूशियरी इशू १४००० लाख पौंड थी। सरकारी बैंक के अलावे यह बैंक दूसरे बैंकों का भी बैंक है। सभी बैंक इसके साथ अपनी-अपनी रकम रखते हैं। इस बैंक को विशिष्ट सुविधा देश के धातवीय रिजर्व का नियंत्रण करना है। इसे दूसरे बैंको के साथ किसी किस्म का व्यवसाय नहीं करना पड़ता है। यह अपनी धरोहरों पर कोई सूद नहीं देता। यह सभी बैंको का किलीयरीङ्ग हाउस है। इसकी बैंक की शाखाएँ आज गिनती में ९ हैं। व्यक्तिगत सौदागरों के साथ इसका नाता इतना ही है कि वे उनकी मुद्रा डिपोजीटों पर लेता है और उनके पूरा परिचय होने पर खाता खोलता है। यह बिलों की कटौती भी करता है। विश्वस्त पूँजीपत्रों पर यह एडवांस भी देता है। सन् १९१४ के पहले बैंक को नोट के बदले सोना देने का हुकुम था, परन्तु उसके बाद से यह हुकुम हट गया। सन् १९२५ से गोल्ड स्टैन्डर्ड के हटने पर विदेशों में भेजने के लिए बैंक से सोना मिल सकता है। परन्तु स्फीति नहीं। सन् १९३१ से यह भी आदेश हटा लिया गया। बैंक पास सोना का कोष नहीं। जो था भी वह ब्रिटिश खजाने के मातहद "एक्सचेन्ज इनवेलाइजेशन" को हस्तान्तरित कर दिया गया। यह बैंक अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह काम करता है। सन् १९४७ से इसका राष्ट्रीयकरण भी हो चुका है।

संयुक्त राष्ट्रीय फेडरल रिजर्व प्रणाली

(Federal Reserve System of United States of America)

सन् १९१३ ई० में फेडरल रिजर्व कानून पास हुआ। इसके पहले संयुक्तराष्ट्र में विकेन्द्रित बैंकों वाली प्रणाली लागू थी। नोटों को

चलाने का हक सरकार और बैंकों को था। बैंक नोट चलाने के लिये सरकारी बोन्ड खरीद लेते थे और उसे संयुक्तराष्ट्र के खजाने के साथ जमानत के रूप में जमा कर देते थे। इस तरह नोट चलाने वाली प्रणाली निरापद थी, परंतु उसमें लोच नहीं थी। फिर भी डिपोजिटों और चेकों का काफी प्रचलन था। बैंकों की सुविधाएँ सभी को प्राप्त थीं। जरूरत इस बात की थी कि एक ऐसे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय जो दूसरे बैंकों का नियंत्रण कर सके। उसके द्वारा ही न्यूयार्क बाजार के सट्टा-संबंधी प्रमापों को रोका जा सकता था। सन् १९०७-१९०८ के बीच देश में बड़ा संकट उपस्थित हुआ। इन सभी स्थितियों को देखकर सन् १९१३ में फेडरल रिजर्व ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट के आधार पर संयुक्तराष्ट्र को १२ जिलों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक जिला में एक रिजर्व बैंक है। यही रिजर्व बैंक जिला भर के बैंकों का बैंक है। जिला भर के बैंक इसके सदस्य होते हैं और उनकी पूँजी से इस बैंक का निर्माण होता है। प्रत्येक सदस्य बैंक अपनी गृहीत पूँजी (Paid up Capital) रिजर्व का और ६ प्रतिशत जमा करता है। लोगों को इस बैंक का शेयर नहीं दिया जाता। इस शेयर के अलावे प्रत्येक सदस्य बैंक को अपने कालागत ऋण की ३ प्रतिशत और माँग गत (demand) ऋण की ११ प्रतिशत पूँजी रिजर्व बैंक के साथ रखनी पड़ती है। इस प्रकार रिजर्व बैंक मेम्बर बैंक के पत्रों का समयानुसार कटौती कर सकता है।

इस कानून के अनुसार फेडरल रिजर्व बकों को दो प्रकार के नोटों को चलाने की अनुमति दी गई है—फेडरल रिजर्व बैंक नोट और फेडरल रिजर्व नोट, पहले प्रकार के नोट सरकारी पूँजीपत्र के आधार पर चलाये जाते हैं और ये पूँजी पत्र राजकोष के साथ जमा कर दिए जाते हैं। फेडरल रिजर्व बैंक फेडरल रिजर्व नोट चलाने के लिए कम से कम ४४ प्रतिशत रिजर्व स्वर्ण सार्टिफिकेटों में रखता है। इससे कम रिजर्व रखने के लिए फेडरल रिजर्व बोर्ड की मंजूरी

लेनी पड़ती है। इसके अलावे कमी होने पर एक टैक्स भी देना पड़ता है।

सन् १६१३ ई० के कानून में कुछ और नियम १६३५ के बैंकिङ्ग ऐक्ट द्वारा जोड़ दिये गये हैं। अब गवर्नरों का एक बोर्ड कायम हुआ है। उसके ६ सदस्य होते हैं। वे सभापति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। सभापति सिनेट भवन की सलाह ले लेते हैं। ये सदस्य चार वर्ष तक ऑफिस में रहते हैं। बोर्ड समूची प्रणाली पर नियंत्रण और निरीक्षण करता है। यह रिजर्व बैंक और सदस्य बैंक के ही खाते की जाँच करता है। बैंक अपना रिजर्व बिना इसकी अनुमति के नहीं कर सकते। बैंक ऑफ इंगलेंड की तरह यह भी मुद्रा-बाजार का शासन करता है। यह रिजर्व बैंकों की कटौती वाली दर का शासन करता है। यह रिजर्वों के अनुपात को भी अदल-बदल सकता है।

इस प्रकार की प्रणाली की कुछ खासियतें हैं। रिजर्वों को निश्चित कर देने से प्रणाली में ठोसता आ गई है। इससे आर्थिक अवस्था सबल हो गई है। फेडरल रिजर्व बैंकों और रिजर्व बैंकों को भी रिजर्वों का रखना अत्यावश्यक है। रिजर्व के द्वारा आपत्तियों के समय रक्षा भी की जा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर रिजर्वों को कम करने और नोटों की संख्या बढ़ा देने की भी सुविधा दी गई है। बोर्ड की राय से ऐसा किया जा सकता है। इस तरह साख को नियमित ढर्रे पर चलाया जा सकता है। इस प्रकार की प्रणाली से नोट-इशू की प्रणाली-काफी निरापद और लोचपूर्ण हो गई है। इस प्रणाली के द्वारा नोट-इशू की शक्ति को केन्द्रित करने का विचार किया गया जिसके द्वारा राष्ट्रीय बैंकों से यह एक रिजर्व बैंकों के हाथ में चला जायगा। इस प्रणाली के द्वारा मेम्बर बैंको को सीधे बिलों की कटौती के द्वारा फेडरल रिजर्व सिस्टम से ऋण लेने की सुविधा मिली है। इससे उनके एसेट बहुत ही प्रवहनमान हो गये हैं। इससे व्यापार और उद्योग में वे पूरी मदद दे सकते हैं।

रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया

(Reserve Bank of India)

भारतवर्ष में केन्द्रीय बैंक की जरूरत बहुत शुरू से ही अनुभूत की गई थी। इस जरूरत को पूरा करने के लिए इम्पेरियल बैंक की स्थापना हुई, परन्तु वह प्रभावपूर्ण नहीं साबित हो सका। केन्द्रीय बैंक को कायम करने के लिये पहला प्रयास सन् १६२७ में किया गया। उस समय एक बिल लाया गया, परन्तु भारतीय जनमत ने इसकी कड़ी आलोचना की, क्योंकि जनमत चाहता था कि यह बैंक राज्याधिकृत हो, शेयरहोल्डरों द्वारा अधिकृत नहीं हो। सन् १६२८ में एक दूसरा बिल पेश किया गया, परन्तु सरकार ने पुनः शेयरहोल्डरों द्वारा अधिकृत बैंक का पक्ष लिया। यह बिल भी अस्वीकृत हुआ, क्योंकि पहला बिल अभी तक कानूनी ढंग पर वापस नहीं किया गया था। इस तरह मत की विभिन्नता सन् १६३३ तक जारी रही। आखिर सन् १६३४ में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। यह शेयर होल्डरों का बैंक है। अधिकांश डाइरेक्टर निर्वाचित होते हैं। बैंक की समूची पूँजी ५ करोड़ रुपया है। प्रत्येक शेयर १०० रु० का होता है। ५ शेयरों पर एक वोट दिया जाता है। एक आदमी अधिक से अधित १० वोट दे सकता है। शासन का भार डाइरेक्रों के बोर्ड पर है। बोर्ड में एक गवर्नर (केन्द्रीय बोर्ड का), केन्द्रीय बोर्ड की सिफारिश पर गर्वनर जनरल द्वारा नियुक्त दो डिप्टी गवर्नर, गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत ४ डाइरेक्टर, गर्वनर जनरल द्वारा मनोनीत एक सरकारी ऑफिसर, और शेयर-होल्डरों द्वारा निर्वाचित ८ डाइरेक्टर रहते हैं। सरकारी ऑफिसर और एक डिप्टी गवर्नर को वोट देने का अधिकार नहीं।

केन्द्रीय बैंक के अग्रकथित कार्य हैं। इस बैंक में दाखिल (शेड्यूल्ड) बैंकों को अपनी समयाधारित डिपोजिटों का २ प्रतिशत और चलती डिपोजिटों पर ५ प्रतिशत रिजर्व रखना पड़ता है। गत युद्ध के कारण बैंकों के अधिक रिजर्व केन्द्रीय बैंक के साथ हैं। केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीय

बैंक है। कुछ म्युनिसप्लैटियों का भी बैंक यही है। इसने इम्पेरियल बैंक को अपना एजेन्ट बनाया है। सिद्धान्त में तो यह केन्द्रीय बैंक सरकार से पृथक है। फिर भी सरकार द्वारा बोर्ड के गवर्नर और डाइरेक्टर नियुक्त होते हैं और सरकार कितने नियम पास करती है। गत युद्ध के कारण तो रिजर्व बैंक की स्वतंत्रता और भी संकुचित हो गई थी। इस युद्ध में बैंक ने सरकार की नीति को कार्यान्वित करके बड़ी मदद पहुँचाई है। इसने द्रव्य देकर युद्ध को सफल बनाया है। युद्ध की बात को छोड़ देने पर भी यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक को सीमाओं के भीतर काम करना पड़ता है। इसको अपने कार्य सम्पादन में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं।

रिजर्व बैंक के हाथ में मुद्रावाली करेंसी का भार सौपा गया है। इसे विनिमय—अन्तर्गत और वहिर्गत—की स्थिरता कायम रखनी पड़ती है। इसे अपनी लाइवलिटी के लिये उसके ४० प्रतिशत भाग के बराबर रिजर्व रखना है। आनन्द का विषय है कि उसका रिजर्व ४० प्रतिशत से ज्यादा है। इसका रिजर्व लाइवलिटी का ९० प्रतिशत है। ४४ करोड़ का सोना है और १६२५ करोड़ रुपया है। रुपया का आधार स्टरलिंग बैलेन्स हैं। बैंक की ठोसता स्टरलिंग में सेक्यूरिटियों के मूल्य पर अवलम्बित है। स्टरलिंग की जरूरत विदेशी विनिमय के उद्देश्य को पूरा करने के लिये पड़ी थी। युद्ध में यह उद्देश्य नहीं रहा और उद्देश्य युद्ध को आर्थिक मदद देना और भारत में इनफलेशन को उत्तेजना देना हो गया। टैक्स, उधार, मूल्य नियंत्रण, रेशनिङ्ग, आदि उपायों द्वारा इनफलेशन के प्रकोप को दूर करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु अपेक्षित सफलता नहीं मिली। रिजर्व बैंक दूसरे बैंकों से प्रतियोगिता न करने के विचार से अपनी डिपोजीटों पर सूद नहीं देता। यह बैंकों का भी बैंक है। इसे वाणिज्यवाले बिलों को स्वीकार करने की अनुमति दी गई है।

बैंक को व्यापार और वाणिज्य में शामिल होने का अधिकार नहीं है। यह अचल जमानतों पर कर्ज नहीं दे सकता। यह दूसरे बैंकों

के शेयर नहीं खरीद सकता। यह बैंक रेट के द्वारा अन्य बैंकों के मुद्रा-निर्माण नीति का नियंत्रण किया करता है। चूँकि यहाँ ऐसे बहुत-से बैंक हैं जिनके मालिक अँगरेज हैं इसलिये इसको नियंत्रण के काम में पूरी सफलता नहीं मिलती फिर भी इसका भविष्य आशा-मय है। अपनी सरकार कायम होने से यह देश की अधिक से अधिक भलाई कर सकेगा। नोट—अब तो इसक राष्ट्रीयकरण भी हो चुका है और यह राष्ट्रीय बैंक है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

(Functions of the Central Bank)

कौन-से कार्य केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्पन्न होते हैं, इस बात के बारे में सबों का एक मत नहीं है। कोश और एलकीन के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य मौद्रिक प्रणाली की दृढ़ता की रक्षा करना है। हौवेट्रे का कथन है कि केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य "Lender of Last Resort" अर्थात् "अन्तिम आश्रयदाता" का काम है। भेरास्मीथ नोट चलाने के एकाधिपत्य की दुहाई देते हैं। विख्यात् लेखक वर्नार्ड शा साख-नियंत्रण को ही केन्द्रीय बैंक का सर्वप्रधान कार्य मानते हैं। डेकॉक ने उसके निम्नलिखित कार्य बतलाए हैं और उनके मत को शेयर महोदय भी मानते हैं :—

(१) पत्रमुद्रा को चलाना—बैंक को आमजनता तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है—उसे या तो नोट चलाने का एकाधिकार दे दिया जाता है अथवा देश के नोट के कुल परिमाण के आंशिक भाग को चलाने का—

(२) उसे सरकार के बैंक और एजेन्ट का काम करना पड़ता है—

(३) उसके पास वाणिज्य-बैंकों का रिजर्व रहता है—

(४) उसके पास राष्ट्रीय धातवीय रिजर्व भी रहते हैं।

(५) उसे दूसरे बैंकों द्वारा दिये गये बिलों, और ट्रेजरी बिलों,

और उपयुक्त पत्रों को स्वीकार करना पड़ता है। उनके बदले वह इनको कर्ज देता है।

(६) वह अन्तिम उधार देने वाला है।

(७) उसे क्लीयरिङ्ग हाउस का काम करना पड़ता है।

(८) उसका काम साख का नियंत्रण करना भी है जिससे व्यवसाय अस्तव्यस्त न हो और सरकारी स्टैन्डर्ड का पालन हो सके। यदि इन आठ कार्यों को संक्षिप्त करें तो केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित कार्य होंगे :—

(अ) साख का नियंत्रण

(ब) नोट के चलन की देख-भाल

(स) सरकारी बैंक का काम देना

(द) बैंकों के बैंक का काम करना

(र) अन्तिम शरण का कर्जदाता—

इन पाँच कार्यों का नीचे वर्णन अलग-अलग किया है।

[अ] साख का नियंत्रण

(Control of Credit)

केन्द्रीय बैंक साख का नियंत्रण अग्रलिखित उद्देश्यों से करता है। पहला उद्देश्य अपने स्वर्ण रिजर्वों को अन्तर्गत और बहिर्गत आवागमन से बचाना है। दूसरा उद्देश्य देश के भीतरी दामों को स्थिर रखना है। तीसरा, विदेशी आदान-प्रदान को स्थिर रखना और चौथा उद्देश्य उत्पादन और रोजी (Employment) के उलट-फेर को दूर करना है।

जब कोई देश स्वर्ण-प्रमाप पर होता है, सोना स्वतंत्रतापूर्वक देश से बाहर भेजा और मँगाया जाता है। देश में प्रचलित पत्र-मुद्रा को स्वर्ण सिक्का और धातु में बदलने की अनुमति होती है। उस देश में जब साख की बहुत वृद्धि हो जाती है तो इनफलेशन (मुद्रा-प्रसार) का प्रकोप

छा जाता है। मूल्य-सूची के अधिक होने पर बैंकों से अधिक कैस निकल जाता है। इससे केन्द्रीय बैंक से अधिक सोना भी निकाला जाता है। ऊँची कीमतों के होने से लोगों को कैस और सोना दोनों की जरूरत होती है। इसे अन्तर्गतीय निकासी—Internal Drain—कहते हैं। दूसरी बात, जब उस देश में चीजों की कीमतें ज्यादा होती इसका नतीजा यह होता है कि उस देश का निर्यात कम हो जाता है हैं तो और आयात बढ़ जाता है। दूसरा देश उस देश में खरीदना अधिक दाम देना समझता है। इसका नतीजा यह होता है कि आयात-निर्यात से बढ़ जाता है और दूसरे देशों का पावना चुकाने के लिये उस देश से सोना बाहर भेजा जाता है। इस प्रतिक्रिया को बहिर्गतीय निकासी—External Drain—कहते हैं। सोना इसलिये भी बाहर चला जा सकता है कि बाहर के लोगों ने जो पूँजी उस देश में लगाई है उसका भविष्य संदिग्ध हो जाता है। वे लोग अपना-अपना फंड निकालने लगते हैं और देश को सोना भेजना पड़ता है, क्योंकि सोना तो सर्वग्राह्य होता है।

देश की भीतरी कीमतों को स्थिर रखना भी बहुत जरूरी है, क्योंकि उनकी गड़बड़ी से आर्थिक सम्बन्धों में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कार्यों का पूर्व सिलसिला विकृत हो जाता है। सामाजिक अनाचार जन्म लेते हैं। केन्द्रीय बंक देश की आवश्यकताओं के अनुसार क्रय-शक्ति को सम्यक और लयपूर्ण रखकर कीमतों की उथल-पुथल को रोकता है।

ठीक इसी तरह, विदेशी आदान-प्रदान की अस्थिरता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत बाधा पहुँचती है।

केन्द्रीय बैंक को देशीय कीमतों की स्थिरता और देशीय विनिमय की स्थिरता में परस्पर विरोध होने पर किस उद्देश्य को अपनाना चाहिये? सन् १९१४ के पहले चूँकि बड़े-बड़े देश स्वर्ण-प्रमाप पर आधारित थे, इसलिये सभी देश अपने भीतर की कीमतों की

स्थिरता कायम रखते थे और कोई परिवर्तन होता भी था तो स्वर्ण-विन्दुओं के भीतर ही। परन्तु अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के दिनों में यह देखा गया कि प्रत्येक देश की कीमतें एक खास रूप से बदल रही हैं और देश-देश के कीमत-परिवर्तन में कोई समता नहीं है। इससे बहुत ही अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। ऐसी हालत में यदि कोई देश विनिमय की स्थिरता को कायम रखना चाहे तो उसे अपने भीतर की कीमतों को विदेशी कीमतों के अनुकूल ही बदलना होगा। इसका फल यह होता है कि देश की भीतरी आर्थिक व्यवस्था पलट जाती है। इधर कई वर्षों से केन्द्रीय बैंकों ने भीतरी कीमतों को ही स्थिर रखना ही अपना प्रधान कार्य बना लिया है और वे बाहरी परिस्थितियों के अनुसार अपने विनिमय को बदलने की स्वतंत्रता दे देते हैं। इंगलैंड जैसा देश विदेशी व्यापार में अधिक रुचि रखता है और भारतवर्ष जैसा देश उसमें कम रूचि। इसलिये पहला देश विनिमय की स्थिरता की ओर अधिक ध्यान देता और दूसरा देश भीतरी दामों की स्थिरता की ओर। दुःख का विषय है कि व्यापार को कम होते हुए भी पहले की भारतीय सरकार ने विनिमय की स्थिरता पर अधिक और भीतरी कीमतों की स्थिरता पर कम ध्यान दिया है।

अत्याधुनिक विचार के अनुसार केन्द्रीय बैंक को व्यापार-चक्र की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये और उसके दुष्परिमाणों से देश की रक्षा करनी चाहिये। हमारा निष्कर्ष यही है कि केन्द्रीय बैंक को भीतरी कीमतों और विदेशी विनिमय दोनों को स्थिर रखना चाहिये जिससे देश का आर्थिक जीवन सुखमय हो सके। उसका उद्देश्य व्यापार और व्यवसाय की उत्तरोत्तर वृद्धि करना है और मन्दी और धूम को दूर भगाना भी।

"The central bank performs the some benefit for the deily traffic in the banking world that the pneumatic tyre does for the motor car. It oushious the bumps and makes the whole service easier, smoother, speeding and more efficient."

त्रयोदश अध्याय

केन्द्रीय बैंक : साख के नियंत्रणकर्त्ता के रूप में

(Central Bank : As a Controller of Credit)

किसी देश के केन्द्रीय बैंक का सबसे प्रधान कार्य साख-नियंत्रण है। राजकीय बैंक, बैंकों के बैंक, नोट-प्रचालन के एकाधिकारी और शोधन-गृह के कार्य सम्पन्न करना तो गौण वस्तु है। बहुत दिनों तक साख-नियंत्रण का अभाव था। केन्द्रीय बैंक द्वारा जब से नियंत्रण का आरंभ हुआ तब से उस अभाव की पूर्ति हो गई। मुद्रा की क्रय-शक्ति और व्यावसायिक कार्य तथा रोजी की राशि या घनत्व में गहरा संबंध है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियंत्रण करने का उद्देश्य अग्रलिखित उद्देश्यों में कोई एक हो सकता है या उसमें से कुछ या सभी हो सकते हैं :— (१) विनिमय-दरों की स्थिरता (२) मूल्य-तल की स्थिरता (३) सामान्य आर्थिक कार्य और रोजी की स्थिरता।

पहली अवस्था में, जब स्वर्ण-प्रमाप का साम्राज्य था, विनिमय-दरों की स्थिरता सबसे पहला स्थान प्राप्त करती थी। वह इसलिए कि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास और विश्व-कल्याण की रक्षा हो सके। दूसरी अवस्था में उद्देश्य मूल्य-तल, उत्पादन और व्यापार की स्थिरता बना और ऐसा सोचा जाने लगा कि भीतरी मूल्य-तल को स्थिर बनाये रखने से राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण को लाभ पहुँच सकता है। मूल्य की स्थिरता को भीतरी और बाहरी गड़बड़ी का मूल कारण माना गया। ऐसा विश्वास जमने लगा कि आन्तरिक मूल्य-स्थिरता और विनिमय दर का अभियोजन (Adjustment) विश्व को अन्त-र्राष्ट्रीय स्थिरता प्रदान करेगा। तीसरी अवस्था में साख-नियंत्रण

का प्रधान उद्देश्य व्यापार-चक्रों और बेकारी का निराकरण (सस्ती मुद्रा-नीति द्वारा) बन गया। हाल में जब से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष की स्थापना हुई है तब से उद्देश्य में कुछ परिवर्तन आया है। वह है, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-स्थिरता को संतुलित रखना और रोजी एवं वास्तविक आय का संवर्द्धन और संरक्षण करना।

साख-नियंत्रण के साधन अग्रलिखित हैं—(१) बट्टा-दर की नीति (बैंक-दर) (Discount Rate Policy) (२) खुला बाजार कार्य-क्रम (Open Market Operations) (३) साख की रैशनिंग (Rationing of Credit) (४) वाणिज्य बैंकों के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया (Direct Action)। ऐसे बैंक केन्द्रीय बैंक से दीर्घावधि के लिये बहुत उधार लेते या सट्टेबाजी में भाग लेते हैं। (५) नैतिक प्रभाव (Moral Suasion) और प्रचार (Publicity) (६) वाणिज्य बैंकों के न्यूनतम कोषों का नियमन (Regulation of the minimum reserves of commercial banks) (७) संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में एक हाल का साधन प्रयुक्त हो रहा है। वह है स्टॉक-विनिमय प्रतिभूतियों के लिये सीमान्त आवश्यकताओं का नियमन (Regulation of margin requirements in connection with purchases of stock exchange Securities) (८) भोक्ताओं के टिकाऊ सामानों के लिये ली जाने वाली साख की शर्तों और दशाओं का नियमन (Regulation of the terms and conditions of credit for conscemers' durable goods) (विनिमय-दरों और विनिमय-नियंत्रण का नियमन। इन साधनों के अतिरिक्त सार्वजनिक अर्थ के क्षेत्र में कुछ और साधन हैं—(१) घाटे द्वारा अर्थ-प्रवन्धन (Deficit Financing)। मन्दियों में कर की दरों को कम कर देना (२) अवशिष्ट अर्थ-प्रबन्धन (Surplus Financing)—महँगियों में अधिक कर लगाकर। (३) पूँजी-नियोग का सरकार द्वारा नियंत्रण।

साख-नियंत्रण की सीमाएँ

(१) केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण बैंक-साख और पूँजी-साख के सभी भेदों पर होना चाहिये। इन साखों में आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से परिवर्तन हो जाते हैं। लेविनस्की, लीफ, ऐंडरसन और डूर्नायन, प्रभृति लेखक इस दशा पर काफी जोर देते हैं, लेकिन पूँजी या साख के भेद स्वयं आर्थिक स्थिति पर निर्भर करते हैं।

(२) वाणिज्य बैंक ही मुद्रा-बाजार में अकेले सब कुछ नहीं हैं। दूसरी आर्थिक और साख-संस्थाएँ हैं जो उनपर भी दबाव डाल सकती हैं। केन्द्रीय बैंक का फर्ज है कि वह इन संस्थाओं के ऊपर भी अपना नियंत्रण स्थापित करे। वह इनके प्रतिनिधियों के साथ मिलकर अपना नैतिक प्रभाव डाल सकता है। ये संस्थाएँ वाणिज्य-बैंकों के साथ भी कोष जमा करती हैं और इसलिये वाणिज्य-बैंक उनपर प्रभाव डाल सकते हैं।

साख-नियंत्रण की आवश्यकताएँ

(१) केन्द्रीय बैंक को वैधानिक अधिकार और कोष प्रदान करना चाहिये।

(२) वाणिज्य-बैंकों को केन्द्रीय बैंक के साथ परंपरागत संबन्ध रखना चाहिये।

(३) वाणिज्य-बैंक और केन्द्रीय बैंक के बीच दिल खोलकर और चातुर्य्यपूर्ण सहयोग होना चाहिये।

(४) बैंक-कोषों का पूरा केन्द्रीयकरण होना चाहिये।

आस्ट्रेलियामें १९४५ का बैंक-ऐक्ट वाणिज्य-बैंकों को यह अधिकार देता है कि वे दूसरे बैंकों की साख-नीति को निर्धारित कर सकें। समाजवादी रूस में तो सभी आर्थिक संस्थाओं पर सरकार का नियंत्रण है। प्राजातांत्रिक प्रणाली में योजनाकरण और निर्देश किया जाता है, लेकिन व्यक्तिगत उद्योग की भी जरूरत है। राज्य के द्वारा आर्थिक

नियंत्रण एक राजनीतिक प्रश्न भी है। सामान्य आर्थिक नियंत्रण की अनुपस्थिति में केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य-बैंकों द्वारा किया हुआ साख-नियंत्रण ही सर्वस्व नहीं। साख के वितरण और प्रयोग का भी नियंत्रण आवश्यक हो जायगा। केन्द्रीय बैंक वाणिज्य-बैंक और अन्य मौद्रिक संस्थाओं पर दबाव, डर-भय, आग्रह, प्रचार, आदि द्वारा प्रभाव डाल सकता है। मानवीय तत्व को हम विस्मृत नहीं कर सकते। यह भी घात-प्रतिघात करता है। मकलारघलीन लिखता है :—"साख में सर्वप्रमुख तत्व मानस की अवस्था है और साख-नियंत्रण बिना लोकमत के नियंत्रण के नहीं हो सकता है।" मूल्यकी स्थिरता और आर्थिक अवस्था की स्थिरता के लिये नियंत्रण में में सम्बद्धता रहनी चाहिये।

लेकिन मूल्य-तल के नियंत्रण में कुछ व्यवधान हैं। इसके लिए मूल्य-देशनांक (Index Number) बनाने की जरूरत है। लेकिन यह कठिनाइयों से परे का कार्य नहीं। कुछ कठिनाइयाँ ये हैं—(१) कीमतों में अनुरुपता नहीं रहती (२) मूल्य-देशनांक तैयार करने में कतिपय व्यवधान हैं।

मुद्रा का संख्यात्मक सिद्धान्त ही सर्वस्व नहीं। प्रचलन की गति और मानवीय संबंधों की भी अपनी प्रधानता है। प्राकृतिक और भौतिक शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। कुछ अर्थशास्त्रविदों का कथन है कि मौद्रिक क्रियाओं द्वारा इस प्रभाव को शून्य किया जा सकता है। लेकिन इसमें खतरा है। १६३० और १६३५ के बीच जो बैंकों की असफलता हुई वह ऐसे ही प्रयासों के प्रतिफल। अगर परिमाणात्मक नियंत्रण भी कठिनाइयों से ओत-प्रोत है तो गुणात्मक नियंत्रणउनसे वंचित नहीं। अनयोजित प्रणाली में गुणात्मक नियंत्रण खतरा और अनिश्चयता से पूर्ण होता है।

आर्थिक प्रणाली में संगठित मूल्य-तल का बड़ा महात्म्य है। लेवेरस्की कहता है कि उत्पादन और उपभोग में अभियोजन दाम के

द्वारा होता है और दाम-प्रणाली संतुलन पुनर्स्थापित करती है। ऐंडर-सन का कथन है कि दाम-परिवर्तन आर्थिक प्रणाली के असंतुलन के निर्देशक हैं। ओहलीन के अनुसार आर्थिक आवस्थाओं के अभि-योजन को दाम के परिवर्तनों से नाता जोड़ना पड़ता है। जेनी के शब्दों में दामों के द्वारा आर्थिक अवस्था का शोधन होता है। (देखिए 'व्यावसायिक संगठन' ग्रन्थ में 'दाम-प्रणाली' लेख)। लेकिन ग्रेगरी और हॉट्रे का तर्क है कि दामों का स्थिर तल आर्थिक संतुलन की गारन्टी नहीं हो सकता। फिर भी हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते कि स्थिर दाम-तल ऋण के निबटारे में सुविधा पहुँचाता है और इसमें कोई अधिक त्याग नहीं करना पड़ता।

यद्यपि मुद्रा का परिमाण ही व्यापार-चक्रों की एकान्त वजह नहीं, तथापि वह सर्व प्रधान वजह है। इसके बाद मुद्रा की प्रचलन-गति, व्यापार और उत्पादन का कुल परिमाण या मूल्य-तल आते हैं। ये सभी अन्तर्बद्ध हैं। हाल में मौद्रिक आयों में होने वाले परिवर्तनों को आर्थिक परिवर्तनों का प्रधान कारण माना गया है। अब माना जा रहा है कि आर्थिक दृढ़ता आयों की दृढ़ता पर निर्भर करती। लार्ड केन्स ने पूँजी-संग्रह और पूँजी-योग के परिमाणों में होने वाले अन्तर को व्यापार-चक्रों का एक जबरदस्त कारण माना है। अब लोग बैंकिङ्ग-नीति के साथ सरकार की आर्थिक कर और मुआवजादायी (Compensatory) नीति को भी प्रधानता दे रहे हैं और आर्थिक प्रगति के लिए दोनों का संयोग हितकर बतलाते हैं। फिर भी केवल मौद्रिक प्रबन्धसे ही काम नहीं चल सकता। बर्जेस लिखता है "मौद्रिक प्रबन्धन में ऐसा जादू नहीं जो मानव-जाति को उसके राजनीतिक और आर्थिक पापों से छुटकारा दे सके"। अतएव केन्द्रीय बैंक को अपनी साख-नियंत्रण की शक्ति का भरपूर प्रयोग करना चाहिये। इसके आन्तरिक सरकार को भी अपनी राजस्व (Fiscal) नीति द्वारा उसकी नीति के साथ सहयोग करना चाहिये कि (१) अपनी साख-नीति का प्रभाव कितना है (२) व्यवसाय-चक्र

की अवस्था क्या है (३) वाणिज्य बैंकों का सहयोग कितना चाहिये (४) महँगी और सस्ती, अधिस्फीति और अपस्फीति को हटाना है (५) उसे भीतरी साख-ढाँचे को शोधन-पत्रक के परिवर्तनों से अप्रभावित रखना चाहिये।

साख नियंत्रण के प्रधानतः तीन साधन हैं :

(१) बैंक रेट को घटाना बढ़ाना—

(२) खुले बाजार के कार्यों में प्रविष्ट होकर—

(३) मेम्बर बैंकों के रिजर्व अनुपातों को बदलकर--

[१] बैंक रेट की नीति
(The Principle of Bank Rate)

बैंक रेट वह सबसे कम रेट है जिस पर किसी देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम कोटि के विनिमय-बिलों की कटौती करेगा या अच्छी प्रतिभूतियों पर कर्ज देगा। इंगलैंड में इस नीति को बैंक रेट, दूसरे देशों में डिसकाउन्ट कहते हैं। मान लीजिए किसी कारण से किसी देश की व्यापारिक गति विपरीत हो गई है। इसका फल यह होगा कि उस देश से स्वर्ण-प्रमाप सोना बाहर जाने लगेगा। केन्द्रीय बैंक के सोने का रिजर्व खाली होने लगेगा। ऐसी हालत में वह बैंक रेट को ऊपर उठा देगा। बैंक रेट के ऊँचा होने से विदेशी विनिमयों पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ेगा।

सबसे पहले विदेशी विनिमय प्रभावित होंगे। चूँकि बैंक रेट ज्यादा है इसलिए इसका मतलब यह है कि खासकर के विदेशी लोग उस देश में अपेक्षाकृत अपनी रकमों पर अधिक सूद पा सकते हैं। इसलिए वे लोग पहले इच्छा रहते हुए भी अपनी पूँजी को या अपने डिविडेन्डों को यहाँ के बैंकों में रहने देंगे। जिन बाहरी लोगों के पास पूँजी है, वे कुछ दिनों के लिए उस देश में उसे भेज देंगे। इस तरह उस देश में बाहर से फंड आने लगेंगे या कम-से-कम उस

देश से फंडों का बाहर जाना रुक जायगा। विदेशी लोगों की माँग उस देश की करेंसी के लिए बढ़ जाएगी और इसलिए उसका मूल्य अन्य देशों की करेंसियों की दृष्टि से बढ़ जाएगा। इस तरह विदेशी विनिमय अनुकूल हो जायगा और हो सकता है कि बाहर से सोना भी देश में आ सके। बैंक रेट के अधिक होने पर लोग उधार कम लेंगे और देश की क्रय-शक्ति कम हो जाएगी। इस तरह आयात कम हो जायगा। इसके फलस्वरूप व्यापार अनुकूल हो जायगा।

इस नीति का प्रभाव कीमतों और व्ययों पर पड़ता है। बैंक रेट के अधिक होने से उधार लेने में अधिक व्यय पड़ता है। जो व्यवसायी सीमान्त पर खड़े हैं कि वे व्यवसाय में रुपया कर्ज लेकर लगावें या न लगावें वे सूद की दर अधिक होने से उधार नहीं लेंगे। जो लोग बहुत दिनों के लिए उधार लेते हैं वे अपने धंधों को कम करके उधार रकम लौटाने का प्रयास करेंगे, क्योंकि अब सूद अधिक लगता है। पूँजी वाली चीजों का उत्पादन कम हो जायगा और उनके उद्योगों में बेकारी की समस्या उठ खड़ी होगी।

बेकार लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जायगी। कीमतें गिरने लगेंगी। जो व्यापारी और सौदागर वस्तुओं के स्टॉक रखने के आदी हैं वे लोग अपना स्टॉक कम करने लगेंगे क्योंकि उधार लेकर उसे रखना क्षतिकारक हो रहा है। वे लोग उत्पादकों को कम ऑर्डर देंगे। उत्पादकगण अचानक अपने कारखाने बन्द नहीं कर सकते। वे लोग व्यापारोत्थान की आशा में लगे रहेंगे। वे लोग व्यापारियों से कम दाम लेंगे। इस तरह थोक दाम गिर जायगा। परन्तु न तो मजदूरी ही अभी घट सकी है और न उत्पादन-व्यय ही, इसलिये उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी। उन्हें अन्ततः उत्पादन-कार्य स्थगित करना ही पड़ेगा। इस तरह बेकारी की समस्या उत्पन्न हो जायगी।

अधिक बेकारी बढ़ने से उपार्जन की दरें कम हो जाएँगी और

व्यय भी गिरेंगे ही और व्यय इतना कम हो जायगा कि कम दाम पर बेचना लाभदायी हो जायगा।

बैंक रेट के कम होने से ठीक उल्टी दशाएँ उपस्थित होंगी। अल्पकालीन फंड देश से बाहर जाने लगेंगे, विदेशी उधार में बढ़ती होगी, कीमतें बढ़ चलेंगी।

इस तरह जान पड़ता है कि बैंक रेट बहुत ही सबल साधन है। क्रौथर के शब्दों में "Bank Rate is a very powerful weapon but it tends now-a-days to be kept in the background as a sort of fulcrum on which interest rates can be levered up and down by more delicate methods. Only when some major change is necessary in Bank rate itself moved"।

इसका क्या असर पड़ता है यह भी देख लेना चाहिये।

यदि लोग बचतों की अपेक्षा अधिक पूँजी को उद्योग-धंधों में लगाते हैं तो केन्द्रीय बैंक सूद की दर को बढ़ा देगा। इस तरह Investment कम हो जायगा और Savings बढ़ जाएगी। यदि लोग बचत अधिक कर रहे हैं और व्यवसायों में पैसा कम लगा रहे हैं तो केन्द्रीय बैंक सूद की दर को कम करके Investment को उत्तेजित करेगा और Saving और Investment दोनों बराबर हो जायेंगे। परन्तु इस संतुलित सूद की दर को स्थिर करना कठिन है। हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक का निर्णय लोकमत के निर्णय से विपरीत हो। इनफलेशन के युग में लोग सुनहले स्वप्न देखते हैं। इसके फलस्वरूप सूद की दरों को ऊपर उठाना होगा क्योंकि कीमतों के बढ़ने से पैसा व्यवसायों में लगाने पर अधिक लाभ होता है और भावी आशाएँ भी अच्छी होती हैं। डिफ्लेशन के जमाने में यों भी और उम्मीद में भी व्यवसाय में पैसा लगाने से मुनाफा कम होता है। मान भी लीजिए कि संतुलित सूद की दर निश्चित भी रक

दीजाय, फिर भी केन्द्रीय बैंक का सूद की दरों पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। सूद की दरों को देना व्यावसायियों के ऊपर निर्भर करता है। यदि भावी उम्मीद अच्छी है तो सूद की दर अधिक रहने पर भी वे उधार कर्ज लेंगे ही। केन्द्रीय बैंक अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण करता है और यह नियंत्रण अधिक होता है। यह धीरे-धीरे काम करता है और विपदाओं से भंग भी हो सकता है।

[२] खुले बाजार के कार्यों में प्रविष्ट होकर

(Open Market Operations)

इन कार्यों से उन कार्यों की ओर संकेत है जो केन्द्रीय बैंक स्वयं अपनी प्रेरणा से देश की साख के भंडार को नियंत्रित करने के विचार से करती है। केन्द्रीय बैंक सेक्यूरेटियाँ खरीदता और बेचता है। मान लीजिये ज्वाएन्ट-स्टॉक बैंकों के रिजर्व बहुत ज्यादा है और वे लोग सस्ती मुद्रा (Cheap Money) का नीति अपनाए हुए हैं। केन्द्रीय बैंक इसको बुरा समझता है। उनके कार्यों को नियंत्रित करने के लिए केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बाजार में बेचेगा। इनको खरीदने वाले दाम में दूसरे-दूसरे बैंकों पर चेक काटकर देते हैं। ये चेक केन्द्रीय बैंक के पास जमा होते हैं और वह दूसरे बैंकों के रिजर्व घटा देता है। इससे उनकी उधार देने की शक्ति कम हो जाती है। वे लोग उधार देने पर जो चार्ज लेते हैं, उसे बढ़ा देते हैं। इस तरह देश में साख का भंडार कम हो जाता है।

इसी तरह, जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि उधार देने का कार्य बैंक (Dear Money) कम रहे हैं और वे लोग साख के भंडार को कम कर रहे हैं जिससे बाजार में फंडो की कमी है तब वह पूँजीपत्रों को खरीदना शुरू करता है। बेचने वालों को वह बदले में अपने नोट देता है। बेचने वाले इन नोटों को अपने-अपने बैंक के साथ जमा कर देते हैं। बैंक इन नोटों के आधार पर अधिक साख

लोगों को देने लगते हैं। उनके रिजर्व बढ़ जाते हैं। वे उधार देने का चार्ज भी कम कर देते हैं।

इस प्रकार सेक्यूरीटियाँ बेच और खरीदकर केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों के रिजर्वों को घटा-बढ़ा सकता है। रिजर्वों को घटा-बढ़ाकर वह मुद्रा की दरों को बदलकर देश के साख-भंडार को भी कम-बेश कर सकता है। इंलैंड में यह साधन बहुत ही सफल हुआ है। अंग्रेजी मुद्रा-बाजार की यह परम्परा है कि ज्वाएन्ट-स्टॉक बैंक बैंक ऑफ इंगलैंड से सीधे कर्ज नहीं ले सकते। न तो केन्द्रीय बैंक उनके बिलों को ही Re-discunt करता है और न एडवान्स ही पूँजीपत्रों पर देता है, इसलिए जब यह बैंक पूँजीपत्र बेचता है तो बैंकों के रिजर्व कम हो जाते हैं और वे इस बैंक से उधार लेकर उन्हें पूरा नहीं कर सकते। वे लोग उधार देना बन्दकर देते हैं। या बिल के दलालों को दिए रुपए वापस करने लगते हैं। यही उनकी आत्म-रक्षा का दूसरा मोर्चा है।

हम देखते हैं कि यह द्वितीय साधन केन्द्रीय बैंक के हाथ का सबल शस्त्र है जिसके सहारे वह मुद्रा-बाजार पर दृढ़ प्रभाव डाल सकता है। जब रुपया के लिए बहुत माँग बढ़ जाती है और कर्ज देने की दर अधिक होती है तो केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार की मदद करता है और पूँजीपत्रों को खरीदकर रुपए को बाजार में भर देता है। इसके अलावे, पूँजीपत्र खरीद और बेचकर वह सोने की गतियों को प्रभावहीन (Frozen) बना सकता है। जब देश में सोना आता है, बैंकों के रिजर्व उससे बढ़ जाते हैं और वे साख-वृद्धि की नीति कार्यान्वित करने लगते हैं। अगर केन्द्रीय बैंक इस नीति को पसन्द नहीं करता तो वह बाजार में पूँजी-पत्रों को बेचने लगेगा और बैंकों के अवशिष्ट रिजर्वों को हटा देगा और कर्जों को बढ़ाने से उन्हें रोक देगा। इसको स्वर्णायात को प्रभावहीन बनाना कहते हैं।

इसके विपरीत, देश से बाहर सोना चले जाने पर जब बैंकों के रिजर्व कम हो जाते हैं तब वे साखावरोध की नीति अपनाते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक को यह पसन्द नहीं हो तो वह पूँजीपत्र खरीदकर उनके इस कार्य को रोक सकता है। बैंक के रिजर्व बढ़ सकते हैं और वे लोग कर्ज देना बन्द नहीं करेंगे। इसे स्वर्णनिर्यात के प्रभाव को मिटाना कहते हैं।

संकट के समय भी, मुद्रा की कमी हो पर केन्द्रीय बैंक लोगों के पूँजी-पत्र खरीदकर, उनके बिलों की कटौती कर, उनकी सहायता कर सकता है। केन्द्रीय बैंक अपने एसेटों को कम करके, मेम्बर बैंकों के कैस रिजर्वों को भी कम कर सकता है जिसके फलस्वरूप इन्हें अपनी डिपजीटों को कुछ कर्जों को वापस लौटाकर कम करना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होता कि Saving की अपेक्षा Investment कम हो जाता है। कीमतें गिरने लगेंगी। बेकारी बढ़ने लगेगी। जब केन्द्रीय बैंक अपने एसेटों को बढ़ा लेता है तो मेम्बर बैंक भी अपने कर्ज और एडवान्सों के परिमाण को बढ़ा देते हैं। Saving की अपेक्षा Investment बढ़ जाता है, दाम-तल बढ़ने लगता है और बेकारी कम हो जाती है।

अतः केन्द्रीय बैंक का यह शस्त्र निस्सन्देह बड़े हित एवं प्रभाव का है।

[३] बैंक की रिजर्व राशियों का परिवर्तन करके
(Variation of Bank Reserves Ratios)

इसके द्वारा केन्द्रीय बैंक मेम्बर बैंकों को यह आज्ञा कर सकता है कि वे अपनी धरोहरों–डिपोजीटों के लिए निश्चित रिजर्व रखें। देश की आवश्यकतानुसार केन्द्रीय बैंक रिजर्व को कभी अधिक, कभी कम बढ़वा सकता है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में यह शक्ति फेडरल रिजर्व बैंकों के जिम्मे है। वे यह तय करते हैं कि मेम्बर बैंकों के पास कितना रिजर्व रहना अनिवार्य है। इन बैंकों को

१३ प्रतिशत (डिपोजीटों के) रिजर्व रखना पड़ता है। यह साधन सभी देशों के केन्द्रीय बैंकों को नहीं प्राप्त है बल्कि कुछ ही केन्द्रीय बैंकों को यह सुविधा है कि वे मेम्बर बैंकों को इस साधन के द्वारा प्रभावित कर सकें इस साधन की आवश्यकता इसलिये जान पड़ती है कि हो सकता है कुछ दशाओं में खुले बाजार के कार्यों द्वारा केन्द्रीय बैंक को सफलता नहीं मिल सके। पूँजी-पत्रों का अभाव भी हो सकता है और अभाव नहीं होने पर भी बैंक को अधिक दाम पर उन्हें खरीदना हरदम हितकर नहीं हो सकता है।

ये साधन सदैव सफल नहीं होते। वे भले ही साख के भंडार का नियंत्रण कर सकें, परन्तु वे साख के विभिन्न प्रयोगों को नियंत्रित नहीं कर सकते। केन्द्रीय बैंक यह नहीं निर्णय कर सकता कि साख किस-किस व्यक्तियों को देनी चाहिये। फेडरल रिजर्व बैंक को जरा यह अधिकार है कि वह नियम द्वारा पात्रों को चुन सके। बैंक रेट की नीति की सफलता के लिए दो बातें जरूरी हैं। पहली बात बैंक रेट के बदलने के अनुसार दूसरी रेटें भी बदलें जिससे साख भी विचारानुसार बढ़-घट सके। दूसरी बात, देश की आर्थिक बनावट लोचपूर्ण होनी चाहिये जिससे साख की दशायें बदलने पर लगान, उत्पादन, व्यापार और मजदूरी में भी अनुकूल परिवर्तन हो सकें। पहली बात बहुत से देशों में पूरी नहीं होती। बैंक रेट के बढ़ने से दूसरी रेटें नहीं बढ़ जातीं और उसके घटने से घट नहीं जातीं। दूसरी बात भी अब अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के प्रचलन से, मजदूरी और कीमतों के नियंत्रण से, पूरी नहीं होती। इन दिनों घरेलू व्यापार बैंक के ओभरड्राफ्टों द्वारा अधिक अर्थ-संचालित होता है। अब अल्पकालीन ट्रेजरी बिल ही विनिमय बिलों की अपेक्षा अधिक काम दे रहे हैं। सरकार की ट्रेजरी का प्रभाव अब मुद्रा-बाजार पर अधिक हो गया है। इन परिवर्तनों से बैंक रेट को आघात पहुंचा है। इसके अतिरिक्त, उत्पादक केवल सूद की दर को नहीं देखते वे व्यापार का भावी रंग-ढंग भी देखते हैं। यदि रंग-ढंग अच्छा

है तो सूद की दर के अधिक होने पर भी वे कर्ज लेंगे और उसके बुरा रहने पर, उसके कम रहने पर भी वे कर्ज नहीं लेंगे। खुले बाजार के कार्यों के बारे में भी कुछ कहना है। यह माना जाता है कि पूँजीपत्रों को बेचकर केन्द्रीय बैंक अन्यान्य बैंकों के रिजर्वों को कम कर सकता है, परन्तु ऐसा नहीं भी हो सकता है। यदि बैंकों में सोना आ जाय या प्रचलन और लोगों के कोष से नोट लौट आवें तो बैंकों का रिजर्व कम नहीं हो सकता। इसी तरह यदि देश से बाहर सोना चला जाय और लोग नोटों की अधिक माँग करने लगें तो पूँजी-पत्रों के खरीदने से बैंकों का रिजर्व नहीं बढ़ सकता। यदि मेम्बर बैंकों के रिजर्वों को बढ़ा-घटाया जाय तो भी साख बढ़ या घट नहीं सकती क्योंकि साख और कैस का पारस्परिक लगाव स्थिर नहीं है और बैंक मनमाना भी कर सकते हैं।

यह भी जरूरी नहीं कि जब बैंकों के कैस बढ़े तब उधार और एडवान्स के लिये माँग भी बढ़ जाय, क्योंकि आर्थिक या राजनीतिक अनिश्चयता के कारण सस्ती मुद्रा की दरें भी कर्जदारों को आकृष्ट नहीं कर सकतीं। इस साधन का एक अन्य अवरोध यह भी है कि बैंक की साख का भ्रमण सदैव स्थिर नहीं रहता, वह व्यापारिक धूम की अवधि में बढ़ जाता है और मन्दी की अवधि में घट जाता है। अमेरिका में तो रिजर्व घटने पर बैंक फेडरल रिजर्व बैंकों से सीधे उधार भी लेकर उसे पूरा कर सकते हैं। इन सभी बाधाओं के रहने पर भी यह साधन खूब ही सफल होता है।

साख नियंत्रण के अन्य साधन भी हैं जो साधारण हैं :—
(1) Credit Rationing (2) Moral suasion—(3) Exchange Funds—(4) Taxing Currency ।

———

"Prices are not a stone-wall which is quite immovable but they are not equally wax which gives way to every pressure"

चतुर्दश अध्याय

साख-नियंत्रण के साधनों का विशेष अध्ययन

बैंक-दर या बट्टा-दर की नीति

(Bank Rate or Discount Rate Policy)

१९१४ ई० के पहले के अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप के तत्वाधान में बट्टा की दर की नीति केन्द्रीय बैंक का प्रधान शस्त्र थी। प्रथम महायुद्ध से और उसके बाद यह नीति राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं की दासी बन गई। लेकिन १९२५ के बाद से वह फिर प्रधान हो गई। यह अवस्था १९३१ तक रही। उसके बाद उसका महत्व फिर कम हो गया।

सच पूछिये तो यह स्वर्ण-प्रमाप के अनुशासन को कार्यान्वित करने का एक प्रभावोत्पादक साधन थी। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-कोष के साथ इसका महत्व थोड़ा बढ़ा है।

इंगलैंड का बैंक इस साधन का उपयोग करने वाला पहला बैंक था। शुरू में बैंक-दर को दंड देनेवाला साधन माना गया था। वह बाजार-दर से सामान्यतः ऊपर रहती थी। उस समय बट्टा का कार्य होता भी कम था। बट्टा-बाजार केन्द्रीय बैंक का आश्रय संकटकाल में ग्रहण करता था।

बाद में फ्रांस ने बैंक-दर के सहारे स्वर्ण-प्रवाहों को रोका था। बैंक-दर में हरदम हेर-फेर होता था। इसके कुछ कारण थे—(१) लंदन स्वर्ण और बट्टा के बाजारों में सर्व प्रधान था और वह बाहरी परिवर्तनों के प्रति शीघ्र प्रतिक्रिया करता था।

(२) स्वर्ण-कोष कम था और उसकी रक्षा करनी थी।

(३) लंदन के लिये विदेशी व्यापार और पूँजी-योग अधिक महत्व रखते थे।

बैंक-दर का सिद्धान्त यों है—इसमें परिवर्तन होने पर स्थानीय मुद्रा-दरों में परिवर्तन होंगे और उनसे (१) मुद्रा-एवं साख की माँग तथा पूर्ति (२) पूँजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह (३) देशीय मूल्य-तल, व्यय, उत्पादन और व्यापार का असंतुलन (४) व्यापार-लेखा की गड़बड़ी ठीक होगी। स्वर्ण-प्रमाप के अध्ययन में हम इनपर विचार कर चुके हैं।

लेकिन अभीप्सित सफलता प्राप्त करने के लिये बैंक-दर को शीघ्रतापूर्वक काम करना चाहिये। आर्थिक प्रणाली में इतनी लोच हो कि वह मौद्रिक-दरों और साख की अवस्थाओं से अपने को अभियोजित कर सके। उसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी-प्रवाह को रोकना नहीं चाहिये।

जब बैंक-दर को इस तरह कार्यान्वित किया जाता है तब जिवन के शब्दों में "A rise in Discount Rate may be regarded as the amber-coloured light of warning of robot sysptem of finance and economies while a fall in the discount rate may be looked upon as the green light indicating that the coast is clear and the ship of commerce may proceed on her own way."

१६१४ के बाद बैंकों ने सस्ती मुद्रा-नीति का अवलम्बन किया और उसका नतीजा हुआ कि बैंक-दर की नीति का पालन नहीं हुआ। बैंक-दर की प्रधानता कम होने लगी। और भी कारणों से इसका महत्व घटा (१) मुद्रा-बाजार की अवस्थाओं में मौलिक परिवर्तन हुए। ट्रेजरी बिलों की प्रधानता बढ़ने लगी। बैंक इन्हें ही रखने लगे। विनिमय बिलों का महत्व कम हो गया। उन्हें कम रखा जाता। (२) केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण के दूसरे उपायों को काम में लाने लगा। (३) आर्थिक और राजनैतिक जीवन अधिक उलझित और पेचीदा हो गया। (४) विनिमय पर नियंत्रण लगाये जाने लगे। "गरम मुद्रा" का आवागमन बढ़ गया। देश-देश के बीच

पूँजी का प्रवाह बाधित हुआ। (५) उद्योग-प्रवर्तक व्यय और लाभ में होने वाले तनिक परिवर्तनों से अधिक प्रभावित होने लगे। (६) सोना का स्टॉक केन्द्रीय बैंकों के पास अब कम रहता है और इसके फल-स्वरूप बैंक-दर का असर ढीला और मन्द पड़ गया है।

खुले बाजार का कार्यक्रम

मुद्रा-बाजार की अत्यधिक तरलता के कारण बैंक-दर की कठिनाई बढ़ गई। कौनसॉल की जगह सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होने लगा। १९४४-१८ के बीच ट्रेजरी बिलों और सरकारी प्रतिभूतियों की संख्या बढ़ गई। १९२० के बाद से इंगलैंड के बैंक ने खुले बाजार के कार्यक्रम की नीति को एक स्वतंत्र साधन बना लिया और उसे अमल में लाने लगा। सरकारी व्यय भी बढ़ रहा था और बिना इसके जनता से मुद्रा उगाही नहीं जा सकती थी।

जहाँ बैंक-दर का प्रभाव मुद्रा और पूँजी के बाजारों पर अप्रत्यक्ष पड़ता है वहाँ खुले बाजार के कार्यक्रम का प्रभाव उनपर सीधा पड़ता है। पहला साधन दीर्घकालीन सूद की दरों को अल्पकालीन सूद की दरों के माध्यम द्वारा प्रभावित करता है। दूसरा साधन दीर्घकालीन सूद की दरों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। अगर बैंक-दर तरल दशाओं का आविर्भाव करता है तो खुले बाजार का कार्यक्रम उससे भी अधिक तरल दशाओं का। लेकिन बैंक-दर साख का विस्तारण कुछ देर के बाद करती है, जहाँ कि खुले बाजार का कार्यक्रम तुरंत और सफलतापूर्वक।

खुले बाजार के कार्यक्रम की नीति के लिए कुछ शर्तों की आवश्य-कता है—(१) केन्द्रीय बैंक प्रभावपूर्ण संस्था होनी चाहिये। (२) वाणिज्य-बैंक अपने कोषानुसार अपने ऋण और पूँजी-योग को परिचालित करें। (३) मुद्रा बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार बैंक-साख में परिवर्तन हो। (४) अल्पावधिक और दीर्घा-

बंधक प्रतिभूतियों का बाजार विस्तृत होना चाहिये। (५) इनकी maturity नियमित रूप में हो।

लेकिन कई वजहों से इन शर्तों की पूर्ति नहीं हो पाती। (१) नोटों और गड़े सिक्कों से बाधा पहुँच सकती है। (२) वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति को विफल कर सकते हैं। (३) साख माँगने वालों की मनोवैज्ञानिक स्थिति में भयानक परिवर्तन हो सकता है—आशावाद या निराशावाद का जोर हो सकता है।

१९१८ से खुले बाजार के कार्यक्रम का प्रयोग अग्रलिखित उद्देश्यों से हो रहा है :—(१) बैंक-दर को दृढ़ करने के लिये। (२) सरकारी कोषों के प्रवाह के प्रभाव को मिटाने के लिये। (३) स्वर्ण-प्रवाहों को प्रभाव-शून्य बनाने के लिये। (४) सरकारी नीति के संवर्द्धन के लिये। (५) संकट-काल में सस्ती मुद्रा नीति का पालन करने के लिए।

द्वितीय महायुद्ध के समय इस नीति की प्रधानता बहुत बढ़ गई।

हॉट्रे का कथन है कि यह नीति बैंक-दर की नीति के सहयोग से अधिक काम कर सकती है। बिना उसके सहयोग के उसका प्रभाव कम हो जा सकता है। लेकिन केन्स का विचार था कि बिना बैंक-दर की नीति के सहयोग के भी खुले बाजार के कार्य-क्रम की नीति पूरी सफलता के साथ काम कर सकती है। दोनों स्कूल के मानने वाले हैं।

साख नियंत्रण के अन्य साधन

(१) **Rationing of credit**—जैसा कि ऊपर कह आये हैं यह साधन भयानक गलती कर सकता है। लेकिन ऐसे यत्न से योजनाकरण तथा संकट काल में फायदा पहुँच सकता है।

(२) **Dircet Action**—इसके मुताबिक केन्द्रीय बैंक किसी वाणिज्य-बैंक के प्रतिकूल कोई कारवाई कर सकता है। वह बैंकों के

पास अपने विचार का प्रतिनिधित्व कर सकता है, उनके ऊपर नैतिक प्रभाव और बल डाल सकता है। वह उन्हें बट्टा की सुविधा देने से इन्कार कर सकता है। यह स्वस्थ बैंक-अवस्था को पुनर्स्थापित करने का एक बढ़िया उपाय है। यह गुणात्मक नियंत्रण का एक साधन है।

(३) **Moral suasion**—केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों पर नैतिक प्रभाव डालकर उन्हें मनसा, वाचा और कर्मणा से अपनी नीति को मानने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है। "यह प्रत्यक्ष कारवाई" से अधिक प्रभावोत्पादक उपाय है। लेकिन इससे सफलता का मिलना केन्द्रीय बैंक की प्रतिष्ठा और अधिपत्य पर निर्भर करता है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि केन्द्रीय बैंक और उसके सदस्य बैंकों के बीच कैसा व्यवहार है।

(४)**Changes in minimum Cash Reserves of commercial Banks by Central Bank**—यह उपाय अमेरिका में १६३३ में कार्यान्वित और १६३५ में संशोधित हुआ। नाम से ही स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक किसी बैंक को यह आदेश दे सकता है कि उसे कम से कम इतना मुद्रा-कोष अपने पास रखना होगा अन्यथा उससे केन्द्रीय बैंक असहयोग करेगा।

(५) **Changes in Margin Requirement on Security Loans** :—यह साधन अमेरिका में प्रयुक्त होता है। फेडरल रिजर्व सिस्टम ने वाणिज्य बैंकों को सट्टेबाजी में असंयत भाग लेने से रोकने के लिए यह साधन निकाला है।

(६) **Regulation of Consumer's Credit** :—यह भी अमेरिकन साधन है और इसके द्वारा उपभोक्ताओं के द्वारा टिकाऊ वस्तुओं के क्रय के लिए माँगी गई साख के परिमाण का नियंत्रण होता है।

(७) **Publicity** :—प्रकाशन—इसके अनुसार प्रत्येक बैंक को साप्ताहिक रिपोर्टें प्रकाशित करनी पड़ती है जिससे सर्वसाधारण उसकी अवस्था से अवगत हो पाते हैं। यह एक उपादेय साधन है।

केन्द्रीय बैंक का नोट चलाना
(Note-issuing function of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक को नोट चलाने का एकाधिपत्य होता है। उसके नोट कोश-प्रवेश्य होते हैं। पहले की तरह अब किसी देश के सभी बैंकों को नोट चलाने का अधिकार नहीं। केन्द्रीय बैंक इस बात की देख-भाल आज अकेले करता है। उसे एकाधिपत्य होने से नोट चलाने की प्रणाली में स्थिरता आती है। लोगों का विश्वास उसके नोटों में अधिक होता है। इस प्रकार के अधिकार से वह दूसरे बैंकों के साख-प्रसार पर अंकुश रख सकता है। नोट प्रचलन की प्रथा लोचपूर्ण होने के साथ सुरक्षित रहनी चाहिये। इन दो विरोधी तत्वों के सामंजस्य के लिए नियमन की जरूरत है। वर्तमान युग में इसके चार सिद्धान्त प्रचलित हैं।

(१) करेंसी का सिद्धान्त या स्थिर साखाश्रित प्रणाली
(Currency Principle or Fixed Fiduciary System)

इंगलैंड में यह प्रचचित है—यह लोचहीन है—फिर भी संकटावस्था में इसमें लचक लाई जा सकती है—इसके अनुसार ४० पौंड मिलने पर बैंक केवल ४० पौंड के नोट चला सकता है।

(२) बैंकिङ्ग वाला सिद्धान्त या आनुपातिक रिजर्व प्रणाली
(Banking Principle or Proportionl Reserve System)

यह प्रणाली लोचपूर्ण है—यदि इसमें बैंक को ४० इकाई मुद्रा मिल जाय तो १०० इकाई मुद्रा का नोट चलाया जा सकता है—परन्तु इस प्रणाली से कभी करेंसी में बढ़ती बिना माँग रहे भी हो जाती है, इनफ्लेशन का डर अधिक रहता है, सोना के निर्यात से अपेक्षाकृत अधिक साख कम करना पड़ता है और कीमतें इससे गिर जाती हैं जिससे व्यवसाय और व्यापार को क्षति होती है।

(३) नोट चलाने की निश्चित संख्या की प्रणाली

(४) उचित प्रणाली

वही उचित प्रणाली है जो जनता की आर्थिक स्थिति और बैंकिंग आदतों को ध्यानस्थ कर नोट चलाती है।

सरकारी बैंक का काम करना
(Banker of the State)

केन्द्रीय बैंक सरकार का भी बैंक होता है। सरकार को टैक्सों के द्वारा काफी द्रव्य मिलता है जिसे वह विभिन्न मदों में खर्च करती है। यदि सरकार के व्यय और आमदनी का परस्पर संतुलन नहीं रहे तो बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए सरकार केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनी आमदनी प्राप्त और खर्च करती है। इससे मुद्रा-बाजार पर कोई असर नहीं पड़ता। केन्द्रीय बैंक ही सरकारी बही-खाते का प्रबन्ध करता है। उसका काम सार्वजनिक ऋणों का इन्तजाम करना है। उसके साथ सरकारी कोष जमा रहता है। उस कोष पर बैंक कोई सूद नहीं देता। सरकार को करेंसी तथा विनिमय के बारे में राय देने का काम केन्द्रीय बैंक को ही करना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक सरकार को थोड़े काल के लिए कर्ज देता है। वह सरकारी ट्रेजरी बिलों को डिसकाउन्ट करके ऐसा करता है। सरकार को जब राजस्व मिल जाता है तब वह कर्ज को लौटा देती है। युद्ध के समय तो केन्द्रीय बैंक सरकार की काफी मदद करता है। परन्तु सरकार को कर्ज देने से देश में इनफलेशन फैल जाता है। इसलिये लोगों का कहना है कि केन्द्रीय बैंक को सरकार की छत्र-छाया में नहीं रहना चाहिये जिससे वह उसे रुपया के लिए प्रेरित न कर सके। फिर भी जब हम देश के उद्योग-धंधों का, आर्थिक

उपादानों के राष्ट्रीयकरण करने की नीति अपनावें तो हमें केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण करना बहुत जरूरी है।

बैंकों के बैंक का काम करना

(Bankers' Bank)

ज्वाएन्ट स्टॉक बैंक और दूसरे किस्म के बैंक अपना कैस रिजर्व केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं। पहले यह चाल इच्छा पर निर्भर थी। पीछे वह नियमबद्ध कर दी गई। इस प्रथा से बहुत लाभ होता है। एक केन्द्रीय बैंक के पास सभी बैंकों का कैस जमा रहने से कैस के व्यय में किफायतशारी होती है। बैंक भी आपत्ति के समय केन्द्रीय बैंक के हाथों अपने बिल बेचकर अपने रिजर्वों को बढ़ा सकते हैं। इस प्रथा से ही केन्द्रीय बैंक आसानी से मेम्बर बैंकों की आर्थिक नीतियों को बदल सकता है। केन्द्रीय बैंक, इसके अलावे, बैंकों का हिसाब-किताब साफ करने के लिए किलीयरिङ्ग हाउस का काम देता है। उसके साथ बैंकों के कैस रिजर्व रहते ही हैं। इससे केन्द्रीय बैंकों को मदद भी मिलती है। अतः केस के व्यय में मितव्ययिता आती है और थोड़े कैस के अदल-बदल से हिसाब ठीक किया जा सकता है। किलीयरिङ्ग हाउस का काम करने से इस बैंक को मेम्बर बैंकों की सच्ची स्थिति का पता लगता है। फलतः उनके साख-निर्माण के कार्य को केन्द्रीय बैंक और गंभीरता से प्रभावित कर सकता है।

अन्तिम शरण का कर्जदाता

(Lender of the Last Resort)

जब बैंकों का रिजर्व खाली हो जाता है और उन्हें बाहर से कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलती तब केन्द्रीय बैंक की वे शरण लेते हैं और वह उनके बिलों को स्वीकार करके कर्ज देता है। बिल के दलालों

द्वारा लाए गए बिलों को भी केन्द्रीय बैंक स्वीकार करता है। इस कार्य द्वारा बैंकों का बड़ा हित होता है। चूँकि आपत्तियों के समय केन्द्रीय बैंक मेम्बर बैंकों की सहायता करता है, इसलिए जनता का विश्वास उनमें दृढ़ रहता है।

इस स्थिति को अँगरेजी में "Market is in the Bank" कहते हैं। जब सदस्य बैंकों का काम ऋणत्व के पारस्परिक उलट-फेर से जिसे Window-Dressing कहते हैं नहीं चलता तब उन्हें केन्द्रीय बैंक की शरण लेनी पड़ती है। इगंलैंड में यह अप्रत्यक्ष होता है, अमेरिका में प्रत्यक्ष। पीछे हम दोनों देशों की बैंक-प्रणालियों के बारे में लिख आये हैं। उस अंश में इस स्थिति का विशद उल्लेख किया गया है। आगे "लंदन मुद्रा-बाजार बनाम न्यूयार्क मुद्रा-बाजार" शीर्षक अंश में भी इस स्थिति का उल्लेख हमने किया है। विशद ज्ञान के लिए इन दोनों अंशों का पढ़ना आवश्यक होगा।

—::o::—

पंचदश अध्याय

बैंक-दर का सिद्धान्त

आन्तरिक पक्ष

(Theory of Bank Rate)

—Internal Aspect—

सूद की दरें और वस्तुओं का अवधारण

(Holding of Goods)

बैंक-दर मूल्य-तल तथा आर्थिक कार्यों को प्रभावित करने वाला एक सशक्त साधन है। प्रो० हॉट्रे के मतानुसार आढ़तियों के कार्यों के ऊपर अल्पकालीन दरों का जो प्रभाव पड़ता है वही इस परिवर्तन का प्रधान कारण है। लार्ड केन्स में मतानुसार दीर्घकालीन दरों का प्रभाव ही प्रधान है। इन दोनों मतों का प्रस्थान-विन्दु समान है—"दोनों बैंक-नीति को प्रभावोत्पादक मानते हैं, क्योंकि यह वस्तुओं के अवधारण-व्यय को प्रभावित करती।" बैंकवाले वस्तु-अवधारण कार्य को कम या अधिक आकर्षक बना सकते हैं। लेकिन इन दोनों विचारकों में "वस्तुओं की श्रेणी" के संबंध में असमानता है। हॉट्रे का मन्तव्य है कि आढ़तिए जिन वस्तुओं को अपने पास रखते हैं उनका अर्थ-प्रबन्धन अल्पकालीन ऋणों द्वारा ही हो सकता है। अतएव अल्पकालीन दरों का परिवर्तन ही आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का उत्तर दे सकता है। केन्स का मन्तव्य है कि चालू पूँजी (Working Capital) की माँग स्वयं स्थिर पूँजी (Fixed Capital) की माँग के द्वारा निर्धारित होती है और स्थिर पूँजी

के सामानों का अवधारण दीर्घकालीन, गैर-बैंकीय ऋणों द्वारा सम्पन्न हो सकता है।" इन मन्तव्यों के बावजूद दोनों विचारकों में सापेक्षता का भाव है, क्योंकि अल्पकालीन सूद की दरों में होने वाले परिवर्तन दीर्घकालीन सूद की दरों के परिवर्तन के भी कारण बन सकते हैं।

हॉट्रे की विचारधारा

(Hawtrey's Viewpoint)

कोई आढ़तिया तैयार या अर्द्धतैयार वस्तु के स्टॉक रखता है। वह कोई भी व्यक्ति हो सकता है। स्टॉक इसलिये रखे जाते हैं कि उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति में संभावित परिवर्तनों का निराकरण किया जा सके। लेकिन इससे जहाँ सुविधा (Convenience) वहाँ दूसरी ओर इसमें व्यय (Cost) भी है। वह व्यय में कितनी कमी-वेशी चाहेगा यह उसकी सुविधा के लिये लोच के ऊपर निर्भर करेगा। अगर यह लोच अधिक है तो वस्तु-अवधारण के व्यय में होनेवाले किसी परिवर्तन का प्रभाव अत्यधिक होगा। अगर अल्पकालीन सूद की दरें बढ़ जायँ तो ऐसे सामानों को अपने पास रखने का खर्च बढ़ जायगा। इस अवस्था में उत्पादकों की बिक्री घट जाती है। वे भरसक दाम कमकर बिक्री को बढ़ाना चाहते हैं। जब इससे काम नहीं बनता तब लाचार होकर उन्हें अपना उत्पादन कम करना पड़ता है। फलतः उत्पादन के विभिन्न साधनों की रोजी का परिमाण न्यून हो जाता है। पुरानी मशीनों के बदले नई मशीनों का कम प्रति-स्थापन होता है। वर्तमान मशीनों में कम मशीनें जोड़ी जाती हैं। नतीजा यह होता है कि पूँजीगत सामान के व्यापारी भी इससे प्रभावित होते हैं।

अगर अल्पकालीन सूद की दरें गिर जायँ तो सामानों के अवधारण का व्यय कम हो जायगा और आढ़तिए खूब माल खरीदेंगे।

इससे उत्पादन, आदि में वृद्धि होगी। एक विपरीत प्रवृति का बाजार में हमें दर्शन होगा।

हॉट्रे की विचारधारा की विचित्रता यह है कि यह वस्तु-अवधारण के व्यय-संबंधी परिवर्तन को आर्थिक परिवर्तन का प्रधान कारण मानता है। इस प्रकार के तर्क की गंभीरता दो बातों पर निर्भर करती है : (१) स्टॉक रखने के सम्पूर्ण व्यय और सूद की दरों के बीच का अनुपात कितना है। (२) स्टॉक रखने की सुविधा की माँग की लोच कितनी है। लोच वस्तु-वस्तु के अनुसार भिन्न होगी।

ऐसा संभव है कि सम्पूर्ण व्यय का एक तुच्छ अंश सूद की रकम हो। सूद की दर में २० प्रतिशत बढ़ती होने पर भी किसी वस्तु के स्टॉक को रखने के सम्पूर्ण खर्च में केवल २ प्रतिशत बढ़ती हो सकती है। अतएव जब तक किसी उत्पादक की स्टॉक-अवधारण की सुविधा की लोच बहुत अधिक नहीं तब तक सूद की दरों में २० प्रतिशत वृद्धि होने पर भी स्टॉक में ज्यादा कमी नहीं हो सकेगी।

लार्ड केन्स की जिस विचारधारा को हम नीचे दे रहे हैं, उसे १६२६-१६३१ की मैकमीलन कमिटी ने स्वीकार किया था। इसके अनुसार आन्तरिक आर्थिक स्थिति पर बैंक-दर का प्रधान प्रभाव दीर्घकालीन दरों में होनेवाले परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होता है और ऐसा परिवर्तन अल्पकालीन दरों में हुए किसी गहरे परिवर्तन से संबंधित है।

अल्पकालीन दर में परिवर्तन होने से दीर्घकालीन दर में भी एक ही दिशा में परिवर्तन होगा। सूद की दर मुद्रा के लिए एक दाम ही है। प्रत्येक दाम का अपना बाजार होता है। जब बैंक की दर बढ़ाई जाती है तब बिल-बाजार में नई दर प्रभावोत्पादक होती है। लेकिन इसके साथ दूसरी अल्पकालीन दरें भी स्वतः परिवर्तित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ हम संयुक्त-पूँजी के बैंक की Advance Rate और Town Deposit Rate की ओर संकेत कर सकते हैं।

इसका परिणाम यह होता है—जिन लोगों और फर्मों ने बैंकों से उधार लिया है वे पाते हैं कि जिन प्रतिभूतियों (Securities) को उन्होंने जमा किया है उनकी आय (Yield) उधार-व्यय से अधिक हो गई है। अतएव वे बाजार में अपनी प्रतिभूतियों को बेचकर बैंकों को रुपया लौटा देना चाहते हैं। प्रतिभूतियों का बाजर गर्म और तेज हो उठता है। सावधिक-जमा (Time Deposite) से आय अधिक होती है। इसलिये लोग जमा के रूप में अपने कुछ बचत-कोष को रखने लगते हैं। जब प्रतिभूतियों को बेचने के लिए इतनी व्यग्रता होती है तब उनकी कीमतें भी गिर जाती हैं। उनकी आय ज्यादा होती है। इसका स्पष्ट मतलब यह है कि दीर्घकालीन सूद की दर प्रभावोत्पादक हो गई है।

बैंक-दर की वृद्धि का अर्थ है बैंक की सम्पूर्ण पूँजी में कमी। वाणिज्य-बैंकों के ऊपर इस तरह की वृद्धि का तुरंत प्रभाव उनकी तरल प्रणिधियों (Liquid Assets) में संकोच (Contraction) है। अगर यह हालत अधिक समय तक रहेगी तो बैंकों को तरल प्रणिधियों के स्वाभाविक अनुपात को पूर्ववत् करने के निमित्त अपने कुछ "कम तरल" प्रणिधियों का उत्सर्ग करना होगा। कम तरल प्रणिधियों में कर्ज (Advances) और पूँजी-विनियोग (Investment) आते हैं और ऐसा प्रतिभूतियों को (जिनमें से कुछ दीर्घकालीन होती हैं) बेचकर किया जाता है। सुनहली-कोर की (gilt-edged) प्रतिभूतियों का विक्रय दीर्घकालीन सूद-दरों में कुछ वृद्धि करता है।

अभी तक हमने उस स्थिति का वर्णन किया है जिसमें केन्द्रीय बैंक महँगी मुद्रा-नीति (Dear Money Policy) या मुद्रा-संकोचन (Credit Contraction) की नीति को कार्यान्वित करता है। जब वह सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) या मुद्रा-प्रसारण (Credit Expansion) की नीति का अवल-

श्वन करता है तब दूसरे-दूसरे बैंक अपने पूँजी-विनियोग को अधिकाधिक सुनहली कोर की प्रतिभूतियों को खरीदकर बढ़ाते हैं। इन प्रतिभूतियों का दाम बढ़ जाता है, उनकी आय घट जाती है और इससे दीर्घकालीन सूद की दरों में ह्रास होता है। ऊपर जिन दो बाजारों का उल्लेख हुआ है उनकी दरें समान होने की प्रवृत्ति दिखलाने लगती हैं। वे बराबर हो सकती हैं या नहीं भी हो सकती हैं।

सूद की कमी-बेशी इस बात पर निर्भर करेगी कि सर्व-साधारण लोग सूद की दर के भविष्य के बारे में क्या सोचते हैं। बैंक के अधिकारियों को भी जनमत के अनुसार आचरण करना पड़ता है।

लगभग १६ वर्ष पहले अर्थशास्त्रवेत्ता दीर्घकालीन सूद की दरों के ऊपर मौद्रिक अधिकारियों की प्रभुता का वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर करते थे और सामान्य आर्थिक स्थिति पर बैंकिङ्ग नीति का प्रभाव भी बहुत गहरा मानते थे, लेकिन १६३२ ई० में वाल स्ट्रीट में एक भयानक उथल-पुथल हुई। सरकार को सुनहरी कोर की प्रतिभूतियों के दामों को बढ़ाना पड़ा। लेकिन कम अल्पकालीन दरों से पूरा फायदा नहीं हुआ। इससे सरकार को प्रचार (propaganda) की शरण लेनी पड़ी और उससे लाभ भी हुआ। यह एक बहुत मार्मिक घटना है। लेकिन एक कठिनाई है। वह यह है कि कई तरहों की प्रतिभूतियों में कोई अति निकट संबंध नहीं रहता है। एक तरह की प्रतिभूतियों के दाम में वृद्धि हो सकती है लेकिन दूसरी तरह की प्रतिभूतियों के दाम में ह्रास भी हो सकता है। इस समय हालत शोचनीय हो जायगी।

दीर्घकालीन दरें और स्थिर पूँजी में विनियोग

यहाँ हम बैंक-दर में होनेवाले परिवर्तनों के आन्तरिक प्रभावों पर ही विचार करेंगे। बैंक-दर में जब कोई वृद्धि होती है तब उसका

प्रत्यक्ष और प्रधान प्रभाव यह होता है कि स्थिर-पूँजी के सामानों के दाम गिर जाते हैं और दी आय से अधिक बचत होती है। इस वृद्धि का गौण प्रभाव यों होगा—पूँजी-सामानों के दामों के कम होने का मतलब है कि ऐसे सामानों का उत्पादन भी कम हो जायगा और इनके उद्योगों में बेकारी बढ़ने लगेगी। आमदनी घटने लगेगी। खपत कम हो जाएगी। खपत के सामानों के दाम भी कम हो जायेंगे। समूची अर्थिक प्रणाली मन्दी के गर्त में आसीन हो जाएगी। पहले विनियोग-उद्योगों में (Investment Industries) मुनाफा कम हो जाएगा। उसके बाद वह खपत-उद्योगों में भी कम हो जायगी। चतुर्दिक व्यवसाय में मन्दी आरंभ हो जायगी।

विपरीततः बैंक-दर में कोई कमी होने पर आर्थिक प्रणाली के प्रत्येक भाग को प्रेरणा या प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन ये जो प्रभाव पड़ेंगे वे एक साथ नहीं बल्कि धीरे-धीरे।

जिस तरह अल्पकालीन सूद की दरों में हेर-फेर होने से सौदागरों की इच्छा तैयार चीजों को रखने के प्रति बदल सकती है,। उसी तरह दीर्घकालीन सूद की दरों में हेर-फेर होने से उद्योग-प्रवंतकों की इच्छा स्थिर पूँजी-सामानों को रखने के प्रति बदल सकती है। स्थिर पूँजी के सामान के दो उदाहरण कारखाने और मशीनें हैं।

और बातों के सामान रहने पर, पूँजी-निर्माण सूद की प्रभावोत्पादक दर पर निर्भर करेगा। अगर यह दर कम होगी तो उद्योग-प्रणेता पूँजी-विस्तार अधिक करेंगे। अगर यह दर अधिक होगी तो उनके लिए यह काम कम आकर्षक होगा। यह नई मशीनों के निर्माण के संबंध में बात हुई। पुरानी मशीनों के बदले नई मशीनों को बिठाने के बारे में भी इस तरह के विचार होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पूँजी के विकास-कार्य में सूद की प्रभावोत्पादक दर का विचार एक बहुत प्रधान (Crucial) तथ्य है।

पूँजी-विकास का स्वस्थ प्रभाव आर्थिक प्रणाली पर पड़ता है। जब पूँजी-निर्माण अधिक होता तब कच्चे मालों के लिए अधिक माँग होती है और उत्पादन के मौलिक साधनों को खूब रोजी मिलती है। इसलिए उन्हें अधिक परिश्रमिक दिया जाता है। लोगों की मौद्रिक आय बढ़ जाती है आय को वे उपभोग की वस्तुएँ के खरीदने में खर्च करते हैं। उपभोग की वस्तुओं को अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए पूँजी-सामानों की ज्यादा माँग होती है और इसलिये उनका और अधिक उत्पादन होता है। स्फीतिकारी चक्कर शुरू हो जाता है।

ऊपर के चित्र से मालूम होता है कि सूद की दर का प्रभाव व्यापार और दामों पर खूब पड़ता है और यह मौद्रिक-अधिकारियों के लिए प्रशंसा की बात है।

लेकिन अनुभव से पता चलता है कि व्यापार की हालत सूद की दर से बहुत ही कम प्रभावित होती है। १६३० की "बड़ी मन्दी" के समय व्यापार की हालत को प्रोत्साहित करने की कोशिश सस्ती मुद्रा-नीति के द्वारा हुई, लेकिन वह निष्फल हुई। मुद्रा-नीति की सफलता पूँजी के लिए होनेवाली माँग की लोच के ऊपर निर्भर करती है। अगर यह लोच बड़ी है तो मुद्रा-नीति की सफलता भी बड़ी होगी। अगर यह लोच कम है तो उसकी सफलता की मात्रा भी कम होगी।

मुद्रा-नीति का प्रभाव कई वजहों से कम भी हो जाता है। पहली बात तो यह है कि उद्योग-प्रणेता बहुत-से ऐसे अनुमान करते हैं जो अधिकतर दिमागी (Conjectural) होते हैं और इस तरह के अनुमान बहुत अनिश्चित होते हैं। दूसरी बात यह है कि उद्योग-प्रणेता के मस्तिष्क की बनावट भविष्य के प्रति अनिश्चित होती है। मन्दी में चीजें अन्धकारमय जान पड़ती हैं और उस समय सूद की दर में चाहे कितनी भी कमी की जाय उससे उन्हें उत्साहपूर्ण कार्यों

को सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। महँगी के समय सूद की दर में एक अंश तक वृद्धि हो जाने पर भी वे पूँजी लगाने से हतोत्साहित नहीं किए जा सकते, क्योंकि मुनाफे की उम्मीद बहुत ही निश्चित होती है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें भी पूँजी-विकास में काफी धन खर्च करती हैं और इस कार्य में सूद की दरों का प्रभाव पड़ता है। लेकिन एक बात है। सूद की दर में तनिक परिवर्तन का प्रभाव उनपर नहीं के बराबर पड़ता है और यही कारण है कि वे महँगी की अवधि को बढ़ा देती हैं।

बैंक-दर एक सीमित क्षमता वाला हथियार है। इसको बाहरी शक्तियों की सहायता की अपेक्षा रहती है। अगर हम बैंक-दर पर दाम और मुद्रागत आय के ढाँचे में परिवर्तन करने के लिए निभर करें तो हमें यह जान लेना चाहिये कि यह केवल अप्रत्यक्ष और बाधित रूप में ही काम कर सकती है। अपस्फीति लाने के लिए हमें पूँजी-विकास के ऊपर गंभीर चोट करनी होगी और हो सकता है राजकीय अर्थ डँवाडोल हो जाय। मौद्रिक इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं जो यह बतलावे कि महंगी मुद्रा-नीति मौद्रिक आयों में अधोगति ला सकती है। मौद्रिक आयों में उत्कर्ष पैदा करना सहज है, लेकिन इसका प्रभाव अन्यायपूर्ण पड़ सकता है और इससे छोटे-छोटे असंतुलन पैदा हो सकते हैं।

एक बार मैकमिलन कमिटी ने बैंक-दर को सबसे अधिक सुकुमार और सुन्दर यंत्र कहा था। लेकिन शेयर्स का कथन है कि मौद्रिक आयों में सामान्य आवृत्ति पैदा करने लिये तो बैंक-दर एक सुस्त, बेढंगा, और पाशविक यंत्र है, भले ही किसी दूसरे कार्य के लिए यह सबसे अधिक सुकुमार और सुन्दर यंत्र हो।

"Even modification of taxation or subsidies to consumers, though more manageable than a programme of public works, could hardly be applied with the same delicacy of adjustment as Bank Rate; Indeed they are not intended to do the work of Bank Rate ; they are offered as a palliative, in cases where, a severe depression already exists. They are not depended as an improvement on Bank Rate, but their advocates simply assume as axiomatic that Bank Rate does not work."

(*Hawtrey on Bank Rate*)

षष्टदश अध्याय

बैंक-दर का सिद्धान्त

(Theory of Bank Rate)

(वाह्य पक्ष)

(External Aspect)

शोधनाधिक्य (Balance of Payments) जिससे हमें किसी मुद्रा की वैदेशिक विनिमय-बाजारगत माँग तथा पूर्ति का बोध होता है तीन सामान्य बातों पर निर्भर करता है—सापेक्षिक दाम-तल, वैदेशिक विनिमय की दरें और सापेक्षिक सूद की दरें। अगर विनिमय-दर जिससे शोधनाधिक्य संतुलित होता है स्वर्ण-विन्दुओं की सीमा के भीतर हो तो सब चीज ठीक रहेगी और स्वर्ण के लिये माँग किसी ओर से न होगी। क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धान्तानुसार विनिमय-दरें सापेक्षिक मूल्य-स्तर और व्यापार-स्थितियों की द्योतक हैं। जब आयात निर्यात से अधिक होता है और व्यापार-लेखा असंतुलित रहता है तब विनिमय-दर स्वर्ण-निर्यात-विन्दु तक पहुँच जाती है। अगर यह संतुलन अस्थायी होता है तो कोई विशेष गड़ीबड़ी नहीं होने पाती और केन्द्रीय बैंक शान्तिपूर्वक इसका सामना कर सकता है, लेकिन इसके लिए स्वर्ण-कोष इतना होना चाहिये कि सोना बाहर भेजा जा सके। जब असंतुलन स्थायी हो जाता है और स्वर्ण का प्रवाह भी स्थायी हो जाता है तब तो स्वर्ण-कोष ठीक हो जायगा। उस हालत में केन्द्रीय बैंक को आन्तरिक दामों और सूद की दरों को प्रभावित करना होगा जिससे इस मुश्किल (Rot) से छुटकारा मिले।

केन्द्रीय बैंक किस प्रकार इस मुश्किल से छुटकारा दिला सकता है ? केन्द्रीय बैंक बैंक की दर को बढ़ाकर ऐसा कर सकता है। जब परिस्थिति विपरीत हो जाती है तब बैंक की दर को घटाकर सस्ती मुद्रा-नीति को कार्यान्वित करना पड़ता है। लेकिन इस तरह की नीति में उसी समय सफलता मिल सकती है जब अन्तर्राष्ट्रीय एकता और सहयोग हो और सभी देश एक-दूसरे के स्वर्ण-कोष को कायम रखने की सद्भावना से ओत-प्रोत हों।

आरंभ में बैंक-दर का उपयोग बाह्य परिस्थिति का नियंत्रण अल्पकालीन छुटकारा (Palliative) पाने के लिए होता था, न कि सर्वदा के लिए मुक्ति (Cure) पाने के लिए। बैंक-दर को स्वर्ण-प्रमाप की रक्षा में भी प्रयुक्त किया जाता था। कुछ ही वर्षों पूर्व विद्वानों की यह धारणा थी कि बैंक दर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और साख के आदान-प्रदान (Remittance) के हेतु एकान्त प्रभावोत्पादक हथियार है।

वैदेशिक विनिमय-दरों की उचित स्थिरता (लेकिन एकदम स्थिरता नहीं) के सहारे देश स्वर्ण-प्रमाप के प्रमुख लाभों को उसकी त्रुटियों के बिना उठा सकते हैं। प्रत्येक देश के केन्द्रीय बैंक को वैदेशिक विनिमय-दरों की ओर ध्यान देना पड़ता है। स्वर्ण-प्रमाप के तत्वावधान में विनिमय-दर में स्वर्ण-विन्दुओं की सीमाओं के अन्दर ही परिवर्तन हो सकता था लेकिन स्वतंत्र मुद्रा-प्रणाली (पत्र-मुद्रा प्रणाली) के तत्वावधान में विनिमय-दर में अनिश्चित परिवर्तन हो सकता है। पहले में जब कोई असंतुलन होता था तब स्वर्ण-प्रवाह के द्वारा विनिमय-दर स्वाभाविक बनाई जाती थी। दूसरे में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामानों और सेवाओं के प्रवाह द्वारा विनिमय-दर स्वाभाविक होती है। पहले में केन्द्रीय-बैंक स्वर्ण-प्रवाहों को रोकने की चेष्टा करता था दूसरे में वह विनिमय-दरों के परिवर्तनों को रोकने की चेष्टा करता है। लेकिन दोनों में वह बैंक-दर का सहारा लेता है।

जब बैंक-दर में कोई परिवर्तन होता है तब वह वैदेशिक विनिमय-बाजार को तीन धाराओं में प्रभावित करता है। वे ये हैं:—(१) अल्पकालीन मुद्रा-बाजार (२) दीर्घकालीन पूँजी-बाजार (३) व्यापार-संतुलन।

किसी एक देश की बैंक-दर में भिन्नक (Differential) परिवर्तन होने पर अल्पकालीन मुद्रा-बाजार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। जब किसी देश की अल्पकालीन दरें दूसरे देशों की अल्पकालीन दरों की तुलना में बढ़ जाती हैं तब वह देश उधार लेने-वालों के लिए महँगा और उधार देनेवालों के लिये लाभदायक हो जाता है। पूँजी उधार लगाने वाले महँगी मुद्रा-केन्द्रों द्वारा खूब आकर्षित होते हैं। स्वर्ण-प्रमाप की स्थिति में ऐसे केन्द्रों में काफी सोना आ सकता है या सोना का बाहर जाना एकदम स्थगित हो जा सकता है। पत्र-मुद्रा-प्रणाली में कोषों के आवागमन से एक देश की मुद्रा का वैदेशिक विनिमय-मूल्य बढ़ सकता है।

अल्पकालीन दरों में जब कोई परिवर्तन होता है तो वह दीर्घ-कालीन बाजार में भी परिव्याप्त हो जाता है और दीर्घकालीन बाजार भी उसी तरह प्रभावित होता है। दुनिया के कुछ केन्द्र (मुद्रा-बाजार) दीर्घकालीन कर्जदार और कर्जदाता के रूप में काफी विख्यात होते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि एक दिशा में मुद्रा-प्रवाह में परिवर्तन केवल उन्हीं केन्द्रों में होगा। कर्जदाता देश से मुद्रा कर्जदार देश में प्रवाहित होगी और जब ऋणी देश मुद्रा लौटायेंगे तब उनके यहाँ से मुद्रा का प्रवाह कर्जदाता देशों में होगा। प्रतिभू-तियों का क्रय-विक्रय भी उसी तरह होगा। हाँ, यह बात जरूर है कि जोखिम दीर्घकालीन कर्ज के आदान-प्रदान में अधिक होती है।

व्यापार-लेखा में वस्तुएँ और सेवाएँ (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) चालू दरों पर सम्मिलित रहती है। बैंक-दर देश के मूल्य-तल और समस्त मौद्रिक-आयों को प्रभावित करती है और जब इनमें हेर-

फेर होते हैं तब व्यापार-लेखा भी प्रभावित होकर संतुलित हो जाता है।

मानलीजिए बैंक-दर बढ़ा दी गई है। साख में संकोचन लाने के लिए महँगी मौद्रिक-नीति अपनाई गई है। कीमतें कम हो जायेंगी। कच्चे मालों और पूँजीगत सामानों का आयात कम हो जायगा। निर्यात बढ़ेगा। उपभोग-सामानों का निर्यात कम हो सकता है। अन्ततः इस तरह की नीति का असर वाह्य अर्थ-प्रणाली पर पड़ेगा। अगर इस तरह की नीति चालू करने वाला देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रमुखता रखता है तब इसकी अधिस्फीति की नीति का समान प्रभाव दूसरी जगह भी पड़ेगा।

गर्म-मुद्रा (Hot Money) का स्थान हिसाब-लेखा (Balance of Accounts) में बहुत ही प्रधान है। बैंक-दर में परिवर्तन होने से गर्म-मुद्रा के पर्यटन पर रोक लग जाती है। अल्पकालीन कोषों के प्रवाहों को उत्पन्न करने की दृष्टि से बैंक-दर एक सुन्दर शस्त्र हो सकती है, लेकिन इसकी प्रभावोत्पादकता दो शर्तों पर निर्भर करेगी :— (१) अल्पकालीन कोषों (funds) के लिए एक अच्छे बाजार का रहना (२) किसी मुद्रा के वैदेशिक विनिमय-मूल्य के भविष्य के बारे में लोगों का विश्वास रहना। पहली शर्त का मतलब है कि मुद्रा के विनियोग का सुन्दर स्रोत रहना चाहिये। इसके लिए बैंक-संबंधी सुविधाएँ रहें और साख की प्रसिद्धि भी रहे। लंदन बिल बाजार के लिए स्वीकार गृह (Accepting Houses) की और ट्रेजरी-बिल-बाजार के लिये बृटिश सरकार और वाणिज्य-बैंकों की साख-ख्याति काफी सुदृढ़ है। इस तरह के बैंकों में दुनिया-भर का विश्वास है। लेकिन दक्षिणी अफ्रीका के बैंकों की साख अच्छी नहीं।

प्रख्यात् मौद्रिक-बाजारों की बिल-दर ही अन्य देशों के लिये मान्य होती है। इसके विपरीत टूटपूँजिया बाजारों की जमा-दरें ही निर्णयक दरें होती हैं।

दूसरी शर्त का अभिप्राय है कि जब तक किसी देश की मुद्रा में लोगों का विश्वास नहीं रहेगा तब तक बैंक दर में थोड़े भिन्नक परिवर्तन का कोई ठोस प्रभाव कोषों के आवागमन पर नहीं पड़ सकेगा। अगर कोई देश अपनी बैंक-दर में १ या २ प्रतिवर्ष परिवर्तन करे लेकिन दूसरे देशों को आशंका हो कि उस मुद्रा की वैदेशिक विनिमय मूल्य २० प्रतिशत कुछ दिनों के बाद गिर जायगा तब वे अपना रुपया उस देश में न छोड़ेंगे और न अधिक लगावेंगे। उस हालत में बैंक-दर का प्रभाव शून्य हो जायगा। इस तरह की चीज से बहुत विकसित देश भी मुक्त नहीं। जब देश स्वर्ण-प्रमाप पर नहीं रहते तब इसकी जोखिम अत्यधिक होती है। स्वतंत्र पत्र-मुद्रा की प्रचलनावस्था में बैंक दर का प्रभाव अत्यन्त कम होता है। लेकिन स्वर्ण-प्रमाप की अवस्था में भी यह प्रभाव सबल नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि १६३१ की ग्रीष्म ऋतु में लंदन की अल्पकालीन दरें न्यूयार्क और पेरिस की अल्पकालीन दरों से अधिक बढ़ती ही गईं, लेकिन लोग स्टरलिंग से खिचते जा रहे थे। उनका ख्याल था कि ब्रिटिश व्यय-तल इतना अधिक और बजट की हालत इतनी शोचनीय थी कि स्टरलिंग में भयानक परिवर्तन हो रहे थे और हो सकते थे। इसमें खतरा था और लोग इस खतरे से भाग रहे थे। कुछ अर्थशास्त्रियों ने सलाह दी कि बैंक-दर को बढ़ाकर इस प्रवृत्ति को रोका जा सकता है, लेकिन इस सलाह से बहुत अधिक असफलता ही रही। इसी तरह १६३३-१६३६ के बीच फ्रांस की बैंक-दर बहुत बढ़ाई गई थी लेकिन लोगों को इससे आशंका हुई कि फ्रांस ऋण की ख्वाहिश कर रहा था, क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी।

इधर एक नयी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। अग्र-विनिमय बाजार (Forward Exchange Market) विकसित हुआ है। कुछ

अर्थशास्त्रज्ञों का दावा है कि अब ऐसे बाजार के द्वारा बैंक-दर को बढ़ाकर कोषों को आकर्षित किया जा सकता है। लेकिन इस तरह के विचार की एक कमजोरी है। कोषों को आकर्षित करना इस बात पर निर्भर है कि मुद्रा का भविष्य कैसा है। अगर उज्ज्वल भविष्य है तो ठीक है। अगर भविष्य धुन्धला है तो यह ठीक नहीं। यदि भविष्य सशंकित है तो किसी मुद्रा के लिये Cover प्राप्त करना कठिन है। उसपर अधिक बट्टा (Discount) लगेगा। अगर भविष्य ठीक है तो प्रीमियम भी अच्छा मिल सकता है। शेयर्स का कथन है कि इधर के अनुभव से तो यही ज्ञात होता है कि अग्र-विनिमय बाजार की कुशलता सीमित है।

यही कारण है कि अन्तरपणन (Arbitrage) का बाजार परिमित। है अल्पकालीन कोषों के प्रवाह का नियमन करने के लिए बैंक-दर एक सुकोमल और सुन्दर साधन है, लेकिन यह हर हालत में काम नहीं दे सकता। सामान्य अवस्थाओं में यह ठीक तरह से काम करता है। लेकिन इसका व्यवहार प्रत्येक सोचे-विचारे ध्येय की पूर्ति के लिए नहीं हो सकता।

बैंक-दर अपने आन्तरिक कार्य-विधान में धीरे-धीरे काम करता है। दीर्घकाल में इसका प्रभाव खूब हो सकता है, लेकिन थोड़े समय में इसका प्रभाव नाम मात्र का होता है। यही कारण है कि अर्थशास्त्री आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को खुले बाजार में कार्यों द्वारा प्रभावित करना चाहते हैं।

बाहरी विषयों में भी बैंक-दर का प्रभाव अप्रत्यक्ष ही पड़ता है। यह व्यय और आय को प्रभावित करती है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से। फिर भी यह पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान का नियंत्रण अपेक्षा-कृत अच्छा करती है। लेकिन शेयर्स का उपसंहार है कि भविष्य उसी देश के लिए उज्ज्वल हो सकता है जो केवल बैंक-दर पर ही अवलम्बित नहीं रहता बल्कि दूसरे साधनों की भी सहायता लेता

है। क्राउथर का भी कथन है कि इन दिनों बैंक-दर पृष्ठभूमि में एक फलक्रम का काम करता है जिस पर सूद की दरें कम-बेश की जाती हैं और जब एक महान् परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है तभी इस फलक्रम से काम लिया जाता है।

सप्तदश अध्याय

पूंजी-संग्रह और पूंजी-नियोग पर केन्द्रीय बैंक का प्रभाव

(Effect of Central Bank on Saving and Investment of Capital)

केन्द्रीय बैंक पूँजी-संग्रह और पूँजी-नियोग के घनत्व को सूद की दरों के द्वारा प्रभावित कर सकता है। वह सूद की दरों को घटा-बढ़ा सकता है। पूँजी-संग्रह करनेवालों को सूद मिलता है और पूँजी-लगाने वालों को सूद देना पड़ता है।

अगर पूँजी-नियोग का परिमाण पूँजी-संग्रह के परिमाण से अधिक है तो केन्द्रीय बैंक सूद की दर को बढ़ाकर दोनों को सामान करने का प्रयत्न कर सकता है। सूद की दर बढ़ जाने पर पूँजी-नियोग के लाभदायी मार्ग कम हो जायेंगे और पूँजी-संग्रह के जरिये बढ़ जायेंगे। लोग अधिक प्रोत्साहन के साथ अर्थ-संग्रह करेंगे। दूसरी ओर, अगर पूँजी-संग्रह पूँजी-नियोग से अधिक है और केन्द्रीय बैंक दोनों को बराबर करना चाहता है तो वह सूद की दर को कम कर देगा। इसका परिणाम यह होगा कि यह पूँजी-नियोग को प्रभावित करेगा। अधिक लोग व्यवसायों में पूँजी लगायेंगे। पूँजी की खपत बढ़ जाएगी। अर्थ-संग्रह करने की ओर से लोगों का आकर्षण कम पड़ जायगा।

सिद्धान्ततः सूद की एक ऐसी दर संभव है जो पूँजी-संग्रह तथा पूँजी-नियोग दोनों को समान कर सकती है। लेकिन क्रियात्मक रूप में ये दोनों बराबर सुगमतापूर्वक होते नहीं।

जब केन्द्रीय बैंक बैंक-दर को कम कर देता है तब वह अधिक प्रतिभूतियों (Securities) को खरीदने के लिये एक नीति कार्यान्वित करता है। सदस्य-बैंकों के संचय-कोष (Reserves) बढ़ जाते हैं। उसी तरह जब केन्द्रीय बैंक बैंक-दर को अधिक कर देता है तो वह प्रतिभूतियों को बेचने के लिए एक नीति कार्यान्वित करता है। इसके फलस्वरूप सदस्य-बैंकों के संचय-कोष कम हो जाते हैं। जब केन्द्रीय बैंक बैंक-दर को घटाता-बढ़ाता है तब सदस्य-बैंक संचय-कोष को बढ़ाते-घटाते हैं। दोनों नीतियों या क्रियाओं में सम्बन्ध-भाव है। एक नीति शीघ्र दूसरी नीति द्वारा प्रभावित होती है।

केन्द्रीय-बैंक पूँजी-संग्रह और पूँजी-नियोग-दोनों के बीच के असंतुलन का अनुमान पहले से ही लगा ले सकता है, क्योंकि इस प्रकार के असंतुलन के साथ समाज की मौद्रिक प्रवृत्तियाँ भी बदल जाती हैं। जब पूँजी-योग का कुल घनत्व पूँजी-संग्रह के कुल घनत्व से ज्यादा होता है तब समाज में अधिस्फीति सक्रिय रहती है। जब पहले का कुल परिमाण दूसरे के कुल परिमाण से कम होता है तब अपस्फीति की दशा होती है।

अब सवाल उठता है कि इस प्रकार के असंतुलन के निराकरण लिए कौन सूद की दर सबसे अधिक उपयुक्त होगी ? इसका ठीक उत्तर देना मुश्किल है। केवल अन्तर्दृष्टि और अनुभव से ही केन्द्रीय बैंक लाभ उठा सकता है। ऐसा संभव है कि लोकमत केन्द्रीय बैंक द्वारा चुनी गई सूद की दर को स्वीकार नहीं करे।

अगर अधिस्फीति बहुत आगे बढ़ चुकी है तो उसको रोकने के लिए सूद की दर में काफी वृद्धि करनी होगी। इसकी दो वजहें हैं— (१) अगर अधिस्फीति बहुत बढ़ गई है तो वस्तुओं के दाम बहुत बढ़ेंगे। औद्योगिक प्रतिभूतियों की कीमतें भी बड़ी तेजी के साथ बढ़ेंगी। उनमें सट्टेबाजी भी खूब होगी। (२) अधिस्फीति की

अवधि असीम आशावाद की अवधि होती है। चातुरी की भी हद होती है और सभी भविष्य को गुलाबी चश्मों से देखते हैं।

जब कीमतों की बढ़ती के कारण व्यावसायिओं के मुनाफे भी बढ़ते जा रहे हों और वे अधिकाधिक पूँजी लगा रहे हों तब सूद की दरों को इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए अधिक ही अधिक बढ़ाना होगा। पूँजी लगाने वालों के दिमाग में भी यह बात घर किये रहती है कि मुनाफे बहुत ही अधिक हैं। ठीक उसी तरह कीमतों के घटने पर परिस्थिति सहसा बदल जाती हैं।

लेकिन एक बात है। कोई भी आदमी ऋण उस समय तक नहीं लेता जब तक उसे इस बात की उम्मीद नहीं हो कि जितना सूद उसको देना पड़ेगा कम-से-कम उसके बराबर उसे मुनाफा मिलने की भी आशा है।

जब कीमतें द्रुतवेग से गिर रही हों तब बैंकों को ऋणात्मक सूद लेने के लिए भी तैयार होना पड़ सकता है। लेकिन एक बात स्पष्ट है। किसी भी बैंक-प्रणाली में इस तरह की बात नहीं देखी जाती। फिर, अधिस्फीति और अपस्फीति की प्रारंभिक अवस्थाओं में उनका सामना अपेक्षाकृत कम कठिनाई से किया जा सकता है। बैंक-दर या सूद-दरों में थोड़ा कमी-बेशी करने से ही काम निकल जा सकता है, लेकिन उस समय ऐसा नहीं किया गया तो आगे चलकर उनमें बहुत कमी-बेशी करनी पड़ेगी और इसमें काफी मुसीबत महसूस हो सकती है।

केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण बैंक-दर पर प्रत्यक्ष होता है। बैंक-दर वह सूद-दर है जो केन्द्रीय-बैंक अपने सदस्य-बैंकों को (अमेरिका में) या मुद्रा-बाजार को (इंगलैंड में) कर्ज देते समय लेता है। केन्द्रीय-बैंक का नियंत्रण अन्य मौद्रिक सूद की दरों पर परोक्ष होता। लेकिन वह जो ऋण देता है वह पूँजी-नियोग के लिए नहीं होता। वह देयता या मुक्ति-प्राप्ति (Solvency) की क्षमता

को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दिया जाता है या इसलिए दिया जाता है कि ये मौद्रिक संस्थाएँ मुद्रा-कोष के संबंध में जो नियम हैं उनका पालन ठीक से कर सकें।

बैंक-दर में कमी-बेशी का प्रभाव पूँजी-योग पर उसी हद तक पड़ेगा जिस हद तक सूद की दर में भी अनुरूप कमी-बेशी होती है। अगर बैंक-दर कम कर दी गई तो लोग स्वभावतः अधिक पूँजी लगावेंगे लेकिन यह तब तक नहीं हो सकता जब तक सूद की दर जिसे उन्हें देना पड़ता है खुद कम न हो जाय।

पूँजी लगाने वाले दो तरहों से पूँजी उधार लेते हैं (१) बैंकों से कर्ज लेकर (२) पूँजी-बाजार में प्रतिभूतियों को चलाकर। वाणिज्य बैंक पहली दशा में और लेखन-गृह (Writing House) दूसरी दशा में पूँजी उधार देते हैं।

पहली दशा को लीजिये। कुछ निश्चित सीमाओं में वाणिज्य-बैंकों के द्वारा कर्ज पर ली गई सूद की दर बैंक-दर के साथ ही बदलती है। ग्रेट ब्रिटेन में सूद की परम्परागत दर बैंक-दर से सामान्यतः २ प्रतिशत अधिक रहती है। जब बैंक-दर ३ प्रतिशत रहती है तब सूद-दर ४½ और ५ के बीच में रहती है। जब वह ३ प्रतिशत से अधिक रहती है तब सूद की दर ५ प्रतिशत से अधिक रहती है। जब वह साधारणतया ३ प्रतिशत से कम रहती है तब सूद की दर ५ प्रतिशत रहती है। जब वह स्पष्टतया ३ प्रतिशत से कम रहती है तब सूद की दर ५ प्रतिशत से कम रहती है। सूद की दरों का महत्व मुनाफे के दृष्टिकोण से है। कोई भी बैंक अपनी आमदनी को एक अमुक विन्दु से कम होना पसन्द नहीं कर सकता।

हमारा निष्कर्ष यह है कि जहाँ तक बैंक-ऋण से पूँजी-योग का प्रश्न है, केन्द्रीय बैंक हरदम ली जाने वाली सूद की दर में वृद्धि कर सकता है, लेकिन उसमें कमी करने की शक्ति उसकी सीमित होती है।

अब दूसरी दशा पर विचार करें। नई प्रतिभूतियों को चलाकर मुद्रा उधार लेने पर जो सूद देना पड़ता है वह इन प्रतिभूतियों की लाभदायिता के ऊपर निर्भर करेगी। स्वयं लाभदायिता भी प्रतिभूतियों की कीमतों के ऊपर निर्भर करेगी। जब दाम अधिक होगा तब लाभदायिता कम होगी। जब दाम कम होगा तब लाभदायिता अधिक होगी। केन्द्रीय बैंक सूद की दर को उसी हालत में प्रभावित कर सकता है जब यह तत्कालीन प्रतिभूतियों के दामों को प्रभावित कर सके।

जब केंद्रीय बैंक अपनी बैंक-दर को घटा देता है तब मुद्रा-बाजार में सूद की दर भी कम हो जाती है। नतीजा होता है कि विनिमय बिलों और दूसरे पत्रों की लाभदायिता कम हो जाती है। सरकारी बोन्डों की माँग बढ़ जाती है। सरकारी प्रतिभूतियों के दाम बढ़ जाते हैं और उनसे उत्पन्न लाभ कम हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि बैंक-दर के परिवर्तन का प्रभाव दूसरी सूद-दरों पर भी पड़ता है और अगर उसके साथ खुले बाजार का कार्यक्रम (O. M. O.) भी अपनाया जाय तो प्रभाव और भी गहरा पड़ेगा। बात भी ऐसी है। इधर बैंक-दर की अपेक्षा खुले बाजार के कार्य क्रम का प्रयोग अधिक हुआ है। बैंक-दर एक बहुत शक्तिशाली साधन जरूर है लेकिन इधर यह पृष्ठभूमि में फलक्रम की तरह रखी गई है और उसपर सूद की दर नीचे-ऊपर Levered अधिक सुकुमार साधनों द्वारा की जाती हैं। जब सूद की दरों में खूब परिवर्तन करना रहता है तभी बैंक-दर को घुमाया जाता है। सामान्य काल में सूद की दरें अन्य दरों को भरपूर आकर्षित करती हैं। इन दरों में पूँजी-योग को उत्प्रेरित करने वाली दरों से हमारा मतलब अत्यधिक होता है। लेकिन कुसमय में इन दरों का प्रभाव एकदम कम पड़ता है और ऐसा मालूम पड़ता है मानो लड़ी ही भंग हो गई हो।

अगर वह सूद की दर भी निश्चय कर ली जाय जिस पर पूँजी-संग्रह तथा पूँजी-योग दोनों बराबर होंगे तो भी केन्द्रीय बैंक का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव उन सूद की दरों पर नहीं रह सकता, जिन्हें पूँजी लगाने वाले देना चाहते। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव यद्यपि अधिक होता है, तथापि वह धीरे-धीरे काम करता है और कठिन अवसरों पर धोखा भीं दे जा सकता है। ऐसी हालत में केन्द्रीय बैंक यह जानते हुए भी कि पूँजी-संग्रह तथा पूँजी-योग में असंतुलन है, उसे दूर करने में असमर्थ सिद्ध हो सकता है।

बैंक प्रणाली की शक्ति अधिस्फीति को रोकने में अधिक होती है, लेकिन अपस्फीति को रोकने में कम। अधिक मुद्रा की सृष्टि न करके अधिस्फीति को एक अन्त तक पहुँचाया जा सकता है। अपस्फीति में बैंक नई मुद्रा की सृष्टि करने की इच्छा या चेष्टा कर सकते हैं लेकिन लोग नई मुद्रा को ग्रहण करने या लगाने से इन्कार कर सकते हैं हैं। जब सूद की दर बहुत अधिक हो जाती है तब पूँजी-योग से लाभ-प्राप्ति की उम्मीद कम हो जाती है और पूँजी लगाना बन्द भी हो जा सकता है। दूसरी ओर, सूद की दर कम होने पर पूँजी-योग करने पर अधिक लाभ की आशा की जा सकती है, लेकिन यदि भविष्य में लोगों का विश्वास कम है तब कितने लाभप्रद व्यवसाय इसलिये नहीं किये जायेंगे कि उनमें अर्थ लगाने में जोखिम अधिक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आम जनता को निराशापूर्ण भविष्य के कथन द्वारा भयभीत करना सहज है, लेकिन उनकी आशंकाओं को कम करना कठिन है।

सुधार करनेवाले अगर प्रयास आरंभ में ही अमल में लाए जायँ तो उससे अधिक सफलता मिल सकती है। चाहे अधिस्फीति हो या अपस्फीति अगर उसे अधिक अवसर दिया जाय तो उसका वेग बढ़ जा सकता है। उस समय उसे नियंत्रण में लाना कठिन-कार्य हो जायगा। दामों की वृद्धि से अधिक लाभ होता है। उससे अधिक

पूँजी लगाई जाती है। उन्नति अधिक होती है। मुक्त व्यय होता है। दाम और भी बढ़ चलते हैं। आशावाद स्वतः पनपता जाता है। फिर, दामों की अवनति से व्यवसायिओं को घाटा होता है। कम पूँजी लगाई जाती है तो बेकारी बढ़ती है। वस्तुओं के लिये माँग घट जाती है। दाम और भी घट चलते हैं। बेकारी और भी बढ़ जाती है। निराशावाद स्वतः पनपता जाता है।

अपस्फीतिके आरंभ में सूद की दरों को जरा-सा कम कर देने और साख के कोष को थोड़ा-सा बढ़ा देने पर पूँजी-योग बढ़ जा सकता है और असंतुलन कायम रखा जा सकता है। उसी तरह अधिस्फीति के शैशव में साख में थोड़ी-कमी कर देने पर और सूद की दरों को थोड़ा-सा बढ़ा देने पर ही पूँजी-योग घट जा सकता है और संतुलन स्थापित हो सकता है। लेकिन असंतुलन या संतुलन का बतलाना दुरूह है। आर्थिक अवस्थाएँ देर से अपने को प्रकट करती हैं। केन्द्रीय बैंक को आँकड़े भी बिलम्ब से उपलब्ध होते हैं। उसके बाद केन्द्रीय बैंक सोचता-विचारता है कि उसे क्या करना चाहिये। तब वह कुछ साधन कार्यान्वित करता है। लेकिन इनके प्रभावोत्पादक बनने में समय लगता है। तब तक कोई व्यवधान या असंतुलन गहरी जड़ बना ले सकता है।

इसी बात को लक्ष्य कर क्रौथर ने लिखा है "अधिस्फीति को रोकना अपस्फीति को रोकने की अपेक्षा सहज है। जब तक कोई— चाहे अधिस्फीति हो या अपस्फीति—यौवनावस्था में है तब तक उसे खत्म किया जा सकता है। यह आसान भी है। न्यूनतम विरोध का मार्ग जो केन्द्रीय बैंक के लिए सुगम्य है वह यह है कि वह चौकन्ना रहे और आरंभ में ही इन दोनों का काम तमाम कर डाले। सूद की दर कम करके इच्छुक जनसाधारण रूपी घोड़े को साख-कोष रूपी सरोबर के पास ले जाकर पानी पीने के लिए छोड़ देना सहज है, लेकिन घोड़े को यह प्रेरित करना कि वह अमुक मात्रा में पानी पीये, सहज नहीं। हम ग्रामोफोन या मोटर के गवर्नर की भी

उपमा दे सकते हैं। मुद्रा का परिमाण गवर्नर के तुल्य है और मूल्य-स्तर मेनस्प्रिंग के समान। "But in the shorter period of trade cycles, it is not the governor but the mani-spring that is dominanat."

पर्वत पर चढ़ना बड़ा मोहक कार्य है परन्तु उससे नीचे उतरना असुखकर होता है। उसी तरह महँगी बहुत ही सुखदायिनी होती है। जब ऐसी बात है तब यह सवाल उठ सकता है कि क्या केन्द्रीय बैंक को इसके आनन्ददायी अस्तित्व को खत्म कर देना चाहिये ? इतिहास पर आँख गड़ाया हुआ अर्थशास्त्री "हाँ" कहेगा। वह कहेगा कि उन्नति की गति धीमी, परन्तु निश्चित होनी चाहिये और ऐसी गति से न्यूनतम दुःख या क्लेश होता है। लेकिन केन्द्रीय बैंक के साथ बात और ही है। वह तो राजनीति के प्रखर आलोक में रहता है। उसे सरकारी नीति का भी पालन करना पड़ता है और वह लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकता। वह विलम्ब भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसके लिए घातक हो सकता है। ऐतिहासिक घटनाओं की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि महँगी को जल्दी से न तो रोका गया है और न रोका ही जा सकता है। यह एक कठिन समस्या है।

दुनिया महँगी और सस्ती के आरोह-अवरोह से अभ्यस्त हो गई है। पेनडुलम बड़ी तेजी से घूम रहा है। इसे स्थिर करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अधिक समय तो यही मालूम होता है कि केन्द्रीय बैंक किसी संतुलन को कायम नहीं रखता बल्कि एक असंतुलन के द्वारा दूसरे असंतुलन को हटाने की कोशिश करता है। जब अधिस्फीति विकसित होने लगती है तब वह अपस्फीति की शक्तियों को कार्यान्वित करता है और जब अपस्फीति विकसित होने लगती है तब वह अधिस्फीति की शक्तियों को प्रोत्साहित करता है। केन्द्रीय बैंक का काम बाधा या असंतुलन के ताजे कारणों की खोज करना और उन्हें खत्म करना नहीं बल्कि गहरे और भयंकर परिव-

र्तनों को स्थिर करना है। इसके लिए स्फूर्ति और तत्परता की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति उसी समय हो सकती है जब केन्द्रीय बैंक और सदस्य बैंकों में ध्येयों में एकता हो। व्यापार-चक्रों को नियंत्रित करना उस समय सुगम हो सकता है जब पूँजी-योग के धनत्व पर नियंत्रण हो सके और पूँजी-योग तथा पूँजी-संग्रह दोनों समान हों। इसके लिए पूँजी-योग के सम्पूर्ण कोष के साथ उसकी दिशा पर भी नियंत्रण रखना होगा।

———

अष्टदश अध्याय

कुछ प्रसिद्ध मुद्रा-बाजार

(Some Important Money-Markets)

लंदन का मुद्रा-बाजार

(London Money Market)

इसमें निम्नलिखित संस्थाएँ हैं :—

(१) बैंक ऑफ इंगलैंड

(२) किलयरीङ्ग बैंक

(३) नन-किलयरीङ्ग बैंक

(४) डिस्काउन्ट और एक्सेप्टेन्स हाउसेज

(५) बिल ब्रोकर्स

(६) फिनान्स कम्पनियाँ

बैंक ऑफ इंगलैंड के बारे में काफी विस्तार से पीछे लिखा जा चुका है। किलयरीङ्ग बैंक चेक-डिपोजीट प्रणाली से लगाव रखते हैं। वे अपने सदस्यों को एडवान्स देते हैं। वे खुद उद्योग-धंधों में रुपया-पैसा लगाते हैं। नन-किलयरीङ्ग बैंक उतने प्रसिद्ध नहीं हैं। वे छोटे-मोटे कार्यों को पूरा करने का भार लेते हैं। वे दुनिया के कुछ भागों में रुपया-पैसा लेने-देने का काम करते हैं। वे बड़े-बड़े बैंकों के एजेन्ट भी होते हैं। उनका प्रधान काम देश-देश के बीच विनिमय को चलाना है। चौथी संस्थाएँ डिस्काउन्ट और एक्सेप्टेन्स हाउसेज हैं। उनका काम कटौती पर विनिमय के बिलों को खरीदना-बेचना है। उन्हें बिलों का व्यवसाय करने वाले फर्मों का पूरा ज्ञान

रहता है। कितने विदेशी विक्रेता अपरिचित क्रेताओं को अपना माल नहीं देना चाहते हैं। वे बैंकों को अपना मध्यस्थ बनाकर उन्हें अपना माल भेजते हैं। क्रेता के बैंक और विक्रेता के बैंक दोनों का निकट संबंध होता है। अतएव वे विनिमय के बिलों को सहर्ष स्वीकार करते हैं। एक्सेप्टेन्स हाउसेज अपनी ख्याति से क्रेताओं को माल खरीदने में समर्थ बनाते हैं और इसके बदले में कुछ कटौती—Discount—उन्हें मिलती है। पाँचवी संस्था, बिल के दलालों की है। ये लोग सीधे बिलों को नहीं स्वीकार करते। वे आपस में और दूसरे बैंकों के हाथों बिलों की खरीद-बिक्री करते हैं। दलालों के दो भेद हैं—चलते (Running) दलाल और खुदरा (Retailer) दलाल। चलते दलाल बाजार से बिल एकत्र करते हैं और वे कभी बाहरी सौदागरों से भी बिल खरीद लिया करते हैं। बाद में वे तुरन्त उन्हें सबसे अधिक दाम पर बेच देते हैं। उन्हें बाजार का ज्ञान होता है। इसलिए वे जान लेते हैं कि किस जगह पर किस बिल के लिए सबसे अधिक कीमत मिलेगी। वे स्वयं बिलों का स्टॉक नहीं रखते। वे उन्हें खरीदकर कुछ समय के लिए अपने पास रखते हैं और फिर बैंकों और दूसरी संस्थाओं के हाथों उन्हें बेच देते हैं। ऐसे बैंक उन बिलों को लेने से नहीं हिचकते जिनकी परिपक्वता में कुछ ही दिन बाकी रहते हैं। छठी संस्थाएँ फिनान्स कम्पनियाँ है। वे अधिक काल के लिए रुपया उधार दिया करती हैं। उनके सदस्य खासकर बाहरी लोग होते हैं। विदेशी सरकारें और अधिकारी उनसे रुपया कर्ज लेते हैं। संक्षेप में लंदन के मुद्रा-बजार की यही रूपरेखा है।

न्यूयार्क का मुद्रा-बाजार

(Money Market in New-York)

इस मुद्रा-बाजार में अमेरिकन फिनैनसियरों के साथ विनिमय का बिल कभी भी लोकप्रिय नहीं रहा है। बीस वर्षों से डिस्काउन्ट

बाजार की उन्नति के लिए चेष्टा की जा रही है, परन्तु सफलता नहीं मिली है। अल्पकालीन कर्जों की माँग भी इस बाजार में अधिक है। इसकी माँग करने वाले स्टॉक ब्रोकर्स हैं। लंदन डिस्काउन्ट ब्रोकर्स के समान ही इनकी जरूरत होती है। दोनों के पास मूल्यवान पूँजी-पत्र रहते हैं जिनकी स्वतंत्र खरीद-बिक्री होती है। परन्तु दोनों में फर्क भी है। डिस्काउन्ट ब्रोकर्स अपने काम के लिए उधार लेते हैं परन्तु स्टॉक ब्रोकर्स अपने मवक्किलों के लिये उधार लेता है। डिस्काउन्ट ब्रोकर के बिलों के मूल्य में थोड़ा हेर-फेर होता है, परन्तु स्टॉक ब्रोकर के स्टॉक और शेयरों के मूल्य तेजी से घटते-बढ़ते हैं। डिस्काउन्ट का बाजार चंचल नहीं होता परन्तु स्टॉक का बाजार बहुत ही अस्थिर होता है। डिस्काउन्ट ब्रोकर को यह सुविधा है कि वह बैंक ऑफ इंगलैंड से अपने बिलों की जमानत पर कर्ज ले सके परन्तु फेडरल रिजर्व बैंक ऐसी सुविधा दूसरे प्रकार के बैंकों को नहीं देते।

लंदन में जितनी संस्थाओं का उल्लेख किया गया है वे सभी न्यूयार्क में भी मौजूद हैं। पीछे उनकी प्रकृति पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिए हम उनकी आवृत्ति करना नहीं चाहते।

विशेष अध्ययन

लंदन मुद्रा-बाजार बनाम न्यूयार्क मुद्रा बाजार
(London Money Market vs New-York Money Market)

बैंकिंग प्रणाली की सीमा में कितनी ऐसी संस्थाएँ भी रहती हैं, जिनका उतना महत्व नहीं होता जितना केन्द्रीय बैंक, वाणिज्य-बैंक, लेखन-गृह, आदि का होता है। उनमें कुछ के नाम ये हैं—बीमा कम्पनियाँ, अर्थ-कम्पनियाँ, पूँजी-नियोजक ट्रस्ट, आदि। (मैकेन्जी)

मुद्रा-बाजार का साधारण अर्थ अल्पकालीन और दैनिक ऋणों के आदान-प्रदान से है। बैंक को इस काम में फायदा ही होता है कि वे कुछ रकमें उधार देते और उनपर सूद लेते हैं। उन्हें इस बात का निश्चय रहता है कि वे रकमें एक अमुक अवधि के बाद वापस कर दी जायेंगी। जो इस तरह के ऋण लेते हैं उन्हें भी लाभ होता है, क्योंकि उन्हें कम सूद देना पड़ता है। इस प्रकार के ऋणों के लिये जो माँग और पूर्ति होती है वे दिन-ब-दिन बदलती रहती हैं।

लंदन अँगरेजी बैंकिंग-प्रणाली का प्रधान केन्द्र है। १९३१ के पहले वह दुनिया का सबसे बड़ा मौद्रिक बाजार था। सभी देशों के बैंक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लंदन में अपने प्रतिनिधि रखते हैं। कोई भी विदेशी बैंक अपनी शाखा वहाँ खोल सकता था। उसको कोई इससे रोक नहीं सकता। १६३७ के बाद संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मुद्रा-बाजार का महत्व बढ़ गया है। वह एक ऋणदाता देश है। इंगलैंड ऋणग्रस्त देश हो गया है। १६४४ के बाद विश्व-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अमेरिका में ही खुलने से उसकी महत्ता बहुत बढ़ गई है।

लंदन में तीन तरह के बैंक हैं—ब्रिटिश बैंक, ओभरसीज बैंक और विदेशी बैंक। वहाँ की सबसे प्राचीन संस्थाओं में लंदन का शोधन-गृह एक है। उसकी स्थापना १७७५ में हुई थी। लंदन-स्थ बैंकों के साथ सौदागर—बैंकर भी हैं जिन्हें स्वीकार-गृह (Accepting House) कहते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हाथ बँटाते हैं। वे विदेशी साख में विशिष्ट चाव रखते हैं। विदेश के नगरों में उनके प्रतिनिधि और ऐजेन्ट रहते हैं। वे विदेशी सरकारों और कॉरपोरेशनों के लिए लंदन के बाजार में कर्ज उगाहते हैं। इन गृहों के अलावा बट्टा-गृह (Discount House) भी हैं। लोग उसके साथ अपनी बचतें भी जमा करते हैं, क्योंकि उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सूद मिलता है। पहले ये गृह विदेशी विनिमय-बिलों को बड़ी खुशी से

स्वीकार करते थे। जरूरत पड़ने पर ये इन बिलों को इंगलैंड के बैंक के यहाँ बट्टा लेकर बेच देते थे। अब ये ट्रेजरी-बिलों को ग्रहण करते या थोड़े समय के लिए उद्योगधंधों में पूँजी लगाते हैं। ट्रेजरी-बिलों पर सूद नहीं मिलता। स्वीकारक और बट्टा- गृहों के साथ स्टॉक-दलाल भी घुले-मिले रहते हैं। ये स्टॉक-दलाल किसी बैंक के सदस्य होते हैं और जरूरत पड़ने पर उनसे अल्पावधिक कर्ज भी ले सकते हैं। यह अवधि एक पक्ष की होती है। बैंक " From account to account" खाते से इस तरह के कर्ज देते हैं। कर्ज भी स्वीकृत प्रतिभूतियों के बदले दिया जाता है। बैंक कुछ स्टॉक-दलालों को नाना प्रकार की प्रतिभूतियों के खरीदने-बेचने के लिए एजेन्ट नियुक्त कर लेते हैं। लेन-देन बैंक-दर से $\frac{1}{2}$% अधिक दर पर होता है। लंदन के स्टॉक-विनिमयों (Stock Exchange) के बाजार की यह विशेषता है कि उसमें दलालों और ठीकेदारों (Jobbers) के बीच श्रम- विभाजन रहता है। ठीकेदार इन गृहों की फर्श पर काम करते है और उनका कारबार दलालों के साथ रहता है। दलाल आमजनता से भी फरमाइशें लिया करते हैं और ठीकेदारों के साथ खरीद-बिक्री करते हैं। ठीकेदारो को Running Brokers. भी कहा जाता है। वाणिज्य-बैंक भी स्वीकार-व्यवसाय Accepting Business कहते हैं।

ब्रिटिश सरकार भी कम सूद पर अल्पकालीन मुद्रा कर्ज लिया करती है। यह ट्रेजरी-बिल चलाती है। बिल उसकी प्रतिज्ञा का पत्र है कि तीन महीनों के बाद वह कर्ज वापस कर सकेगी। लंदन-बाजार को प्रति सप्ताह जरूरत के मुताबिक ट्रेजरी-बिल लेने के लिये, टेन्डर देने के लिये, आग्रह किया जाता है। जो इन-बिलों का सबसे अधिक दाम दे सकता है, उसके हाथ इन्हें बेचा जाता है।

बट्टा-गृह, विनिमय-बिलों और ट्रेजरी-बिलों—दोनों में ही रोजगार करते हैं। खरीदकर बेचने पर उन्हें थोड़ा-सा मुनाफा मिल

जाता है। वे अपने बैंकों से कर्ज भी लेते हैं। एक बैंक से कर्ज लेकर वे दूसरे बैंक का बकाया चुकाते हैं। कभी-कभी उन्हें केन्द्रीय बैंक की शरण भी ग्रहण करनी पड़ती है।

बट्टा के लेन-देन की जो बाजार-दर होती है वह वर्तमानकाल की चालू दर होती है और इस दर पर बिलों के भविष्य का भी पूरा प्रभाव पड़ता है। तीन माहों में परिस्थिति की रूप-रेखा क्या होगी, यह भी चिन्त्य विषय होता है। वाणिज्य-बैंक ट्रेजरी-बिल तो दूसरे के हाथ दाखिल नहीं करते। सीधे वे सरकार के पास उसे दाखिल करते हैं। लेकिन विनिमय-बिलों को वे साधारणतया २ महीनों तक अपने पास रखकर तीसरे माह में किसी बट्टा-गृह के हाथ उन्हें बेच डालते हैं और तीन महीनों के बाद बट्टा-गृह का रुपया वापस आ जाता है, क्योंकि ये बिल (Self-liquidating) होते हैं। १९३० के बाद से ऐसे बिलों की संख्या बहुत घट गई और ट्रेजरी-बिलों की संख्या बढ़ गई। ट्रेजरी-बिलों की एक खूबी यह है कि उन्हें किसी बट्टा-गृह की सिफारिश (Endorsement) की जरूरत नहीं रहती है। इसी खूबी की बदौलत बट्टा-गृहों और अन्य बैंकों के स्वार्थों में खींचतान पैदा हो गई है। फिर भी देशीय विनिमय-बिलों के पुनर्जन्म से उम्मीद बँधती है कि बट्टा-गृहों का रोजगार एकदम ठंढा नहीं पड़ेगा।

बैंक-दर और बाजार-दर में घनिष्ठ संबंध है और इस संबध की रूप-रेखा मुद्रा-बाजार की अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती है। यह लंदन मुद्रा-बाजार के लिये उतना ही सत्य है जितना न्यूयार्क मुद्रा-बाजार के लिये। डेकॉक ने अपनी पुस्तक—Central Banking- में १९३१ के पहले की अवस्था का उल्लेख करते हुए लिखा है "London Money Market with substantial success worked on the narrow margin and with the aid of traditional conventions and fulfilled the functions of a credit controller."

न्यूयार्क मुद्रा-बाजार में फेडरल रिजर्व बैंक्स में से प्रत्येक बैंक अपनेजिला के सदस्य बैंकों के लिये शोधन-गृह का काम करता है। न्यूयार्क का केन्द्रीय शोधन-गृह १८५३ में स्थापित हुआ था। शोधन-कक्ष में प्रतिदिन १० बजे दिन में चेकों का विनिमय होता है। १६२६ इ० से रात में भी उनका विनिमय शुरू हुआ, क्योंकि व्यवसाय की राशि बहुत बढ़ गई थी।

न्यूयार्क मुद्रा-बाजार में किसी चेक के ऊपर मुहर लगाने या क्रौस करने की परिपाटी नहीं है जैसा कि लंदन मुद्रा-बाजार में है। किसी बैंक के चेक-पर कोई स्टैम्प-ड्यूटी नहीं लगाई जाती। यहाँ बैंक के कर्मचारियों को लंदन के समान पूर्व-शिक्षा ग्रहण नहीं करनी पड़ती।

कोल महोदय का कथन है कि विनिमय-बैंक अमेरिकन अर्थदाताओं (Financiers) के समान लोकप्रिय नहीं हो सका है। यद्यपि २०-२५ वर्ष से बट्टा-बाजार को विकसित करने के लिए कोशिश हुई है तथापि वह सफलीभूत नहीं हो सकी है। वहाँ स्टॉक-दलालों की भरमार है। लंदन के बट्टा-दलालों की भाँति अमूल्य प्रतिभूतियों के सहारे ऋण लेते और व्यवसाय करते हैं। लेकिन वे अपने सौदागरों (Clients) के लिये जहाँ कर्ज लेते हैं वहाँ बट्टा-दलाल अपने काम के लिये। बट्टा दलालों के बिलों के मूल्य में बहुत थोड़ा हेर-फेर होता है, लेकिन स्टॉक-दलालों के स्टॉकों के मूल्य में बड़े जोर का परिवर्तन होता है। बट्टा का बाजार बहुत ही स्थिर होता है। प्रतिभूतियों का बाजार बड़ा चंचल होता है। बट्टा-दलाल संकट-काल में अपने बिलों के आधार पर बैंक ऑफ इंगलैंड से कर्ज ले सकते हैं, लेकिन अमेरिका में स्टॉक-दलालों को न तो "फेडरल रिजर्व बैंकस" ही कर्ज देगा और न कोई केन्द्रीय बैंक ही। बर्जेस का कहना है कि लंदन की अपेक्षा न्यूयार्क में परम्परा का महत्व 'दर' से अधिक है। डेकौक लिखता है "The discount rate policy of the F. R. Banks depended on the existence of a strong tradition against continuous and large borro-

wings by member banks when rates were moderate and on the psychogical effect on the public mind of changes in offical discout rate."

शेयर्स महाशय लंदन मुद्रा-बाजार को दुनियां-भर में अनुपम कहते हैं और कहते हैं कि कहीं भी अल्पकालिक कोषों की दृष्टि से इतना विकसित बाजार और कहीं नहीं है। लेकिन वे इसे अस्वीकार भी नहीं करते कि लंदन-मुद्रा बाजार के बाद न्यूयार्क मुद्रा-बाजार ही इस क्षेत्र में दूसरा है।

अपने रंग-ढंग में न्यूयार्क मुद्रा-बाजार लंदन मुद्रा-बाजार से विभिन्न है। कौरेसपोन्डेन्ट बैंक सिस्टम के जरिये अमेरिका के समस्त बैंकों का अवशिष्ट मुद्रा-कोष न्यूयार्क मुद्रा-बाजार में संचारित होता है। वहाँ चार अल्पकालिक प्रणिधियाँ (Assets) हैं जिन्हें कोई बैंक हस्तगत कर सकता है : (१) स्टॉक-एक्सचेन्ज को दिये गये ऋण (२) वाणिज्य-पत्र (३) दूसरे प्रमाण-पत्र (४) विनिमय-बिल। अमेरिका का ट्रेजरी प्रमाण-पत्र इंगलैंड के ट्रेजरी बिल के अनुरूप है। प्रथम और चतुर्थ प्रणिधियों की भाँति इंगलैंड में भी प्रणिधियाँ हैं। लेकिन वाणिज्य-पत्र (Commercial paper) अमेरिका की अपनी चीज है। जब कोई अमेरिकन व्यावसायिक फर्म रुपया कर्ज लेना चाहता है तब वह वाणिज्य पत्र चलाता है। यह एक डिबेन्चर स्टॉक या "अल्प-कालिक नोट" की तरह है। लेकिन वाणिज्य-पत्रों का बाजार सीमित होता है। यह इंगलिश बैंक के एडवान्स के जैसा लोचपूर्ण नहीं होता। वाणिज्य-पत्र किसी बैंक को किसी अनजान फर्म के द्वारा भी सुपूर्द किया जा सकता है।

न्यूयार्क मुद्रा-बाजार में स्टॉक-बाजार को बहुत ही अधिक अल्पकालिक कर्ज दिए जाते हैं। इंगलैंड में इस प्रकार के कर्ज का परिमाण बहुत कम होता है। इंगलैंड में स्टॉक-विनिमय प्रति पक्ष

तय होता है, लेकिन न्यूयार्क में प्रतिदिन। न्यूयार्क के वाल-स्ट्रीट में साढ़ों की सट्टेबाजी खूब चलती है और अपने मोवक्किलों के बदले साढ़ काम करते हैं। इन्हें मुद्रा-बाजार से जो ऋण मिलता है वह अल्पकालीन (Call or Short Notice) ऋण होता है। इस तरह के ऋण क्रम-क्रम से वापस किये जाते हैं। यदि एक बारगी सभी ऋणों को वापस कर लिया जाय तो मुद्रा-बाजार में एक भयानक आफत पैदा हो सकती है।

न्यूयार्क में हाल तक विनिमय-बिल का कोई काफी विकसित बाजार नहीं था। यही कारण है कि यहाँ कोई स्वीकार-गृह (Accepting House) नहीं। वाणिज्य-बैंक ही स्वीकार-कार्य सम्पन्न करते हैं। वहाँ विनिमय-बिलों का नाम "Bank Acceptances" पड़ता है। "फेडरल रिजर्व बैंकस" (जो केन्द्रीय बैंक है) में उनकी कटौती होती है। लेकिन जितना व्यवसाय इनमें होता है उससे बहुत ज्यादा व्यवसाय स्टॉक-बाजार में होता है। विनिमय-बिलों में अधिकांश बिल विदेशी व्यापार से संबंधित बिल होते हैं।

न्यूयार्क में बट्टा-गृह भी नहीं हैं। लंदन के Running दलालों की तरह वहाँ बिल के दलाल हैं।

चूँकि वहाँ मध्यस्थ दलों का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, इसलिए केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य-बैंकों के बीच का संबंध सीधा और प्रत्यक्ष है। वाणिज्य-बैंक सीधे केन्द्रीय बैंक से कर्ज ले सकते हैं और अपने बिलों कि कटौती करा सकते हैं। लंदन में ऐसी बात नहीं है। वहाँ बट्टा-बाजार बैंक ऑफ इंगलैंड और वाणिज्य बैंकों के बीच दलाल (Go-between) का काम करता है। जब वाणिज्य बैंक तैयार कोष (Cash) चाहते हैं तब वे बट्टा-बाजार से कर्ज वापस लेने लगते हैं और इसलिए बट्टा-गृहों को बैंक ऑफ इंगलैंड से कर्ज लेना पड़ता है (The Market is in the Bank)।

गत २५ वर्षों से लंदन मुद्रा-बाजार और न्यूयार्क मुद्रा-बाजार एक-दूसरे की नकल कर रहे हैं। कुछ वर्षों में दोनों अनुरूप

बन जायेंगे। लंदन में स्टॉक-विनिमय-बाजार को जो कर्ज दिया जाता है उसका परिमाण बढ़ना चाहिये और न्यूयार्क में इस प्रकार के कर्ज का परिमाण घटना चाहिये। तभी दोनों बाजार एक-दूसरे से मिल-जुल सकेंगे। लेकिन एक बात है। न्यूयार्क के मुद्रा-बाजार के उत्कर्ष से लंदन के मुद्रा-बाजार का महत्व घट गया है।

मैकेन्जी का कथन है कि बैंक ऑफ इंगलैंड अमेरिकन फेडरल रिजर्व सिस्टम की अपेक्षा एक अधिक निरंकुश अधिनायक है। इसका कारण यह है कि अमेरिका के सदस्य बैंक फेडरल रिजर्व सिस्टम के अधिपति हैं और इसलिये वह उनके विरुद्ध कोई कठोर या दृढ़ नीति परिचालित नहीं कर सकता। इंगलैंड में सदस्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक से सीधा कर्ज नहीं मिलता। वहाँ बैंक-दर बाजार-दर से अधिक रहती है और केन्द्रीय बैंक से कर्ज लेने पर घाटा ही पड़ता है। बैंक-दर का अधिक रहना इस बात की गारन्टी भी है कि बैंक जल्दी से जल्दी कर्ज वापस करेंगे। अमेरिका में फेडरल रिजर्व सिस्टम प्रत्यक्षतया कर्ज सदस्य-बैंकों को देते हैं।

—o:⊙:o—

ऊनविंशति अध्याय

केन्द्रीय बैंकों के समाजीकरण का प्रश्न

(The Case for the Socialisation of Central Bank)

प्रो० शेयर्स के शब्दों में यह प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कि केन्द्रीय बैंक-जैसी प्रधान संस्था के ऊपर सरकार का नियंत्रण समाज के बृहत्तर कल्याण के दृष्टिकोण से रहना चाहिये। लेकिन यह नियंत्रण किस तरह लगाया जायगा, यही प्रश्न है। हर देश की सरकार यह तय करती है कि आम जनता क्रय-विक्रय के अतिरिक्त अपने दायित्व या ऋणों का लेन-देन किस प्रकार करेगी—उन धातवीय मुद्राओं में जिनकी तौल और उत्कृष्टता पूर्व निश्चित रहेगी या सरकार द्वारा स्वीकृत पत्र-मुद्रा के रूप में या दोनों में से जिसमें उसकी इच्छा हो ? इस तरह का नियमन एकदम सरल और प्रारंभिक है। सरकार इससे भी आगे जा सकती। विगत एक सौ वर्षों का बैंकीय इतिहास सन १९३४ तक का बतलाता है कि सरकारों ने यह आदेश दिया कि मुद्रा का खास भेद कोश-प्रवेश्य (Legal Tender) होगा और उसे केन्द्रीय बैंक को स्वर्ण या रजत में निर्धारित दर पर माँग होने पर परिणत करना होगा। ऐसे आदेश के तत्वावधान में केन्द्रीय बैंकों ने भी बैंकिंग प्रणाली का संचालन इस ढंग से किया कि कोश-प्रवेश्य मुद्रा सदैव बँधी दर पर स्वर्ण या रजत में रूपांतरित होती रहे। उसने यह कर्त्तव्य इस ढंग से निवाहा कि समाज की भलाई बढ़ती रहे। इसके अलावे सरकार और कुछ नहीं करती। वह आँख मूँदकर केन्द्रीय बैंक के कार्यों का समर्थन (Rubber Stamp) कर देती है।

सरकार एक दूसरे प्रकार की भी घोषणा कर सकती है। वह आदेश कर सकती है कि केन्द्रीय बैंक को उसे (सरकार को) मुद्रा की पूर्ति करनी होगी, जितनी मुद्रा की माँग वह करे। उस हालत में केन्द्रीय-बैंक के सामने कोई दूसरा चारा नहीं है। उसे सरकार का खर्च उसकी इच्छानुसार चलाना ही पड़ेगा। उस समय केन्द्रीय बैंक सरकार की इच्छा को पूरा करने की एक इंजिन मात्र बन जाता है।

सन् १९२० से इस बात के लिये काफी आन्दोलन मचा कि केन्द्रीय बैंकों को "स्वतंत्र" होना चाहिये लेकिन "स्वतंत्र" शब्द का अर्थ कितने प्रकार से लगाया जा सकता है। सरकार सार्वभौम सत्ता है। उसके समक्ष केन्द्रीय बैंक की स्वतंत्रता निरपेक्ष मानी नहीं रख सकती है। उसे बरबस सरकार के अधीन रहना होगा। सार्वभौम सत्ता के रूप में सरकार केन्द्रीय-बैंक को आदेश दे सकती है और ये आदेश मौद्रिक कानूनों के रूप में दिये जाते हैं। सन् १९२२ के बाद दस वर्षों के जो "चार्टर" देखने को मिलते हैं वे सभी इसी भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय-बैंक फक्कड़ (Improvident) सार्वजनिक अर्थनीति (Public finance) का एक औजार मात्र बन गया।

जब हम केन्द्रीय-बैंक के ऊपर सरकार के नियंत्रण की बात चलाते हैं तब उसका अपरोक्ष भाव यह भी होता है कि हम चाहते हैं कि सरकार उसका स्वामित्व (Ownership) ग्रहण कर ले। तभी केन्द्रीय बैंक के समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण की कोई सार्थकता हो सकती है। सरकार समाजीकरण के पहले भी केन्द्रीय बैंकों के लाभ में हिस्सा लेती रही है। केन्द्रीय-बैंक को घटी होने पर वह उसमें भी शरीक होती रही है। केन्द्रीय-बैंक का संविधान फैशनेबुल धारणा की कला रहा है और उसमें हेर-फेर होता रहा है। इस सदी की तृतीय दशाब्दी में अमेरिका, आदि देशों में इसीसे

वहाँ के केन्द्रीय-बैंक को नई सनद मिलती रही है। सनदें तो ज्यादातर लिखित होती हैं। परन्तु सनदों के साथ कुछ परम्पराएँ भी चल पड़ती हैं और घटनाओं के अनुसार उनपर कुछ खास नियम बनाए जाते हैं। इंगलैंड में तो ऐसा ही देखा गया है।

इंगलैंड में तो केन्द्रीय-बैंक के ऊपर सरकार की ट्रेजरी की पूरी निगरानी रही है। लेकिन सरकारी ट्रेजरी में बैंक के विशेषज्ञ (Experts) नहीं रहते। उसमें कर और राजस्व के ज्ञाता (Specialists) रहते हैं। इसलिये वे केन्द्रीय-बैंक के संचालकों के कोर्ट से परामर्श लेते रहे हैं। कोलबर्न के अनुसार तो १९४६ के पहले भी इंगलैंड के बैंक के ऊपर सरकारी ट्रेजरी का इतना प्रभुत्व जम गया था कि कितने लोग तो कहते थे कि उस बैंक के समाजीकरण के लिये जो युद्ध चल रहा था वह समाप्त हो चुका। लेकिन केन्द्रीय बैंक जिस नीति को देश के लिये उचित नहीं समझता था उसे सरकार बहुधा कार्यान्वित नहीं करती। "The position is more open if the government desires a policy which the Central Bank declares to be practiable but unwise". ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय-बैंक से मन की मुराद पूरी होगी। बैंक ऑफ इंगलैंड के राष्ट्रीयकरण के पूर्व ट्रेजरी और केन्द्रीय-बैंक के संचालक-मंडल के मध्य जो सम्बन्ध था वह तरल या परिवर्तनशील (fluid) था और यह सरकार की प्रकृति पर और संचालकों के व्यक्तित्वों के ऊपर अवलम्बित था।

प्रो० क्रौथर लिखते हैं कि १९२० के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अधिवेशन के अनन्तर केन्द्रीय-बैंकों की स्वतंत्रता का एक मतवाद (Dogma) ही चल पड़ा कि उन्हें व्यक्तिगत संस्था होनी चाहिये और राजनीतिक प्रभावों से एकदम अलग रहना चाहिये। लेकिन कुछ ही वर्षों के बाद इस विचारधारा के प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और लोग कहने लगे कि केन्द्रीय-बैंकों के व्यक्तिगत या खानगी संस्था

होने में समाज का नुकसान है, क्योंकि इससे बैंकर और उद्योगपति एक प्रधान संस्था के कर्त्ता-धर्त्ता हो जायेंगे और वे समाज के आर्थिक जीवन की गति को अपने मन के मुताबिक मोड़ सकते हैं। इस तरह के चिन्तन का ही प्रभाव हुआ है कि अब सरकारें केन्द्रीय बैंक की स्वामिनी (Owner) बन गईं हैं। यद्यपि संचालन बहुत अंश में स्वतंत्र एक बोर्ड या कोर्ट के जिम्मे सौंपा गया है। "No respnsible Government, whatever its political complexion, could afford tc surrender so large a portion of the attributes of sovereignty to an autonomous body."।

इंगलैंड के मजदूर-दल ने १६३२ में जो प्रस्ताव पास किया था वह १६४६ में फिर से उसके सरकार बनाने पर लागू हुआ और बैंक-ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण सम्पादित हुआ। लेकिन बहुत पहले से ही यह बैंक लाभ उठाने के फेर में नहीं रहा है और अपने शेयर-होल्डरों को एक निश्चित दर से डिविडेन्ड देता रहा है। बैंक के गवर्नरों और संचालकों की नियुक्ति में भी ट्रेजरी और बैंक की सहमति रही है। ऐसा इस सीमा तक रहा कि यह कहना कठिन हो गया कि दोनों में से कौन किसका नियंत्रण करता है। लेकिन कोल ने बड़े पते की बात लिखी है कि राष्ट्रीयकरण के पहले यह बैंक एक नगर-संस्था था और पूँजीवादी व्यवसाय के स्वार्थों का पूर्ण परिचायक था। इतना ही नहीं, यह उच्च अर्थ (High Finance) का प्रतीक भी रहा है। यह बात मजदूर-दल की सरकार से कैसे सही जाती? "Socialism and high finance could not go to-gether"। कोल ने केन्द्रीय बैंकों के समाजीकरण के केस को पूर्णरोजी की स्थापना की दृष्टि से रक्खा है, क्योंकि इसकी सिद्धि के लिये आर्थिक और मौद्रिक मशीनरी के ऊपर पूरा नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय-बैंक देश के व्यावसायिक जीवन की कुंजी हैं। फिर, केन्द्रीय-बैंक और सरकार अलग-अलग

रहें तो देशीय मुद्रा के अवमूल्यन या अधिमूल्यन, अन्तराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग, आर्थिक संकट (Panic) में कैसी नीति अपनानी चाहिये, आदि के सम्बन्ध में दोनों के बीच मतभेद हो सकता है। सरकार की बात अन्ततोगत्वा स्वीकार्य और मान्य होनी चाहिये, ऐसा अर्थशास्त्र वेत्ताओं का मत है। तर्कानुसार तो केन्द्रीय-बकों को सरकार के मातहत रहना चाहिये, लेकिन कोई-कोई सरकार तर्क पर दाद नहीं भी देती (Logic is not a strong point)। जब तक इंगलैंड के बैंक का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ था तब तक वह पौंड के आन्तरिक मूल्य का नियंत्रण करता और विनिमय-साम्य-कोष (Exchange Equalisation Account) पौंड की बाह्य दर का नियंत्रण करता था। इससे भी दोनों में मत-वैपरीत्य होने की आशंका थी और अलग-अलग संस्था रहने से खर्च भी ज्यादा पड़ता था। इस आशंका को दूर करने और खर्च का कम करने के विचार से भी इंगलैंड के बैंक का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य प्रतीत होने लगा था।

हम पीछे संयुक्त–पूँजी अर्थात् वाणिज्य बैंकों में राष्ट्रीयकरण के संबंध में लिख आए हैं। अभी हमने केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की समस्या के ऊपर विचार किया है। यहाँ सामान्य रूप से द्वितीय समस्या के ऊपर कुछ विशेष दृष्टि-निक्षेप करने की चेष्टा की जा रही है।

आप केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण पर गौर करें। किश और एल्किन ने अपनी पुस्तक "Cetnral Banking" में इस पर विचार करते हुए बतलाया है कि किसी देश का केन्द्रीय बैंक वहाँ की सरकार के साथ एक विशिष्ट सम्बन्ध रखता है। वह वहाँ की करेंसी के मापदंड या स्तर को प्रभावित करता है। सरकार भी उसकी

ठोसता के निमित्त कई यत्न काम में लाती है और उसकी प्रगति में अभिरुचि रखती है। सरकार केन्द्रीय बैंक द्वारा बहुत आकर्षित भी होती है, क्योंकि उसे इस बैंक से अपनी आवश्यकता अनुसार रकम मिलती है। जब केन्द्रीय बैंक सरकार को उसके मनोनुकूल मुद्रा नहीं देता तब सरकार बाध्य होकर उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने लगती है। यह सरकार की बदौलत ही संभव हो पाता है कि केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक संस्थाओं में सबसे प्रमुख स्थान (Nucleus of Place) प्राप्त कर लेता है। इसके प्रतिफल उसका भी फर्ज होना चाहिए कि वह ऐसी सरकार की सेवा करे। सरकार को अपने अर्जित मुनाफे का एक अमुक भाग दिया करे। सरकार भी मुनाफे में शरीक होकर अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय बैंक को एक मुनाफाखोर संस्था बनाने से रोकती है।

केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विषय में प्रो० शेयर्स के जो विचार हैं वे पीछे आगे उचित प्रसंग में दिए गए हैं। मोटामोटी ढंग से सोचने पर भी हमें प्रतीत होता है कि केन्द्रीय बैंक का खानगी स्वामित्व खतरनाक है। इससे तो बैंकिङ्ग प्रणाली मुट्ठी भर धनिकों (बैंकरों और उद्योगपतियों) के हाथ का खिलौना बन जाएँगी। वे ही केन्द्रीय बैंक के सदस्य होंगे, वे ही उसके द्वारा उठाए लाभ में डिविडेन्ड पायेंगे और उन्हीं का बोलबाला शासन में रहेगा। इससे देशव्यापी आय एवं सम्पत्ति की विषमता तो और बढ़ जाएगी। इसी कारण से आरंभ से अधिकांश देशों की सरकार ने केन्द्रीय बैंक के गवर्नरों को नियुक्त करने का अधिकार स्वयं अपने पास रक्खा है।

बैंकिङ्ग में अति आधुनिक जो परिवतन हुए हैं वे सभी आन्दोलनात्मक और क्रान्तिमूलक हैं। पहले केन्द्रीय बैंकों पर राज्य का नियंत्रण और स्वामित्व यत्किंचित था। केन्द्रीय बैंक का इतिहास कई ऐसी घटनाओं का, जिनमें सरकारों और उनके केन्द्रीय

बैंकों में झगड़ा या अनबन हुआ था, साक्षी है। यह झगड़ा तब-तब हुआ जब-जब केन्द्रीय बैंकों ने सरकारों की विस्तार या संकोच (Expansionary or Contractionary) नीति को नहीं माना। पहले तो व्यापारिक मन्दी और दुर्दिन को "देवताओं की सृष्टि" माना जाता था। उससमय बैंक आलोचना से बच निकलते थे। केन्द्रीय बैंक भी बेदाग निकल जाता था, उसकी काली करतूतों के ऊपर कुछ अर्थशास्त्री लौह पर्दा या आवरण रख छोड़ते थे। लेकिन १६३६ में जो भीषण मन्दी (Great Depression) आरंभ हुई उससे लोगों का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। तब से केन्द्रीय बैंकों के ऊपर कसकर अंकुश रखा जाने लगा है। मौद्रिक प्रसाधनों की जगह प्रत्यक्ष साधनों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। "The economic indeterminateness of a correct monetary policy for any specific situation had become apparent"। आन्तरिक आर्थिक स्थिरता पर जोर दिया जाने लगा। प्रो० वसु ("Recent Banking Developments") के शब्दों में अर्थनीति और राजनीति में गठबन्धन अधिकाधिक होने लगा। केन्द्रीय बैंकों की मनोवृत्ति में भी काफी अन्तर उत्पन्न हुआ। वे सरकारी हस्तक्षेप का विरोध नहीं करने लगे। इसका कारण यह था कि उनकी आजादी में जो त्रुटि हुई वह उनके कार्यक्षेत्र के विशदीकरण के कारण दूर-सी हो गई। सरकारी हस्तक्षेप के खिलाफ पहले जो पुराने एवं बेढंगे (Old and Rusty) तर्क दिए जाते थे वे अब बन्द हो गए।

केन्द्रीय बैंक देश में प्रधान पार्ट अदा करते हैं। उनकी साख-नीति और सरकार की आर्थिक नीति में लय और संतुलन रहना चाहिये। फिर, यह बात अच्छी नहीं लगती कि जो संस्था देशभर की आम जनता के जीवन को अपनी नीति द्वारा निर्धारित कर सकती है, उसकी वह नीति थोड़े व्यक्तियों द्वारा निर्मित या निर्धारित हो। इसमें प्रजातंत्रात्मक भावना का अभाव है, जिसे दूर करना चाहिये। यह भी

देखा जाता है कि केन्द्रीय बैंक शेड्यूल्ड बैंकों की दिल से मदद नहीं करते। ये सभी बुरी बातें हैं। सरकार का नियंत्रण इन्हीं कारणों से अधिक बल प्राप्त करता है। केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक संस्था के रूप में काम करे जिससे सर्व-साधारण के रहन-सहन का स्तर उन्नति कर सके। अब तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि स्थापित की गई है। वह एक सौर-मंडल की भाँति है और केन्द्रीय बैंक उसके नक्षत्र की भाँति हैं जो इसका परिक्रमा करेंगे।

पीछे हमने कोल के तर्कों को भी दिया है। जहाँ मीड इस बात से केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं कि इससे सरकार का नियंत्रण वाणिज्य बैंकों पर भरपूर हो जायगा और इसमें मितव्ययिता भी होगी, वहाँ कोल (Money : Its Present and Future) में इसका समर्थन इस आधार पर करते हैं कि इससे सरकार को पूर्णरोजी की स्थापना में सुविधा होगी और देशीय मुद्रा की विनिमय-दर (वाह्य और आन्तिरिक) को बिना किसी संस्था के या किसी संस्था (Exchange Equali sation Account or Fund) के साथ सहयोगपूर्वक काम करने में सहूलियत होगी। क्रौथर केन्द्रीय बैंक की इस शक्ति (Prerogative of the state delegated to the central bank) पर बहुत चोट करते हैं, इन्होंने आलोचना की सारी आग इसी निशाने पर डाली है कि केन्द्रीय बैंक मुद्रा की सृष्टि कर सकता है और उसके नोट नकद मुद्रा के समान प्रचलित होते हैं। इसकी भी चर्चा हमने पीछे की है।

कुछ अर्थशास्त्रवेत्ता औद्योगीकरण के सवाल को आगे रखकर केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जब तक केन्द्रीय बैंक खानगी संस्था रहेगा, सरकार की नीति (औद्योगीकरण करने के विषय की) विफल हो जाएगी (Sabotaged or forestalled) इसलिये उसका राष्ट्रीयकरण उद्योगों के

राष्ट्रीयकरण के पहले सम्पन्न हो जाना चाहिये। प्रो० वसु ने अपना निष्कर्ष यों दिया है—"The more far-reaching the Government's general economic policy and the wider the area of public control and ownership of industry, the more important it becoms for the Finance Minister to have his finger on the private financial organisation. The central Bank is that pulse". "The whole crux of the matter is whether the nationalised Bank could continue to be the "pulse" in the some degree"। प्रो० दत्त के शब्दों में—आज की दुनिया में केन्द्रीय बैंक को "Emergency Institution" या "fire engine to put out a conflagration in finance" नहीं समझा जाता, बल्कि उसको अब अधिकाधिक एक "Equilibrator" या "Governor of the Money Market," "Pioneer and Leader" समझा जाता है। (Economic Review, Calcutta")

कुछ गैर-समाजवादी विचारक केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का अनुमोदन इसलिये करते हैं कि अभी तक उसने अपने अधिकारों का उपयोग मुद्रा-बाजार में और गंभीर-ठोस मौद्रिक नीति के एक परम्परामुक्त सिद्धान्त के पालन में किया है और राष्ट्र के उद्योगों के विकास में सहयोग नहीं दिया है। लेकिन ये विचारक राष्ट्रीयकरण-कृत केन्द्रीय बैंक के ऊपर सरकारी या पार्लियामेंटरी नियंत्रण नहीं रहने देना चाहते। उनकी इच्छा है कि उसका शासन एक कानूनी मंडल (Statutory Corporation) के हाथों में रहे जिसके अधिकांश सदस्य व्यवसायी लोग होंगे और इस तरह वे उद्योग की आवश्यकताओं पर अधिक और मुद्रा-बाजार के दामों पर कम ध्यान देंगे।

अब तक तो सभी प्रधान देशों में केन्द्रीय-बैंक के ऊपर वहाँ की

सरकारी ट्रेजरी का आधिपत्य या प्रभुत्व जम चुका है और वे सार्वजनिक संस्थाएँ घोषित हो चुकी हैं। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, इटली, कनाडा, न्यूजीलैंड, परायग्वे, भारत, आदि ऐसे ही देश हैं। इन बैंकों का शासन उन व्यक्तियों द्वारा होता है जो सरकार के द्वारा टेकनिकल कुशलता के चलते नियुक्त किए जाते हैं और उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ रहती हैं। वे विविध दलों या स्वार्थों द्वारा मनोनीत या निर्वाचित व्यक्ति नहीं होते। दैनिक और विस्तृत शासन-कार्य में सरकारी कार्यालय का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। लेकिन जहाँ उच्च नीति की बातें उपस्थित होती हैं, जब शासन करने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति या बर्खास्त करने का प्रश्न आता है तब सरकार का हस्तक्षेप होता है, नियंत्रण होता है। व्यवस्थापिका सभा में बैंक की नीति से ताल्लुक रखने वाली बातों पर ही सवाल पूछा जा सकता है या विवाद हो सकता है और राज्य के सचिव बैंक के कार्यों के बारे में संवाद देते हैं।

अन्त में जरा इस बात के ऊपर विचार कर लेना अच्छा होगा कि केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण का कोई कुफल या दुष्परिणाम होगा क्या? सबसे पहली आशंका तो यह है कि केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की इस नीति से कि उनसे सदस्यों को बोन्ड या स्टॉक या ऐन्यूटी देकर उनके जमा (Deposits) का राष्ट्रीयकरण किया जायगा। इससे समाज की विद्यमान आर्थिक विषमता कम नहीं हो सकती। इससे आरामतलब वर्ग (Leisure Class) के व्यक्तियों की संख्या कम नहीं होगी। भले ही मुआवजा देने के पक्ष में तर्क दिए जाँय और वे सरकार द्वारा मान्य भी हों फिर भी हम लार्ड केन्स की इस उक्ति के प्रबल तर्क की अवहेलना नहीं कर सकते कि "Interest to-day rewards no genuine sacrifice, any more than does the rent of land, The owners of capital can obtain interest because capital is

scarces, just as the owners of land can obtain rent because land is scarce············I see the rentier aspect of capitalism as a transitional phase···The enthanasia of the rentier, of the functionless investor, will be a gradual and prolonged continuance."। दूसरी आशंका यह है कि केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीय संस्था बन जाने से बहुत-से लोग उसमें अपनी बचतों को जमा करना नहीं चाहेंगे। वे कीमती बचतों को उड़ा-पड़ाकर खर्च कर देंगे। इस तरह पूँजी के संग्रह पर आघात पहुँचेगा। लोगों की संग्रह वृत्ति (Inducement to invest) व्याहत हो उठेगी। लेकिन यह भी मिथ्या भ्रम है। केन्स के शब्दों में देश की पूँजी का विकास ऐसे लोगों की संग्रह-वृत्ति से अवरुद्ध ही होता है, प्रोत्साहित नहीं होता। "Experience suggests that in existing conditions saving by institutions and through sinking funds is more than adequate and that measures for the redistribution of incomes in a way likely to raise the propensity to consume may prove positively favourable to the growth of capital". "In contemporary conditions the growth of wealth, so far from bieng dependent on the abstinence of the rich, as is commonly supposed, is more likely to be impeded by it"। तीसरी आशंका इस बात की है कि राष्ट्रीयकरण होने पर कहीं केन्द्रीय बैंक की निपुणता घट न जाय जैसा कि साधारणतया पूँजीवादी देशों में राष्ट्रीयकरणकृत कुछ उद्योग-धंधों के बारे में देखा जाता है। अगर दलीय सरकार ऐसे लोगों को बैंक के शासन-प्रमंडल (बोर्ड या कोर्ट) में नियुक्त करने लगी जिनकी टेकनिकल योग्यता

अव्वल दर्जे की नहीं, यदि वे दलीय वफादारी के आधार पर बहाल होते हैं तब तो अवश्यमेव केन्द्रीय बैंक अपना टेकनिकल काम ठीक से नहीं कर सकता। चूँकि प्रजातंत्रात्मक सरकार दलीय सरकार होती है, इसलिए यह आशंका बिल्कुल निमूल या निराधार नहीं कही जा सकती। दो बातें हो सकती हैं—या तो केन्द्रीय बैंक का शासन टेकनोक्रैट्स (Tecnocrats) के हाथों में चला जायगा जिनकी निरंकुशता या अत्याचार असीमित हो सकती है या वह कुछ ऊल-जलूल लोगों के हाथ में भी फँस जा सकता है। यदि शासन-भार सविल सर्विस के सदस्यों के ऊपर सौंप दिया गया तो लाल फीतेशाही और दायित्वहीनता की वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि ये सदस्य बैंक के व्यावहारिक ढंगों से अनभिज्ञ होंगे और उनकी कार्यावधि निश्चित है, गलती करने पर भी वे हटाए जा नहीं सकते। उनकी गलती से जो क्षति होगी वह कर लगाकर या कर की दर बढ़ाकर या सामान्य वजट से पूरा कर ली जायगी। उनकी गलती के लिये आम जनता को प्रायश्चित करना होगा। फिर, यह आशंका प्रकट की जाती है कि दलीय सरकार सभी उद्योगों को समान दृष्टि से नहीं देखेगी और आर्थिक सहायता देने में पक्षपात करेगी। इससे समाज में असंतोष फैलेगा। यह अस्थिर सरकार होगी और मुद्रा-प्रसार की नीति चलाकर अपनी कार्यावधि के बाद आनेवाली सरकार को संकट में पड़ा समाज सौंपेगी। इतनी तीव्र आशंकाओं के बावजूद भी केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण बहुमत द्वारा स्वीकार्य हुआ है और कई देशों में इस नीति को कार्यान्वित भी किया गया है। मगर इससे अभी तक कोई कटु अनुभव नहीं हुआ है।

—:o:-❀-:o:—

विंशति अध्याय

लार्ड केनस का "कीमतों का सिद्धान्त"

(Theory of Prices of Lord Keynes)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना

Criticism of the Quantity Theory of Money

लार्ड केन्स के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने "अभिनव अर्थशास्त्र" का सृजन किया। यद्यपि इस बात को न मानने वाले भी कुछ व्यक्ति हैं तथापि अधिकांश व्यक्ति अर्थशास्त्र पर केन्स की विचार-धारा का जो प्रभाव पड़ा है उसे अस्वीकार नहीं करते। केन्स ने कभी यह नहीं कहा कि उनके सिद्धान्त शाश्वत सत्य हैं अथवा उनका सफल प्रयोग क्रियात्मक जीवन में हो सकता है। बहुत ही पहले अपनी पुस्तक "Scope and Method of Economics" में उन्होंने बतलाया था—"The theory of economies does no furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctnine, an apparatus of the mind, a technique of thinking which enabls its possessor to draw correct conclusions"। केन्स ने विश्लेषण का एक नूतन टेकनिक प्रदान किया। यह बहुत ही हितकर सिद्ध हुआ है। यहाँ हम उनके ग्रन्थ "Treatise on Money" का सारांश देंगे जिसमें "मुद्रा के परिमाणात्मक सिद्धान्त" की आलोचना और बैंक सम्बन्धी नीति का उल्लेख हुआ है।

उक्त ग्रन्थ में केन्स का सर्व प्रधान उद्देश्य किसी देश की आर्थिक प्रणाली के संतुलन के आधार और मूल शर्त का पता लगाना है। केन्स का दृष्टिकोण पूर्ण रूपेण मौद्रिक है और समस्या का समाधान भी मौद्रिक ही है। केन्स उपभोग्य वस्तुओं के मूल्य-स्तर (Price-level of Consumption goods) से आरंभ करते हैं। इसे वे मुद्रा की क्रय-शक्ति भी कहते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति की परिभाषा वे अग्रलिखित शब्दों में करते हैं—"यह मुद्रा की वह शक्ति है जिससे किसी समाज के व्यक्ति अपनी मौद्रिक आय को उपभोग के ख्याल से वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में खर्च करते हैं। इसकी माप उन वस्तुओं तथा सेवाओं के परिमाण से होती है और हम इन वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग की दृष्टि से महत्वांकन (Weight) करते हैं। इस तरह जो मूल्य-सूची हमें उपलब्ध होती है उसे कभी-कभी उपभोग सूची (Consumption Index) भी कहते हैं।"

संतुलन से केन्स का अभिप्राय वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-स्तर के संतुलन से है, खासकर उन वस्तुओं और सेवाओं से जो अन्तिम उपभोग में सम्मिलित होती हैं। हम देखते हैं कि मूल्य-स्तरों का अध्ययन करने तथा उनके परिवर्तनों को समझाने के लिए मुद्रा के परिमाणात्मक सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। यह सिद्धान्त क्या है। हम पीछे (पंचम अध्याय में) बता चुके हैं। यह प्रो० फिशर का प्रतिपादित किया हुआ है। इसे "Equation of Exchange" भी कहते हैं। लेकिन लार्ड केन्स का कड़ा रूख है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में हुए परिवर्तनों को नापने में फिशर के इस सिद्धान्त से कोई मदद नहीं मिलती। ऐसा क्यों ? यह इसलिए कि परिमाण-सिद्धान्त विविध वस्तुओं को महत्त्व (Weight) तो देता है लेकिन इस दृष्टिकोण से नहीं कि उपभोक्ता के लिए किस वस्तु का महत्त्व कितना है, बल्कि इस दृष्टिकोण से कि मौद्रिक आदान-प्रदान (Monetary transaction) में किस वस्तु की कितनी

प्रधानता या महत्त्व है। प्रतिदिन के व्यावसायिक जीवन में मौद्रिक कार्यों के अनुसार ही मूल्य-स्तर निर्धारित किया जाता है। यह गलत तरीका है, क्योंकि उपभोग में आनेवाले कितने ऐसे पदार्थ हैं जिनका महत्वांकन ठीक से इस आधार पर नहीं हो सकता कि मौद्रिक कार्य-कलाप में वे कितना भाग लेते हैं। केन्स ने इसका एक बहुत ही उपयुक्त दृष्टान्त दिया है। व्यय में आने वाला पदार्थ जो आरंभिक उत्पादक के हाथों से सीधे अन्तिम उपभोक्ता के हाथों में पहुँचता है (उदाहरण के लिए व्यक्तिगत सेवाएँ) वह कम मौद्रिक आदान-प्रदान को पैदा करता है। इस पदार्थ की तुलना में कोई पदार्थ मूल्य का होता हुआ भी कई व्यक्तियों के हाथों से होता हुआ समान उत्पादनकी कई अवस्थाओं से गुजरता हुआ (जिनमें से प्रत्येक अवस्था में एक-न-एक मौद्रिक आदान-प्रदान होता है) अन्तिम उपभोक्ता के पास पहुँचता है। फिशर के सिद्धांतानुसार तो इन दोनों पदार्थों का उपभोग-मापदंड (Consumption Standard) की दृष्टि से समान महत्वांकन मिलेगा, लेकिन करेंसी-मापदंड की दृष्टि से प्रत्येक को पृथक महत्व प्रदान करेंगे। यही करेंसी स्टैन्डर्ड परिमाण-सिद्धांत का मूल आधार है। केन्स के विचार से मुद्रा की क्रय-शक्ति का निकट संबंध है उपभोग के मापदंड से जिसे ऊपर दर्शाया गया है कन्जम्पसन स्टैन्डर्ड मुद्रा की क्रय-शक्ति को ठीक तरह से समझा पाता है। यह अपनी नजर से स्टॉक एक्सचेन्ज था ट्रेजरी बिल्स के कारबार—आर्थिक विनिमयों—को हटा देता है। इस प्रकार के विनिमय करेंसी स्टैन्डर्ड के अन्तर्गत समाविष्ट किए जाते हैं। फिर, लार्ड केन्स का कथन है कि परिमाण सिद्धान्त केवल एक Identity या स्थिर समीकरण (Static Equation) को खड़ा कर देता है जिसमें मौद्रिक माध्यमों के साथ मुद्रा के बदले चीजों के उत्पादन का संबंध Correlation) स्थापित किया जाता है। इससे हमें यथेष्ट मदद नहीं मिल पाती। मौद्रिक सिद्धान्त की मौलिक समस्या यह पता लगाना है कि कैसे और क्यों कीमतों में

हेर-फेर होते हैं और इन मूल्य-परिवर्तनों में कौन-कौन तत्व सम्मिलित हैं। अगर हम इन चीजों की कुंजी (Clues) पा लें तब हम मूल्य-परिवर्तनों की क्रियाओं का एक गत्यात्मक विवरण प्राप्त कर लेंगे। इतना ही नहीं, अध्ययन का यह ढंग अधिक फलदायी और रचनात्मक होगा और हम मूल्य के परिवर्तनों के लिए स्वस्थ आर्थिक नीतियों का निर्माण कर सकेंगे। "In short, if we can discover the why and wherefore of the serious ups and downs of price-lvels, we shall naturally be able to make considerable progress towards finding the corrective for price-fluctuations. We would take a big step forward toward economic equilibrium which is the object of our quest"

केन्स इसी कारण अपने Fundamental Equations का प्रतिपादन करते हैं। सबसे पहले वे उपभोग की वस्तुओं के मूल्य-स्तर को अपने समक्ष रखते हैं, क्योंकि यह मुद्रा की क्रय-शक्ति से साम्य रखता है। बाद में वे अपने चित्र में समस्त उत्पादन के मूल्य-स्तर को तथा विनियोग वस्तुओं (Investment Goods) मूल्य-स्तर को भी आरोपित करते हैं। इन समीकरणों को समझने के लिये हमें लार्ड केन्स द्वारा ही कुछ आर्थिक शब्दों की परिभाषाओं को पहले जान लेना उत्तम होगा। वे शब्द हैं—आय, मुनाफा, बचत, पूँजी-योग। आय को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है—(अ) समाज की मौद्रिक आय (ब) उत्पादन के साधनों की कमाई (स) उत्पादन का व्यय। विशेषतया, आय में अग्रलिखित सम्मिलित हैं—(अ) वेतन और मजदूरियाँ (ब) उत्पादन के प्रवर्तकों का सामान्य पारिश्रमिक (स) पूँजी के ऊपर सूद (द) एकाधिकारगत लाभ, लगान, आदि। मुनाफा उत्पादन के प्रवर्तकों की वास्तविक कमाई और उनके खर्च का अन्तर है। खर्च उक्त कथित (अ), (ब),

(स) और (द) मन्दी पर करना पड़ता है। उत्पादन के प्रवर्तक का सामान्य पारिश्रमिक समाज की आय का एक भाग है मगर उसका लाभ उसमें शामिल नहीं किया जाता। मुनाफा अनिश्चित और अगण्य वस्तु है। बाद में केन्स मुनाफा के बदले Windfall शब्द रखते हैं। मुनाफा धनात्मक हो सकता है या ऋणात्मक। ऋणात्मक मुनाफा का अर्थ घटी से है। बचत से तात्पर्य उपभोग पर किये गये व्यय के बाद मौद्रिक आमदनी का जो भाग बच जाय उसीसे है। मुनाफा बचत में शामिल नहीं होता। लेकिन राष्ट्रीय आय की गणना करते समय हमें मुनाफा का भी ख्याल करना होगा। दूसरे शब्दों में किसी समाज की सम्पति की वृद्धि को बचत और मुनाफा दोनों के योगफल से निकाला जाता है। पूँजी-योग से मतलब किसी अवधि में सम्पूर्ण पूँजी में जो वृद्धि होती है उसके मूल्य से है। चालू पूँजी-योग के मूल्य में बचत और मुनाफा दोनों ही सम्मिलित है। इन्हीं परिभाषाओं के ऊपर केन्स के मौलिक समीकरण आश्रित हैं। इनमें बीजगणित का थोड़ा सहारा लिया गया है। नीचे बीजगणित-संबंधी कुछ चिह्नों को समझाया गया है जो इन समीकरणों में आये हैं।

E = किसी खास समय किसी समाज की सम्पूर्ण मौद्रिक आय या कमाई।

I′ = आमदनी का वह हिस्सा जो पूँजी-योग (Investment) की वस्तुओं के उत्पादन से अर्जित होता है। यह नये पूँजी-योग के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है।

E—I′ = उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन-व्यय। यह ऊपर के दोनों शब्दों से प्रतिभासित हो जाता है।

S = बचतें।

E—S = उपभोग की वस्तुओं पर आमदनी का चालू व्यय। यह स्वयं स्पष्ट है क्योंकि आमदनी में से बचतों को हटा देने पर उपभोग पर किया हुआ व्यय मालूम होता है।

O = उस समय में वस्तुओं और सेवाओं का सम्पूर्ण उत्पादन।

R = बाजार में क्रय के लिये उपलब्ध उपभोग की तरल (लिकीड) वस्तुओं और सेवाओं का भंडार।

C = उस समय में उत्पादित पूँजी-योग की वस्तुओं का भंडार इससे ज्ञात होता है कि $O = R + C$।

P = उपभोग कि वस्तुओं का मूल्य-स्तर।

P. R = उपभोग की वस्तुओं पर किया कुल चालू व्यय।

अगर प्रति कुर्सी दाम १० रुपया हो और १५ कुर्सियाँ खरीदी जायँ तो समूचा व्यय १०×१५ = १५० रु० हुआ। इसी तरह मूल्य-स्तर (P) को यदि उपभोग की वस्तुओं के सम्पूर्ण परिमाण (R) से गुणा करें तब हमें उपभोग की चीजों पर खर्च किये समूचे व्यय का पता लग जायगा।

$$I' = E \times \frac{C}{O}$$ ।

हम देख चुके हैं कि I′ नए पूँजी-योग के उत्पादन-व्यय के बराबर है। अतएव इसको इस तरह रख सकते हैं—$E \times \frac{C}{O}$ या $\frac{E}{O} \times C$। समूचे उत्पादन व्यय (E) को समूचे उत्पादन (O) से भाग देने पर हमें उत्पादन की प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का पता चलता है। यदि १० कुर्सियों का उत्पादन व्यय १०० रु० हैं और सम्पूर्ण उत्पादन १० कुर्सियों के बराबर है तब १०० रु० में १० से भाग देने पर हमें प्रति कुर्सी १० रु० दाम मिलता है। यदि प्रति इकाई व्यय को C से गुणा करें (यहाँ C पूँजी-योग की वस्तुओं का सम्पूर्ण भंडार) तो हमें पूँजी-योग की ऐसी वस्तुओं का सम्पूर्ण उत्पादन-व्यय प्राप्त होता है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि—

$$P.\ R = E - S$$ ।

इस समीकरण की शुद्धता स्वतः स्पष्ट है। P.R उपभोग की

वस्तुओं पर किया सम्पूर्ण चालू व्यय है । E—S (आमदनी—बचतें) उपभोग पर किए सम्पूर्ण व्यय के समान है । इस प्रकार दोनों परिमाण बराबर हैं । इसीलिए ऊपर का समीकरण दिया गया है ।

लेकिन,

$$P.R = \frac{E}{O}(R+C) - S$$

$$= \frac{E}{O}R + \frac{E}{O}C - S \because R \times C = O$$

$$= \frac{E}{O}R + 1' - S \because E \times C = 1'$$

ऐसा क्यों ? यह इसलिये कि R+C=O, इसलिए O, O को हटा देता है और जो कुछ बच जाता है वह है E−S । फिर $\frac{E}{O}C = 1'$ क्योंकि हम पीछे समझा चुके हैं ।

P. R. उपभोग की वस्तुओं पर खर्च किया हुआ व्यय की रकम है । लेकिन यह पता लगाना चाहते हैं कि वह कौन-सी शक्ति (फैक्टर) है जिसपर उपभोग की वस्तुओं का मूल्य-स्तर निर्भर करता है ।

$$P.R. = E - S$$

दोनों बगलों को R से विभाजित करने पर

$$P = \frac{E-S}{R} = \frac{E}{O} + \frac{1'-S}{R}$$

हम फिर मान सकते हैं कि W=मानवीय प्रयास की प्रति इकाई

कमाई की दर और w_1 = उत्पादन की प्रति इकाई कमाई की दर। उस दशा में ऊपर का समीकरण यों होगा—

$$P = w_1 + \frac{I' - S}{R}$$

यहाँ $\frac{E}{O}$ के बदले w_1 आया। यह बिलकुल ठीक है। E (सम्पूर्ण उत्पादन व्यय) में O (सम्पूर्ण उत्पादन) से भागा देने पर हमें उत्पादन की प्रति इकाई का उत्पादन-व्यय ज्ञात होता है। जैसा कि हमने मान लिया है, $\frac{E}{O}$ के बदले हम w_1 लिख सकते हैं।

केन्स के शब्दों में उनके समीकरण का निर्णय यह है—

"The Price-level of consumption goods which determines the purchasing power of Money is made up of two distinct terms—the first of which represents the level of efficiency-earnings i.e the cost of production, and the second of which is positive, zero, or negative, according as the cost of new investment exceeds, equals or falls short of the volume of current savings."

यही लार्ड केन्स के अनुसार मौद्रिक तथा बैंकिङ्ग नीति का मूल (kernel and essence) केन्स के ही शब्दों में—"It follows that the stability of the purchasing power of money involves the two conditions that efficiency-earnings should be constant and that the cost of new investment should be equal to the volume of current savings."

ऊपर हमने इस बात पर विचार किया है कि उपभोग-वस्तुओं का मूल्य-स्तर किस तरह निर्धारित होता है। हमें अब इस तथ्य पर विचार करना है कि पूँजी-योग की वस्तुओं का मूल्य स्तर किस तरह निर्धारित होता है। मान लीजिए P′ पूँजी-योग की वस्तुओं का मूल्य-स्तर है। II सम्पूर्ण उत्पादन का मूल्य-स्तर है, I उन वस्तुओं का मूल्य है और I उनका उत्पादन-व्यय है। C पूँजी-योग की वस्तुओं की सम्पूर्ण राशि है। तब $I = P'C$। समीकरण इस प्रकार का होगा—

$$II = \frac{P.\ R + P'C}{O}$$

इस समीकरण की सत्यता पर किसीको सन्देह नहीं हो सकता। P. R उपभोग-वस्तुओं का सम्पूर्ण मौद्रिक मूल्य है। P′C पूँजी-योग की वस्तुओं का सम्पूर्ण मुद्रागत मूल्य है। यदि दोनों को जोड़ दें तो उत्पादन का सम्पूर्ण मुद्रागत मूल्य हमें मिल जायगा। इस योगफल को अगर O से भाग दें तो हमें उत्पादन का मूल्य-स्तर अर्थात् प्रति इकाई दाम प्राप्त होगा। यह II के समान है।

चूँकि $P, R = I - S$

और $P'C = I$

हम उक्त समीकरण को इस तरह भी लिख सकते हैं—

$$II = \frac{E - S + I}{O}$$

बीजगणित के अनुसार

$$II = \frac{E}{O} + \frac{I - S}{O}$$

अगर उक्त वर्णित efficiency earning को हम लायें तो यह समीकरण यों होगा।

$$II = W_1 + \frac{I - S}{O}$$

इससे भी स्पष्ट है कि उत्पादन का मूल्य-स्तर दो तत्वों से बना हुआ है—Efficiency-earnings और Relationship between saveng and investment। यदि ये दोनों तत्त्व स्थिर हैं तब दृढ़ता (stability) भी रहेगी।

फिर सवाल पूछा जाता है कि इस दृढ़ता से विछुड़न कैसे हो जाता है ? जब तक संतुलन रहता है तब तक तो ये दोनों तत्त्व अबाधित रहते हैं। असंतुलन बचत और पूँजी-योग के बीच तफरका होने से पैदा होता है। यदि पूँजी-योग बचत से बढ़ जाता है तो कीमतों की बढ़ती होती है और मूल्य-स्तर में एक परिवर्तन हो जाता है। अगर पूँजी-योग से बचत बढ़ जाती है तब कीमतों के गिरने से मूल्य-स्तर में एक असंतुलन या बाधा उत्पन्न हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? केन्स के अनुसार यह "मुनाफा" का फैक्टर है जो इस तरह की गड़बड़ी पैदा करता है।

मुनाफा कैसे पैदा होता है ? उपभोग की वस्तुओं में मुनाफा इसलिए होता है कि उपभोक्ताओं से जितना विक्रय-मूल्य लिया जाता है वह उनके उत्पादन-व्यय से ज्यादा होता है। मान लीजिये कि इस तरह जो मुनाफा होता वह Q' है। मान लीजिये उपभोग की वस्तुओं की बिक्री से P. R. आय होती है और उनको तैयार करने का उत्पादन व्यय $\frac{E}{0} \times R$ है। अगर हम $\frac{E}{0} \times R$ को P. R से घटा दें

तो हमें उपभोग की वस्तुओं से प्राप्त मुनाफा की रकम मिल जायगी। इस समीकरण को यों लिखा जा सकता है—

$$Q_1 = P.R - \frac{E}{O} \cdot R = E - S - (E - I')$$

क्योंकि $P.R = E - S'$ यहाँ $E - 1'$ उपयोग की वस्तुओं के उत्पादन व्यय को सूचित करता है और वह $\frac{E}{O} \times R$ के सदृश ही है

वीजगणित लगाने पर,

$$Q_1 = I' - S$$ ।

जहाँ तक पूँजी-योगगत वस्तुओं से मिले मुनाफे का प्रश्न है उसे हम Q_2 मान सकते हैं। यह भी मुनाफा उत्पादन-व्यय और विक्रय-मूल्य की विभिन्नता से ही उपलब्ध होता है। इसलिये,

$$Q_1 = I - I'$$

दोनों तरहों से जो मुनाफा मिलता है उसे हम $Q\ (Q_1 + Q_2)$ मान सकते हैं।

चूँकि $Q_1 = I' - S$ और $Q_2 = I - I'$
इसलिये $Q = Q_1 - + Q_2 = I' - S + I - I'$
$= I - S$ ।

इस समीकरण से हमें पता चलता है कि उद्योग-प्रवर्तक चालू (लगे) पूँजी-योग के मुद्रागत मूल्य के अनुसार ही नफा या घटी उठाते हैं। यदि संतुलन की कामना है तो मुनाफा को एकदम हटा देना होगा। दूसरे शब्दों में Q_1, Q_2 और Q को शून्य के बराबर होना चाहिये। हम यहाँ लार्ड केनस के जरा विशद कथन को उद्धृत करने का लाभ संवृत्त नहीं कर सकते—"For if either Q_1 or Q_2 is not zero one class of entrepreneurs will have an incentive to expand their output; and if the total profits Q are not zero, the entrepreneurs will tend, so for as they can, to alter the total volume of empolyment which they offer to the factors of production at a given rate of remuneration—upwards or downwards, according as such profits are positive or negative. Thus w_1 and therefore P will be in a condition of disequilibrium, which will continue so long

as profits (whether Q_1[३] or Q_2) have not returned to zero." । फिर केन्स कहते हैं—"In equilibrium therefore both the value and the cost of current investment must be equal to the amount of current savings and profits must be zero; and in such circumstances the purchasing power of money and the price-level of output as a whole will both correspond to the money-rate of efficiency-earnings of the factors of production" ।

बचत और पूँजी-योग दोनों असंतुलन की समस्या की कुंजी हैं। अगर दोनों बराबर हों तो मुनाफा का कोई अंश नहीं रह जाय। उत्पादक भी उत्पादन की समस्त राशि ज्यों-की-त्यों रखेंगे। "Profit is essentially a symtom of the divergence between investment and saving" । अतएव एक स्थिर और सुदृढ़ क्रियात्मक नीति की जरूरत है जिससे इन दोनों के मध्य के विभेद का निराकरण किया जा सके।

अब जरा पूँजी-योगगत वस्तुओं के मूल्य-स्तर के ऊपर दृष्टिपात करें। पूँजी-योग एक आर्थिक कार्य है जो संग्रह-कार्य से संबंधित है। किसी अवधि में मनुष्य को एक खास आमदनी मिलती है। उसमें से वह कुछ बचाना चाहता है। जितना वह बचाना चाहता है उतना वह वर्तमान उपभोग पर खर्च करना नहीं चाहता। वह भविष्य में उतने का उपभोग करेगा। वह बचाए धन को या तो बैंक की धरोहरों के रूप में रख सकता है या प्रतिभूतियों के रूप में। मूलतः यह धन गाड़कर रखने और उसे किसी व्यवसाय में लगाने के बीच का सवाल है। आदमी दोनों में से कौन कार्य करेगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि किस कार्य से अधिक और किससे कम आमदनी उसे मिलेगी। इसके अतिरिक्त बैंकीय प्रणाली का

भी प्रभाव पूँजी-योग की वस्तुओं के मूल्य-स्तर पर पड़ता है। लोगों के भालूपन (Bearishness) के कारण कभी उनका मूल्य-स्तर अधोगामी हो जाता है। तब बैंक हस्तक्षेप कर उसे रोक सकता है। "The actual price-level of investments is the resultant of the sentiment of the public and the behaviour of the banking system"।

बैंकीय प्रणाली एक ऐसी नीति को अख्तियार कर सकती है जिससे बचतें और पूँजी-योग दोनों बराबर हो जा सकते हैं। दोनों में फर्क इसलिए पड़ता है कि दोनों के पीछे जिन शक्तियों का हाथ है वे विभिन्न हैं। बचत व्यक्तिगत उपभोक्ता का कार्य है जहाँ कि पूँजी-योग उद्योग-प्रवर्तक का कार्य है। कोई गारन्टी नहीं जिससे दोनों के निश्चय एक हो सकें। केन्स के शब्दों में ही—"When the increased investment represents an increase of working capital the act of saving is reqiured, it is true, immediately. But when there is a change-over in the character of production which would lead later on to an increased output of fixed capital, the additional saving is needed when the process of production is finished. This results from the duration of the process of production, whether of capital goods or of consumption goods.... Thus when the collective decisions of the entrepreneurs are of such a character that they will result in investment running ahead of saving at some later date, the results will not be apparent until this later date is actually reached when there will have been time for many reacti-

ons to have been set up winch cannot be immediately reversed" ।

पूँजी- संग्रह और पूँजी-योग के बीच अन्तर होने से व्यापार चक्र की पैदाइश होती है। Credit Cycle की परिभाषा लार्ड-केन्स ने इस तरह दी है—Credit Cycle means the alternations of excess and defect in the cost of investment over the volume of saving and the accompanying see-saw is the purchasing power of money due to these alterations" । बैंकीय प्रणाली बैंक-दर के माध्यम से व्यापार चक्रों को कुचल डाल सकती है और मूल्य-स्तर को पुनर्स्थापित कर सकती है। केन्स के शब्दों में आर्थिक नीति का सार यह है कि बैंकीय प्रणाली को, बैंक-दर को, इस तरह से व्यवहृत करना चाहिए जिससे सूद की दर में उस समय वृद्धि हो जब पूँजी-योग पूँजी-संग्रह को टपने की प्रवृत्ति दिखावे और सूद की दर में उस समय कमी की जाय जब पूँजी का संग्रह पूँजी-योग से आगे बढ़ जाय। जिस सूद की दर से दामों में संतुलन कायम होगा वह केन्स के मुताबिक प्राकृतिक दर है। विकसेल का भी यही कथन है। लेकिन बाजार में जो दर परिचलित रहती है वह बाजार की सूद-दर है। जब बाजार की सूद-दर और प्राकृतिक दर दोनों बराबर हो जाती हैं तब संतुलन स्थापित होता है। जब ये दोनों दरें विभिन्न होती हैं तब ही व्यवधान उद्भूत होता है।

बैंक-दर से केन्स का तात्पर्य सरकार के द्वारा घोषित केन्द्रीय बैंक की दर नहीं है। उनके अनुसार बैंक दर बाजारव्यापी लेन-देन की प्रभावोत्पादक दर है। यह कोई खास विशिष्ट (Specific) दर भी नहीं। यह बाजार अल्पकाल में प्रचलित सूद की दरों की समष्टि (Complex) है जिनपर ऋण का लेन-देन दीर्घकाल में सूद की जो दरें व्याप्त रहती हैं और जिनपर लेन-देन होता हैं उन्हें केन्स बोन्ड-रेट कहते हैं। बाजार की सूद-दर में बैंक-दर

और बोन्ड-दर दोनों सम्मिलित है। "The essence of the theory of Bank-Rate developed by Keynes is that a rise in the market rate of interest disturbs the balance between the value of investment and saving unless there is a corresponding rise in the natural rate"।

अब सोचना यह है कि पूँजी-योगगत् वस्तुओं में अधिकाशत: पूँजीगत चीजें (Capital Goods) आती हैं। पूँजीगत चीजों की माँग कैसे निर्धारित होती है ? उत्तर है—दो चीजों द्वारा :—(१) मुद्रा में अनुमानित स्थिर पूँजी से प्रत्याशित खालिस आय (२) वह सूद की दर जिसपर भावी आय पूँजीकृत (Capitalized) होती है। बैंक-रेट अपना असर बोन्ड-रेड के जरिए डालती है। जब बोन्ड-दर में बढ़ती होती है, क्योंकि बैंक-दर में वृद्धि हुई है तो उससे पूँजीगत वस्तुओं का वर्तमान मुद्रागत मूल्य घट जाता है और पूँजी-योग की वस्तुओं का मूल्य-स्तर कम हो जाता है। पूँजी का लगाना अवरुद्ध हो जाता है।

स्ट्रौङ्ग और स्टीवार्ट दोनों बैंकीय प्रणाली की इस सामर्थ्य में सन्देह करते हैं कि वह बैंक रेट को घटा-बढ़ाकर कीमतों का नियंत्रण कर सकती है। वे डरते हैं कि अधिक मुद्रा बाजार में भरते (Pump-priming) रहने से सट्टेबाजी बढ़ जा सकती है। लेकिन लार्ड केन्स का तर्क है कि यह गलत ख्यालात है। बैंक की प्रणाली के दो प्रमुख कार्य है :— (१) उत्पादकों को ऋण द्वारा Working Capital को प्रदान करना (२) साधनों की पूर्ति की दिशा का नियमन करना जो प्रतिभूतियों (सेक्यूरिटीज) के मूल्य को निर्धारित करती है। बैंक स्वयं प्रतिभूतियों को खरीद-बिक्री कर सकते हैं। वे लोगों की सट्टेबाजी में आर्थिक मदद पहुँचाते हैं। इस मदद को कम-बेश कर वे लोगों की सट्टेबाजी को नियंत्रित कर सकते

हैं। यह स्ट्रौङ्ग तथा स्टीवार्ट का आर्थिक आक्रोश (Financial bias) है जिससे वे सट्टेबाजी से इतना भय खाते दृष्टिगोचर होते हैं। केन्स आर्थिक ऋणों को देने में कोई हिचक नहीं चाहते। वे कहते हैं—"At any rate when we are considering the regulative powers and functions of the banking system, we must study its influence over the rate of investment in fixed capital at least as much as its influence over the rate of investment in working capital"।

लेकिन लार्ड केन्स भी यह मानते हैं कि बैंकीय प्रणाली निरपेक्ष रूप से कीमतों के स्तर का नियंत्रण नहीं कर सकती। उसकी क्षमता की भी सीमा है। वे मानते हैं कि स्थिरता (Stability) को बनाये रखना सहज है, स्थिरता को पुनर्स्थापित करना कठिन है। जब कोई परिस्थिति हाथ से निकल जाती है तब बैंक की प्रणाली के लिए जल्दी अचम्भापूर्वक काम करना कठिन हो जाता है। ऐसा हो सकता है कि गैर-मौद्रिक कारणों का भी हाथ आर्थिक गड़बड़ी में हो। तब तो स्थिरता का फिर से कायम करना टेढ़ी खीर ही साबित होता। तीसरी बात है कि जब निपुणता-मजदूरियों की मुद्रागत दरों में एकबारगी परिवर्तन सामाजिक या राजनैतिक शक्तियों द्वारा किये जाते हैं तब मूल्य-स्तर का नियंत्रण करना बैंक-प्रणाली के काबू के बाहर की बात हो जाती है। चतुर्थतः जब किसी देश की बैंक-प्रणाली किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप (जो खुद अस्थिर है) का पिछलगा हो जाती है तब उसके लिए घरेलू मूल्य-स्तर की स्थिरता बनाए रखना बहुत कठिन हो जाता है। इतना नहीं, हमें यह भी सोचना है कि भले ही बैंक-प्रणाली को इतनी शक्ति या अधिकार हो कि वह स्थिरता कायम रखे फिर भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपनी मर्जी से ही मूल्य-स्तर को बदल सकती है और बिना विलम्ब या संघर्षण के

वह एक नये स्तर पर संतुलन स्थापित कर सकती है। केन्स कहते हैं—The banking system's direct influence lies on the short-term rate of interest, but when it is a question of controlling the rate of interst which is important, how can we be sure that the long-term rate of interst would respond automatically to the changes in the short-term rate of interest ?" केन्स जबाब में कहते हैं—"As a rule, the influence of the short-term rate of interest is much greater than is usually supposed"। केन्स यह स्वीकार करते हैं कि बैंकीय प्रणाली पूँजी-योग की दर को बाखूबी काफी सफलता के साथ नियंत्रित करने में सफल नहीं हो सकी है, लेकिन उनका यह विश्वास है कि बैंकीय प्रणाली के हाथों में कुछ साधनों को सौंप दें तो काफी नियंत्रण किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक बाजार की अल्पकालीन सूद-दर को प्रभावित कर सकता है और उसके दीर्घकालीन सूद की दर को भी थोड़ी दूर तक प्रभावित कर सकता है। फिर, प्रत्येक मुद्रा-बाजार में थोड़े बहुत असंतुष्ट व्यक्ति रहते हैं जो बैंकों से ऋण लेना चाहते हैं। बैंकीय प्रणाली इन व्यक्तियों के ऊपर प्रभूत प्रभाव डाल सकती है और अपनी शर्तें—टर्म्स—मनवा सकती है। इतना ही नहीं, केन्द्रीय बैंक कर्ज देनेवाली संस्थाओं–Issuing Houses–के ऊपर अप्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकता है। वह खुले बाजार में भी प्रविष्ट होकर सट्टेबाजी पर अंकुश डाल सकता है। इससे "भालुओं" और "सांढ़ों" की करतूतों या हरकतों को रोका जा सकता है। इन दशाओं में बैंक की दर जादू-सा असर डालती है। (विशेष अध्ययन के लिए मेरे ग्रंथ "व्यावसायिक संगठन" में "सट्टेबाजी" शीर्षक अंश पढ़िए)

पिछले पृष्ठों में हमने फिशर के द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की आलोचना की है जो लार्ड केन्स के सिद्धान्त पर

आधारित है और हमने लार्ड केन्स के समीकरणों को भी निदर्शित किया है। उनमें दो सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है—(१)The "Real Balances" Quantity Equations (२) Rate of Interest and the Value of Money। फिशर ने मान लिया था कि मुद्रा के लिए माँग, मुद्रा के लिए जिन वस्तुओं की बिक्री होती है उससे उद्भूत होती है। लेकिन प्रो० मार्शल, प्रो० पीगू, लार्ड केन्स, आदि ने बतलाया है कि मुद्रा के लिए माँग लोगों द्वारा इसलिए होती है कि वह तैयार क्रय-शक्ति है जिससे उनका वैयक्तिक और व्यावसायिक खर्च चलता है और भविष्य की अप्रत्याशित आवश्यकताएँ भी बड़ी सुगमता से पूरी की जाती हैं। इन अर्थशास्त्रियों का मत है कि मुद्रा के लिए जो माँग होती है वह अप्रत्यक्ष (Indirect) होती है। मुद्रा मुद्रा के लिए नहीं चाही जाती है, बल्कि विनिमय के माध्यम के रूप में चाही जाती है। प्रो० माथुर के शब्दों में "It is just like a railway ticket which is not bought for the fun of holding it but as a means of reaching a certain destination"। समाज की वास्तविक आमदनी का कुछ भाग मुद्रा के रूप में रखा जाता है। यही बात मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने में सहायता पहुँचाती है।

कैम्ब्रिज समीकरण

(Cambridge Equation)

प्रो० मार्शल और पीगू ने पेटी, लॉक, कैनटीलोन और अदमस्मीथ के मतानुकूल एक समीकरण चलाया है जिसे "Cambridge Equation" कहते हैं और इससे मुद्रा के मूल्य का निर्धारण होता है। प्रो० क्रौथर ने अपनी पुस्तक में इस समीकरण का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। हम इन्हीं के आधार पर इस समीकरण का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

मान लीजिये R = किसी समाज की वास्तविक आय

K = R का वह भाग है जो मुद्रा के रूप में रखा जाता है

M = मुद्रा की इकाइयों की संख्या

इस तरह $M = K.\ R$

या प्रति इकाई मुद्रा का मूल्य $= \frac{K.\ R}{M}$

चूँकि मुद्रा का मूल्य कीमतों (P) के उल्टे (Inversely) बदलता है इसलिये,

$$\text{मूल्य तल} = \frac{M}{K.R}$$

मान लीजिये R = 100 मन (चावल)

$K = \frac{1}{2}$

M = Rs 500

तब एक रुपया की क्रय-शक्ति या मूल्य $= \frac{100 \times \frac{1}{2}}{500} = \frac{1}{10}$ मन चावल

या P (मूल्य-तल) $= \frac{500}{100 \times \frac{1}{2}}$ = Rs 10 प्रति मन (चावल) ।

कुछ अर्थशास्त्रवेत्ता इस समीकरण और फिशर के समीकरण में घनिष्ठ समता बतलाते हैं। दोनों समीकरण यों हैं—

$$M.V = P.T \quad \frac{M}{K} = P\ R$$

पहली स्पष्ट समता धोखा से पूर्ण है। P और P समान नहीं। P = उन सभी चीजों का मूल्य-तल जो मुद्रा के द्वारा कृत विनिमय में सम्मिलित होती हैं। P = उन चीजों के मूल्य का सूचक है जो समाज की वास्तविक आय के भाग हैं। फिर, R और T भी असमान हैं। लेकिन T में सभी तरह के औद्योगिक वाणिज्य और आर्थिक कृत कार्य आते हैं लेकिन R में वे ही चीजों आती हैं जिन्हें

समाज के सदस्य उपभोग करने के लिये या आनन्द लूटने के लिये मोल लेते हैं।

इन दोनों समीकरणों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि V और K एक दूसरे के विपरीत हैं। जब K बढ़ता है तब V गिरता है और जब V बढ़ाता है तब K गिरता है। जब K में बढ़ती होती है तब उसका मतलब यह होता है। कि लोग मुद्रा के कोष को जो वे अपने पास रखते हैं बढ़ाना चाहते हैं अथवा मुद्रा के लिये माँग बढ़ रही है। दूसरी दृष्टि से, K में बढ़ती का मानी होगा कि V में कमी होती है। इसका नतीजा वही होता है जो मुद्रा के मूल्य बढ़ने पर होता है। जो कुछ भी हो, मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त गलत है। एक तो यह मुद्रा के परिमाण पर ही सर्वाधिक जोर डालता है मानों वही आर्थिक परिवर्तनों का एकमात्र कारण हो। दूसरी बात यह है कि यह मान लेता है कि कीमतों में होनेवाले परिवर्तन ही आर्थिक जगत की सबसे प्रधान घटनाएँ हैं। यह मानना असंगत और मिथ्या है। क्रौथर के शब्दों में—"It is bad trade that causes low prices....not low prices that cause a low level of trade...........It would in reality be much nearer the truth to say that bad trade and low prices are equally the consequences of some common cause"। इन त्रुटियों के कारण "कैम्ब्रिज" समीकरण अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह व्यापार-चक्रों के आचरण को ठीक से समझाता है। यह बतलाता है कि मूल्य-तल में जो हेर-फेर होते हैं वे मुद्रा की पूर्ति में होने वाले मेकैनिकल परिवर्तनों के कारण नहीं होते हैं, बल्कि इसलिये होते हैं कि हमारी वे आदतें, जिनसे हम अपनी वास्तविक आमदनी के एक खास अंश को मुद्रा में रखते हैं, स्थिर नहीं रहतीं, बदलती रहती हैं। मुद्रा की माँग में बहुत परिवर्तन होते हैं। इनसे भी मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते हैं। मुद्रा के भ्रमण की गति

(V) में होनेवाले परिवर्तनों से मुद्रा के मूल्य में नहीं के बराबर परिवर्तन होता है। यह समीकरण किसी व्यापार-चक्र की घटनाओं की सुन्दर और संतोषजनक व्याख्या देता है। जब कीमत-तल अधोमुखी होता है तब लोग अपने पास अधिक तरल (लिक्वीड) मुद्रा रखने लगते हैं और जब कीमत तल उर्ध्वमुखी होता है, उसमें Revival शुरू होता है तब वे अपने पास कम तरल मुद्रा-कोष रखने लगते हैं। व्यापारिक धूम में K कम हो जाता है। व्यापारिक सुस्ती या मन्दी के तत्वावधान में K बढ़ जाता है।

हम एक पृथक अध्याय पूँजी-संग्रह और पूँजी-योग के ऊपर लिख चुके हैं और उसमें बतला चुके हैं कि कैसे इन दोनों की विभिन्नता के प्रतिफल व्यापारिक चक्र उत्पन्न होते हैं। "कैम्ब्रिज" समीकरण इस पक्ष से भी संबंधित है। इसलिए यहाँ उसके साथ उसका भी सारांश देना हम उचित समझते हैं। जब लोग अधिक बचाना चाहते हैं तब व्यापारिक मन्दी (Slump) आती है, कीमत-तल अधोमुखी हो जाता है। जब लोग अधिक पूँजी लगाने लगते हैं तब व्यापारिक धूम (Boom) शुरू होती है और कीमत-तल उर्ध्वमुखी हो जाता है। तब बैंकों को सूद की दर बढ़ा देनी पड़ती है और कम ऋण उधार देना पड़ता है। इससे व्यापारिक चक्र की उर्ध्वमुखी चाल (Upward Swing) रुक ही नहीं जाती है वरन् इससे व्यापार-चक्र की निम्न गति (Downward Swing) भी आरंभ हो जाती है। इससे तो लक्षित हो जाता है कि मुद्रा की पूर्ति का प्रभाव आर्थिक एवं व्यावसायिक कार्य-प्रणाली पर पड़ता है लेकिन जैसा कि प्रो० ब्रिजनारायण ने लिखा है "The quantity theory may be invoked to explain the beginning, the continuances and also the reversal of the upward swing. For easy money conditions invariably accompany recovering. and the stiffening of money-rates, or credit restriction, marks

the end of a process of expanding business activity." । लेकिन यह सिद्धान्त नहीं समझा पाता कि क्यों मन्दी की निकृष्टतम दशा पैदा हो जाती है। उस समय मुद्रा की राशि भ्रमण में कम रहती है, लेकिन यह स्वयं मन्दी या व्यापारिक अधोगति की उपज है, उसका कारण नहीं है। इस तरह पता चलता है कि व्यापार-चक्र कारण है और मूल्य-तल उसका कार्य या परिणाम है। बचतों और पूँजी-योगों के विभेद से कीमतों की वृद्धि या पतन होता है और वे संतुलन-तल (Equilibriaum level) से ऊपर या नीचे आ जाती हैं। लेकिन क्रौथर के अनुसार "The Equilibrium level itself is at least partly determined by the quantity of money in existence. The quantity theory of money explains, as it were, the average level of the sea, the savings and investment theory explains the violence of the tides."

—o:(–o:◌:o–):o—

एकविंशति अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

(The World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि के साथ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक भी कायम किया गया है। इस बैंक के उद्देश्य अग्र-लिखित हैं—(१) युद्ध से विनष्ट देशों का पुनरुत्थान (२) युद्धकालीन अर्थ-प्रणाली को शान्ति-कालीन अर्थ-प्रणाली में रूपान्तरित करना (३) अविकसित देशों का विकास करना। यह बैंक ऋणों की जोखिमों को सभी देशों में विभाजित करना चाहता है जिससे विश्व-सहयोग की भावना बढ़ सके। यह कर्ज के इच्छुक देशों को कम सूद की दर पर कर्ज दिलाना चाहता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी-योग और पूँजी-संचय में होनेवाले अन्तर को मिटाना चाहता है।

इस बैंक के पास काफी साधन प्रस्तुत है। इसकी अधिकृत पूँजी १० बिलियन डालर है। यह १ लाख शेयरों में बाँटी गई है। प्रत्येक शेयर का मूल्य १ लाख डालर है।

बैंक तीन रूपों में ऋण दे सकेगा—(१) अपनी निधि से (२) व्यक्तिगत ऋणों को गारन्टी देकर (३) दूसरों के लिए स्वयं यह किसी संस्था से कर्ज ले सकता है। दूसरी सूरत उस समय उपस्थित होगी जब कोई संस्था किसी को कर्ज देना नहीं चाहती और कर्ज देने के लिए बैंक की गारन्टी चाहती है। तीसरी सूरत में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को जो आमदनी होगी उसे बैंक कर्ज लेनेवाले देश को वापस कर देगा। यदि कोई देश युद्ध के दुष्परिणामों से छुटकारा पाने के वास्ते

लिए कर्ज को ठीक समय पर लौटा नहीं सकता तो बैंक उस कर्ज को शान्तिकालीन कर्ज में परिणत कर सकता है।

बैंक किसी देश को खुद कर्ज या कर्ज पर गारन्टी देने के पहले पूरी जाँच-पड़ताल कर लेगा कि इस कार्य में कोई धोखा या जोखिम तो नहीं है। वह एक जाँच-समिति कायम करेगा और यह जाँच-समिति अपनी रिपोर्ट देगी। बैंक को पुनर्निमाण और विकास की योजनाओं के लिए कर्ज बैंक से मिल सकता है।

बैंक कर्ज लेने वाले देश के ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण इस बात पर नहीं रखेगा कि वह कर्ज को किस रूप में खर्च कर रहा है। देश के ऊपर आन्तरिक नियंत्रण नहीं रहेगा। एक शर्त जरूर रहेगी। वह यह कि कर्ज से जो आय किसी देश को होगी उस आय को भी प्रारंभिक योजनाओं में खर्च करना पड़ेगा। बैंक किसी देश को आवश्यक मुद्रा (किसी देश की) दिलाने में सहायता कर सकता है। गारन्टी किए कर्ज या अप्रत्यत्त कर्ज उसी मुद्रा में दिलाया जायगा जिस मुद्रा की जरूरत किसी देश को है। लेकिन एक बात है। बैंक प्रत्यत्त और अप्रत्यत्त ऋण उतनी ही रकम में दिला सकता है जितनी रकम की उसकी प्रदत्त (Subscribed) पूँजी और संग्रहीत कोष है। बैंक का दायित्व उसके पावने से अधिक नहीं होना चाहिए। इसलिए बैंक कर्ज देते-दिलाते समय प्रथम-कोटि की प्रतिभूतियों की माँग पेश करेगा तथा उसकी पूर्ति होने पर ही कर्ज मिलने की संभावना रहेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के संविधान पर दिवंगत विभूति लार्ड केन्स की अमिट छाप है। लार्ड केन्स ने इस बैंक के आविर्भाव के पूर्व ऋण की जोखिमों को विस्तारित करने का मन्तव्य प्रकट किया था। युद्धोत्तर काल में ऋणों की अनिश्चयता बहुत बढ़ गई है। कर्ज देने वाले सशंकित हो गए हैं। कर्ज के डूबने की सारी आशंका उन्हीं के मत्थे मढ़ नहीं दी जा सकती। उनके द्वारा दिए कर्जों के वापस

मिलने की गारन्टी मिलनी चाहिए। उसी तरह कर्ज लेनेवालों पर सभी बोझ डालना भी ठीक नहीं। जोखिमों का वहन प्रत्येक देश को अपनी योग्यता के अनुसार करना चाहिए। कर्ज के संबंध में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की—जिम्मेदारी रहनी चाहिये। इस तरह की भावना से विश्व-एकता और विश्व-सहयोग पल्लवित हो सकेगा। सभी देश उत्कर्ष कर सकें इसके लिए जोखिमों का वितरण अनिवार्य है।

जब बैंक दूसरों के द्वारा दिये कर्जों को अपनी गारन्टी देता है तब वह खुद कुछ घाटा उठाने नहीं जाता। उसे समुचित कमीशन मिलता है। अपने पास से दिये कर्ज पर उसे १ से लेकर १½ प्रतिशत सूद मिलेगा। १० वर्षों तक यही दर रहेगी। इस तरह सूद और कमीशन से जो वार्षिक आय होगी उससे बैंक अपना खर्च-वर्च चला लेगा।

इस बैंक की स्थापना से कर्ज लेनेवालों को भी फायदा हुआ है और इस बैंक को भी। कर्ज लेकर कोई देश अपना पुनर्निर्माण और विकास करेगा। इससे काफी रोजी उस देश को मिल सकेगी। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ जायेंगी। उसके अधिवासियों की क्रय-शक्ति भी पहले से अधिक होगी। नए बाजार खुलेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रवाह बढ़ेगा। विश्व की अर्थप्रणाली को भी लाभ पहुँचेगा। किसी देश के उत्पादन का बढ़ना आन्तरिक तथा वाह्य पूर्णता की कुंजी है। उत्पादन के दो ध्येय होते हैं—(१) आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना (२) बचे धन का निर्यात करना। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से दोनों ध्येयों की पूर्ति होगी। विश्व की अवशिष्ट पूँजी अच्छी तरह व्यवहृत होगी। उसे उचित पारिश्रमिक मिल सकेगा। मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों का संगठित उपभोग होगा।

अपनी तृतीय वर्ष की रिपोर्ट में बैंक के ८ करोड़ डालर यूरोपीय राष्ट्रों को कर्ज देने की चर्चा थी। द्वितीय वर्ष की रिपोर्ट में फ्रांस

और निदरलैंडस को ४४·५ करोड़ देने की बात थी। लेकिन चतुर्थ वर्ष के आरंभ के साथ एशियाई और अफ्रिकन देशों को भी कुछ ऋण मिले, क्योंकि इनको विदेशी सहायता की बड़ी जरूरत थी।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की नीति अपने ऋणों को लाभप्रद कार्यों में प्रवृत्त करना है। इसका विश्वास है कि किसी देश का आर्थिक उत्थान अनियंत्रित ढंग से दिये ऋणों से नहीं, बल्कि सुचारु रूप से दिये ऋणों से हो सकता है। सहयोग-भावना परम आवश्यक वस्तु है। बैंक चाहता है कि जो देश कर्ज ले वह अपनी योजना प्रस्तुत करे कि वह कर्ज लेकर क्या करना चाहता है? अगर कर्ज देना निरापद नहीं तो उसकी सुरक्षा के लिये शर्तें रखनी होंगी।

बैंक का विचार है कि कोई देश कर्ज लेकर उसे खा-पी नहीं जाय बल्कि अपने यहाँ शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करके टेकनिसियनों को तैयार करे। इसके लिये वह विदेश से चतुर शिक्षक टेकनिसियनों को बुला सकता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि टेकनिकल और मैनेजेरियल चतुरता का विश्व-व्यापी वितरण हो सकेगा।

बैंक को डालर की यथेष्ट पूर्ति नहीं। इसलिये उसे कई अवसरों पर पीछे पैर खिंचना पड़ता है। अभी तक इसने अपना अधिकांश कर्ज यूरोपीय देशों को ही दिया है। भारत को यथोचित आर्थिक सहायता नहीं मिल सकी है। लेकिन भारत ही बैंक की सफलता की सच्ची कसौटी (Acid Test) है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की कटु आलोचना हुई है। कहा जाता है कि यह बैंक Anti-creditor और Pro-debtor है। इसका कारण यह है कि कुछ ही देश कर्ज देने के लिये तैयार होंगे लेकिन ऐसे बहुत से देश हैं जो कर्ज लेने के लिये उत्सुक हैं और ऐसी हालत में बैंक को इन थोड़े कर्ज देनेवालों का पक्ष लेना होगा। इसकी दूसरी आलोचना है कि कोई व्यक्तिगत संस्था कम खर्च में वही काम कर सकती है जोयह बैंक करता है। लेकिन इस आलोचना मे जान नहीं है। व्यक्तिगत संस्था अधिक चार्ज करेगी और भारी जोखिमों के कार्य

करना नहीं चाहेगी। जहाँ तक निपुणता का सवाल है, बैंक किसी व्यक्तिगत संस्था से कम निपुण नहीं। यह भी कहा जाता है कि यह बैंक पक्षपाती है और केवल यूरोप की ही मदद करता है। इस आलोचना में सार है। हम इसे इन्कार नहीं कर सकते। लेकिन गत वर्ष से बैंक का ध्यान एशिया और अफ्रिका के देशों के उद्धार की ओर भी गया है और यह एक आशावर्द्धक विकास है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं और दोनों १६४६ से काम कर रहे हैं। दोनों बहुविध व्यापार (Multilateral Trade) को प्रोत्साहित करने, युद्ध से तबाह देशों का पुनर्निमाण करने के लिये कायम हुए हैं। दोनों का शासन एक बोर्ड के द्वारा होता है जिसके १२ निर्देशक हैं। दोनों को अपने सदस्यों की आर्थिक अवस्था की जाँच-पड़ताल करने का अधिकार है। अगर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि विनिमय-साम्य-कोष का विश्वव्यापी रूप है तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक प्रो० हेनसेन के शब्दों में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के फेडरल हाउसिंग एडमिनिस्ट्रेशन का व्यापक रूप है।

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि अल्पकालीन कर्ज ही देगी। दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को दीर्घकालीन ऋण देने का अधिकार है। पहली संस्था विनिमय की स्थिरता के लिये, दूसरी संस्था आर्थिक प्रणाली के उन्नयन के लिये काम करेगी। कहना नहीं होगा कि आज के संतप्त विश्व के लिये दोनों की आवश्यकता है।

समाप्त

BIBLIOGRAPHY

1. Robertson—Money
2. Keynes—Treatise on Money (vols-I & II)
3. „ —Monetary Tract
4. „ —General Theory
5. Harris—New Economics
6. Dillard—Lord Keynes
7. Crowther—Outline of Money
8. Coulborn—Money
9. Cole—Money : Its Present and Future
10. Meade—Economic Analysis and Policy
11. Chandler—Monetary Theory
12. Hansen— „
13. Halm— „
14. Sayers—Modern Banking
15. De Kock—Central Banking
16. Kisch & Elkin—Central Banking
17. Hawtrey—A Century of Bank-Rate
18. Gregory—Gold Standard
19. Hawtrey— „
20. Fisher—The Purchasing Power of Money
21. Hawtrey—Brettonwoods : For Better or Worse ?
22. Lindahl—Money & Capital
23. Myrdal—Monetary Equilibrium

Hayek—Prices & Production

25. Sayers—American Banking System
26. H. P. Wills—Working of the Federal Reserve System
27. Robertson—Banking Policy and the Price-Level
28. Pigou—The Veil of Money
29. „ —Memoirs of Alfred Marshall
30. Roll—About Money
31. Curtis and Townshed—Modern Money
32. Cole—What Everybody wants to know about Money ?
33. Mises—Theory of Money & Credit
34. Benham—Economics
35. Jevons—Money & Mechanism of Exchange
36. Laughlin—Principles of Money
37. Vakil & Muranjun—Currency & Prices in India
38. Foster & Catchings—Money
39. Dr. Malhotra–The Monetary History of India
40. Prof. Brignarain—Money & Banking
41. Kemmerer—Money
42. „ —A. B. C. of Inflation
43. Wiadia & Joshi—Money & Money Market in India
44. Todd— Mechanism of Foreign Exchange
45. Beyen—Money in Malestorm

46. B. C. Ghosh—Introduction to Banking
47. Basu—Recent Developments in Banking
48. Cannan—Money
49. Dadachandjee—Monetary System of India
50. Davar—Law and Practice of Banking
51. Gadgil—Outline of Monetory Theory
52. Jain—Monetary Problems of India
53. Lalwani—Introduction to Banking
54. Leff & Sykes—Banking
55. Mackenzi-Banking Systems of Four countries
56. Matheu—Money, Exchange & Banking
57. Minty—English Banking Methods
58. Patterson, Cawthorne & lehman—Money & Banking
59. Reid—Money & Organisation
60. Robertson—Essay on Monetary Theories
61. Rao—An Outline of Indian Banking System
62. Tewari—Money : An Analytical Study
63. Thorne—Banking
64. Thomas & Megrah—Princeples of Banking
65. I. L. O.—International Currency Experience
66. Whitters—Meaning of Money
67. W. H. John—Postwar Monetary Plans
68. Reports of I. M. F.
69. Hawtry—Monetary Reconstruction
70. Heilperin—International Monetary Economics

71. B. Nagaro—Modern Monetary Systems
72. The Search Light (Issues of)
73. The Spark (Do)
74. The Modern Review .(Do)
75. The Indian Journal of Economics (Do)
76. Muranjan—Modern Banking in India
77. Economic Review (Calcutta)

पत्रों के आधार पर इसका निर्माण हुआ है। मई, १९५१ तक प्रकाशित अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के ऊपर हिन्दी और विशेषकर अँग्रेजी में ऐसी कोई पुस्तक नहीं होगी जिसका उल्लेख आपको इसमें न मिले। प्रो० हिक्स के "Social Framework" और प्रो० पीगू के "Income" ग्रन्थ से लेकर प्रो० बॉलडिङ्ग के "Economic Analysis" और प्रो० स्टीगलर के "Theory of Price" की विशद चर्चा ७५० पृष्ठों तथा ६० रेखाचित्रों की इस अतीव सुन्दर सजिल्द पुस्तक में आप पायेंगे। पुस्तक ताजी पाव-रोटी की तरह बिक रही है। अभी मोल नहीं लेने से पीछे निराश हो कुछ समय के लिए ठहरना पड़ेगा। जिन स्थलों या अंशों में ताराचिह्न दिये गये हैं उन्हें इन्टरमीडिएट के छात्रों को नहीं पढ़ना है।

मूल्य १०) मात्र
(सजिल्द)

(२) नागरिकशास्त्र (Civics)

(नागरिक और राज्य)

नागरिकशास्त्र पर लिखी यह पुस्तक अनुपम है। इसमें नागरिक और राजनीतिक समस्याओं का जैसा सागोपांग विश्लेषण हुआ है वैसा सुन्दर विश्लेषण आपको अन्यत्र किसी और पुस्तक में (चाहे हिन्दी या अँगरेजी) में नहीं मिलेगा। विषयों का सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त सरल, सरस और हृदयग्राही भाषा-शैली में किया गया है। इसकी अद्वितीय विशेषता यह है कि इसका प्रत्येक अध्याय वर्तमान भारतीय गणतांत्रिक संविधान की पृष्ठभूमि में लिखा गया है और उसमें भारत के १९३५ के संविधान तथा अन्यान्य देशों के संविधानों का तुलनात्मक आभास जगह-जगह दिया गया है। इसका एक-एक पृष्ठ अमूल्य और पठनीय है। इसमें २७ अध्याय और रॉयल साईज सोलह पेजी आकार के ५३० पृष्ठ हैं।

अध्यायों के शीर्षक ये हैं—मनुष्य की विचित्र प्रकृति, वफादारियों (Loyalities) के सामंजस्य का प्रश्न, नागरिकशास्त्र-एक अध्ययन,

समाज और व्यक्ति, समुदाय, परिवार, अधिकार और कर्त्तव्य, नागरिकता, राज्य, राज्यसत्ता, राज्य की उत्पत्ति, राज्य के कार्य, समाजवादी दुनिया के आगे, राज्याधिकारों का विभाजन, राज्य का संविधान, राज्य के भेद, व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी, कोई सरकार असफल क्यों होती है, न्याय-विभाग, राजनैतिक दल, जनमत, निर्वाचक दल, अधिपत्य, स्वतंत्रता और समानता, राष्ट्रीयता बनाम अन्तर्राष्ट्रीयता, भारतीय ग्रामों का पुनर्निर्माण तथा भारतीय गणतंत्र का शासन-विधान। विशेषत: पटना विश्वविद्यालय और सामान्यत: अन्य विश्वविद्यालयों की इन्टरमीडिएट परीक्षाओं में दिया गया कोई ऐसा प्रश्न न होगा जिसकी विशद व्याख्या इस पुस्तक में आपको न मिले। यह ग्रन्थ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिये पाठनीय है।

केवल इसी एक ग्रन्थ से नागरिकशास्त्र *(CIVICS)* विषय के दोनों पत्रों (सिद्धान्त तथा भारतीय शासन-विधान) का काम चल जायगा। इसका 'राज्य' शीर्षक भाग काफी विस्तार के साथ लिखा गया है और उसमें कुछ ऐसे अंश हैं जिन्हें बी० ए० राजनीति *(POLITICS)* के छात्र भी पढ़कर यथेष्ठ लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक गरम पावरोटियों की तरह बिक रही है। आज ही अपना आर्डर हमें भेजें वा अपने सन्निकट पुस्तक-बिक्रेता को ही दे डालें।

(३) व्यावसायिक संगठन (Business Organisation)
(४) मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र (Money and Banking)
(५) सार्वजनिक अर्थनीति (Public Finance)
(६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वैदेशिक विनिमय (International Trade and Foreign Exchange)
(७) आधुनिक अर्थशास्त्र (प्रयुज्य पत्र)
(८) सार्वजनीक अर्थशास्त्र (Public Economics)—प्रेस में
(९) भारत की आर्थिक समस्यायें (भारतीय अर्थशास्त्र)—प्रेस में
(१०) सामान्य नागरिकशास्त्र (मैट्रिक के लिए)
(११) भारत का आर्थिक इतिहास—अपूर्ण

———